संस्कृत-कवियों के व्यक्तित्व का विकास

(वाल्मीकि से पण्डितराज जगन्नाथ तक)

डा० राधावल्लभ त्रिपाठी
संस्कृत विभाग,
सागर विश्वविद्यालय

प्रकाशक
संस्कृत परिषद्, सागर विश्वविद्यालय
सागर (म० प्र०)

प्रथम संस्करण १९७६

सर्वाधिकार लेखक के अधीन

मूल्य २५/= पच्चीस रुपया

मुद्रक:

रमापति प्रेस

जंगमबाड़ी, वाराणसी।

भूमिका

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, प्रोफेसर

संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय

संस्कृत विभाग के मेधावी प्रभविष्णु सहयोगी डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी का ग्रन्थ "संस्कृत कवियो के व्यक्तित्व का विकास" अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण रचना है। इतिहास के अनिर्णायक ऊहापोहो से उभर कर संस्कृत कवि के मानस के विविध पक्षों के सैद्धान्तिक और साहित्यगत विवेचन की माँग अरविन्द घोष आदि ने प्रस्तुत कर दी थी, पर उसका व्यापक और तलस्पर्शी विवेचन शेष था। इस नाम पर जो कुछ प्रयत्न हुए, वे या तो पिष्टपेषण मे उलझ गये या फिर इतिहास, किंवदन्तियो और मिथको के वात्याचक्र मे फंस गये। कविहृदय को लेकर नवीन आयामों के संदर्भ मे ताजगी के साथ साहित्य का आलेखन और आस्वादन अधिक नही हो सका। फलत: कवि के निजी व्यक्तित्व की परतें हर युग के समस्त परिवेश मे अनखुली रह गई। और साथ ही सनातन की आस्था मे युग और कवि का अपनापन अनजाना रह गया। संस्कृत कवि के काव्य मे शाश्वत के साथ उसके जीवन का क्षण खो जाने से या पहिचान न पाने से संस्कृत साहित्य का बोध सनातन का सौन्दर्य भले लगे, पर उसमे देश और काल का जो सत्य निहित है, उसे न पहिचानने से हर कवि एक जैसा लगने लगा। इससे बढकर किसी कवि के साथ अन्याय नही हो सकता कि उसके व्यक्तित्व को समानता और सनातनता के आदर्श में भुला दिया जाये। इसी अन्याय का प्रतीकार डॉ० त्रिपाठी के प्रस्तुत शोध प्रबंध का विषय है।

कवि-व्यक्तित्व के विविध पक्षो की सैद्धान्तिक विवेचना से ग्रन्थ का प्रारम्भ होता है जो वेद, रामायण, महाभारत के आर्ष कवियो भास, कालिदास, अश्वघोष जैसे नागर संस्कृति के कवियो तथा बाणभट्ट, हर्षदेव, भारवि, विशाखदत्त, भर्तृहरि, भवभूति, राजशेखर, क्षेमेन्द्र, बिल्हण, कल्हण जैसे मध्ययुगीन कवियो तथा नीलकण्ठ दीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ जैसे उत्तरमध्ययुगीन कवियो की पृष्ठभूमि, आस्था एव रुचि, व्युत्पत्ति, संवेदना, कल्पना, सौन्दर्य-चेतना और आदर्शों का सागोपांग विवेचन करते हुये कविव्यक्तित्व का वास्तविक अध्ययन एवं अनुसंधान प्रस्तुत करता है। इसी के परिणामस्वरूप भास के सामती वातावरण से निर्लिप्त व्यक्तित्व का और भारवि की

प्रबुद्ध चेतना का पता चलता है, जो विलासिता के प्रति विद्रोह करनेके लिए अर्जुन को अपना आदर्श प्रतीक चुनती है। बाण भट्ट मे स्वाभिमान, आभिजात्य, परिष्कृत रुचि, उर्वर कल्पना तथा साहित्यिक सवेदना के उत्कर्ष का; भर्तृहरि के शृंगार और वैराग्य में उलझाव का, बिल्हण के व्यक्तित्व मे अतिशयता के अतिरेक का, कल्हण की पैनी यथार्थवादी दृष्टि का, अनेक परम्पराओ को स्वीकार करने वाले भवभूति की स्वतंत्र कवि-चेतना का तथा नीलकण्ठ दीक्षित के अनुकरण से दूर, सुलझे और व्यापक व्यक्तित्व का जो उद्घाटन श्री त्रिपाठी ने किया है, वह उनकी प्रतिभा और व्युत्पत्ति का तो पर्याप्त परिचायक है ही, साथ ही साहित्य को नये सिरे से परखने की अपेक्षा को भी रेखांकित करता है। तरुण साहित्यकार द्वारा 'पुराण' का मूल्याकन मुझे कई मानो मे सार्थक लगा है।

डॉ० त्रिपाठी अभी तक अपनी अनेक रचनाएं प्रकाशित कर चुके है। उनके जैसे प्रतिभाशील एवं अध्यवसायी लेखक सस्कृत को मिलते रहे तो मुझे विश्वास है सुरभारती का जीर्णोद्धार होता रहेगा और नई दृष्टि की प्राण-प्रतिष्ठा भी होती रहेगी।

डॉ० त्रिपाठी के इस ग्रन्थ का समग्र सस्कृत जगत् मे स्वागत होगा, इसका मुझे विश्वास है, साथ ही यह भी कि उनके यशस्वी लेखन से संस्कृत का वर्चस्व बढता रहेगा।

रामचन्द्र द्विवेदी

विषय-सूची

भूमिका—रामचन्द्र द्विवेदी

निवेदन— १-४

विषय-प्रवेश : सिद्धान्त और अध्ययन की दिशाएं १५-

प्रथम अध्याय : वाल्मीकि १-२६

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि —१, सामाजिक दशा—१, शिक्षा—२, धार्मिक स्थिति—३ कला—३, साहित्यिक परम्परा तथा प्रेरणास्रोत—४, वाल्मीकि का प्रेरणास्रोत—८, समसामयिक परिवेश—वाल्मीकि की प्रतिक्रिया और सग्रहण—६, आभिजात्य तथा जीवन—६, मान्यताए तथा आदर्श—१०, प्रेम, नारी तथा विवाह के सम्बन्ध मे—१२, जीवन के प्रति दृष्टिकोण—१७, अध्ययन तथा पर्यवेक्षण—१७, सासारिक ज्ञान—१८, पाण्डित्य—१८, प्रकृति–पर्यवेक्षण—१६, काव्यप्रतिभा—२०, सवेदना—२३ सौन्दर्य-दृष्टि—२५ निष्कर्ष—२६ ।

द्वितीय अध्याय : भास २७-४५

सांस्कृतिक परिवेश—२७, आर्थिक स्थिति, धार्मिक स्थिति, शिल्पकला, साहित्यिक परम्परा और प्रेरणास्रोत—२८, भास का जीवन—३०, मान्यताएं और आदर्श—३१, प्रेम के सम्बन्ध मे—३२, धार्मिक विश्वास और मान्यताएं—३३, रुचि—३५, जीवन के प्रति दृष्टिकोण—३७, बौद्धिक व्यक्तित्व–पांडित्य, अध्ययन तथा पर्यवेक्षण—३८, व्यावहारिक ज्ञान—३६; काव्य-प्रतिभा—४०, सौन्दर्य चेतना—४३, उपसंहार—४५।

तृतीय अध्याय : अश्वघोष

समकालीन परिस्थितियाँ—४६, कवि का आभिजात्य तथा जीवन—४७, मान्यताए—४६, आदर्श—५१, स्वभाव—५२, पांडित्य—५४, पर्यवेक्षण—५५, काव्य-प्रतिभा—५५, संवेदना, सौन्दर्य बोध—५७।

चतुर्थ अध्याय : कालिदास ५६-८८

सास्कृतिक पृष्ठभूमि—५६, सामाजिक दशा, राजनीतिक दशा—६१ आर्थिक स्थिति—६१, धार्मिक स्थिति—६२, बौद्धिक तथा शैक्षणिक वातावरण—६२, शिल्प

तथा कला—६३, साहित्यिक परम्परा तथा प्रेरणास्रोत—६३, परिवेश-संग्रहण—६६, जीवन—६८, मान्यताए—६६, काव्य और कला के सम्बन्ध मे—६६, विवाह के सम्बन्ध मे—७१, नारी के सम्बन्ध मे—७१, दार्शनिक तथा धार्मिक मान्यताएं—७२, आदर्श—७४, जीवन के प्रति दृष्टिकोण—७६, रुचि—८०, स्वभाव—८०, बौद्धिक व्यक्तित्व—८२, काव्य-प्रतिभा—८२, सवेदना—८४, सौन्दर्य बोध—८६, उपसंहार ८७।

द्वितीय खण्ड : मध्ययुग के कवि

प्रथम अध्याय – सास्कृतिक पृष्ठभूमि ९१-१०५,

राजनीतिक स्थिति—९१, धार्मिक-दार्शनिक प्रवृत्तिया—९२, सामाजिक स्थिति—९४, कला—९५, शिक्षा और अध्ययन—९६, साहित्यिक परम्परा—९८, राजाओ का योग दान—९९, कवियो पर परिवेश का प्रभाव—१०२।

द्वितीय अध्याय : बाण और श्रीहर्ष : १०६--१४१

बाण : आभिजात्य तथा जीवन—१०६, वेश—१०९, मान्यताएं-काव्य के सम्बन्ध मे—११०, शिक्षा के सम्बन्ध मे—१११, नारी के सम्बन्ध मे—१११, आदर्श—११३, आस्था—११६, स्वभाव—११७ पाण्डित्य—११९, पर्यवेक्षण—१२०, सवेदना—१२१, काव्यप्रतिभा-कल्पना—१२२, सवेदना, सौन्दर्य बोध—१२६, उपसंहार—१२७।

हर्ष : आभिजात्य—१२९, जीवन—१२९, प्रशासक-व्यक्तित्व—१३१; शारीरिक रूप—१३२, स्वभाव—१३३, आदर्श—१३४, अभिरुचि—१३५, जीवन के प्रति दृष्टिकोण—१३६, बौद्धिक व्यक्तित्व—१३८, काव्य प्रतिभा—१३९, कल्पना संवेदना—१३९, सौन्दर्यदृष्टि—१४० उपसंहार—१४०।

तृतीय अध्याय : भारवि और माघ १४२-१६७

भारवि : जीवन—१४२, मान्यताएं, काव्य के सम्बन्ध मे—१४३, नैतिक मान्यताएं तथा आदर्श, राजनीतिक मान्यताएं—१४१, जीवन दर्शन-१४८, स्वभाव-१५०, पाण्डित्य, पर्यवेक्षण-१५१, प्रतिभा, कल्पना-१५२, सौन्दर्यबोध-१५४, उपसहार-१५५।

माघ : पृष्ठभूमि—१५७, मान्यताएं तथा आदर्श काव्य के सम्बन्ध मे—१५९, आदर्श तथा नैतिक मान्यताएं—१६०, आस्था—१६०, स्वभाव—१६१, पाण्डित्य—१६२, पर्यवेक्षण—१६२, प्रतिभा : कल्पना—१६४, संवेदना, सौन्दर्यबोध—१६५, मूल्यांकन—१६६।

चतुर्थ अध्याय : विशाखदत्त और दण्डी १६८–१८२

विशाखदत्त : आभिजात्य तथा जीवन–१६८, नैतिक मान्यताए तथा आदर्श–१६६, आस्था –१७१, स्वभाव–१७१, पाण्डित्य और पर्यवेक्षण—१७२, प्रतिभा—१७२, सवेदना—१७३, सौन्दर्यदृष्टि—१७५, उपसंहार—१७६ ।

दण्डी : आभिजात्य तथा जीवन –१७६, दृष्टिकोण तथा मान्यताएं—१७७, आस्था—१७६, पर्यवेक्षण—१८०, प्रतिभा, कल्पना, सवेदना, सौन्दर्यबोध—१८०, उपसहार– १८१ ।

पंचम अध्याय : भवभूति और भर्तृहरि १८३–२०६

भवभूति : आभिजात्य और जीवन—१८३, आस्था—१८५, दृष्टिकोण तथा आदर्श—१८६, काव्यदर्शन—१८६, नारी के सम्बन्ध मे—१८७, प्रेमदर्शन—१८८, प्रकृतिदर्शन—१६१, आदर्शगुण तथा नैतिक मान्यताए—१६१, स्वभाव—१६२, रुचि—१६५, पाण्डित्य—१६५, पर्यवेक्षण—१६६, प्रतिभा—१६८, संवेदना और भावबोध—१६६, सौन्दर्यबोध—२००, उपसहार—२०२ ।

भर्तृहरि : जीवन—२०२, मान्यताए तथा दृष्टिकोण—२०३, आस्था—२०६, पर्यवेक्षण—२०७ सौन्दर्यबोध—२०७ ।

छठा अध्याय : राजशेखर और श्रीहर्ष २१०–२३१

राजशेखर : आभिजात्य तथा जीवन—२१०, मान्यताए, प्रेम के सम्बन्ध मे–२१४, आस्था—२१५, नैतिक मान्यताएं, आदर्श, रुचि—२१६, स्वभाव—२१६, पाण्डित्य और पर्यवेक्षण—२१८, काव्यशास्त्रीय चिन्तन—२१६, प्रतिभा : कल्पना—२१६, सौन्दर्यबोध—२१६, मूल्याकन—२२० ।

श्री हर्ष : जीवन—२२१, मान्यताएं तथा अदर्श: काव्य के सम्बन्ध मे—२२१, नैतिक मान्यताएं—२२३; आस्था—२२४, रुचि—२२६, पाण्डित्य–२२७, पर्यवेक्षण–२२७, प्रतिभा—२२८, संवेदना, भावबोध, सौन्दर्यदृष्टि–२३०, उपसंहार–२३० ।

सातवा अध्याय : कश्मीर के कवि-क्षेमेन्द्र, बिल्हण और कल्हण २३२–२७२

पृष्ठभूमि—२३२–३४ ।

क्षेमेन्द्र : जीवन—२३४, मान्यताएं तथा आदर्श—२३७, आस्था—२३६, स्वभाव—२४०, पाण्डित्य और पर्यवेक्षण—२४२, प्रतिभा : कल्पना—२४५, सवेदना, सौन्दर्यबोध—२४७,—उपसंहार २४७ ।

बिल्हण : जीवन—२४८, मान्यताएं तथा आदर्श—१५१, कवि और काव्य के सम्बन्ध मे—२५१, आदर्श और नैतिक मान्यताए २५२, प्रेम के सम्बन्ध मे—२५२,

रुचि २५६, सवेदना —२५६, पर्यवेक्षण तथा पाण्डित्य—२५६, कल्पना, सौन्दर्यबोध २५७-५८, उपसंहार २५६ ।

कल्हण : जीवन—२६०, मान्यताएं और आदर्श—२६२, काव्य के सम्बन्ध मे —२६२, आदर्श गुण तथा नैतिक मान्यताएं २६३, नारी के सम्बन्ध में–२६४, आदर्श राजा—२६५, स्वभाव एव जीवन के प्रति दृष्टिकोण —२६६, आस्था और रुचि–२६७, पाण्डित्य और पर्यवेक्षण —२६८, संवेदना–२६६, कल्पना सौन्दर्यबोध–२७०, उपसंहार-- २७१, ।

तृतीय खण्ड : उत्तर मध्ययुग के कवि

प्रथम अध्याय सास्कृतिक पृष्ठभूमि २७४-७६

राजनीतिक स्थिति—२७५, सामाजिक स्थिति—२७५, धार्मिक स्थिति—२७५; साहित्यिक परम्परा—२७६, कवियो पर परिस्थितियो का प्रभाव—२७८ ।

द्वितीय अध्याय : नीलकण्ठ दीक्षित २७६–३०७

आभिजात्य तथा जीवन–२८०, मान्यताएं और आदर्श:--२८१, काव्य के सम्बन्ध मे– २८१, आदर्श राजा, आदर्श गुण तथा नैतिक मान्यताएं—२८६, धर्म के सम्बन्ध मे— २८७, दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध मे—२८७, आस्था—२८८, स्वभाव —२८६, पाण्डित्य और पर्यवेक्षण —२६३, कविप्रतिभा–कल्पना—२६३, संवेदना—२६७, सौन्दर्य-दृष्टि—२६५; उपसहार—२६५ ।

तृतीय अध्याय : पण्डितराज जगन्नाथ २६५--३०८

आभिजात्य तथा जीवन – २६५, आस्था—३०१, स्वभाव—३०२, आदर्श तथा नैतिक मान्यताएं—३०३, बौद्धिक व्यक्तित्व—३०४, काव्य प्रतिभा—३०६ ।

उपसंहार ३०६--१४

पुस्तक--सूत्री ३१५–२०

नामनुक्रमणी ३२१–२२

निवेदन

प्रस्तुत ग्रन्थ सागर वि० वि० की पी-एच्० डी० उपाधि के लिये १९७२ मे प्रस्तुत प्रबन्ध का किंचित् संशोधित रूप है। इसकी पृष्ठभूमि मे संस्कृत के विशाल पुरातन साहित्य-भण्डार को आज के सन्दर्भों मे परख कर देखने की, नयी विचारधाराओं तथा मानदंडो के आधार पर उसकी व्याख्या, पुनर्व्याख्या और मूल्याकन करने की मेरी इच्छा रही है। सस्कृतकवि के बाह्य परिवेश तथा निजी रचना-संसार को दृष्टि मे रखते हुए काव्य के क्षेत्र मे उसके प्रदेय का सम्पूर्णता मे आकलन करने की अपेक्षा मुझे निरन्तर कौंचती रही है। विद्वज्जन इसे मेरी धृष्टता न समझें तो यह कहने का दुस्साहस करना चाहूँगा कि वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति की बात तो दूर, अभी हमने भारवि को भी ठीक से समझा नही है।

संस्कृत की सुदीर्घ कवि-परम्परा का समारम्भ वैदिक युग से होता है। इस युग मे तत्त्वदर्शी ऋषि को कवि कहा गया था। यास्क ने कहा है—"ऋषिदर्शनात् स्तोमान ददर्शेत्यौपमन्यवः" (निरुक्त २।११) तथा 'कविः क्रान्तदर्शनो भवति" (वही १२।१३)। शतपथ ब्राह्मण मे तो स्पष्ट कहा गया—"एते वै कवयो यद् ऋषयः" (१।४।२।८)। स्वय कवि को अनुभव होता था कि रचना के द्वारा उसने सत्य का साक्षात्कार किया है-'सत्यमहं गम्भीरः काव्येन सत्यं जातेनासि जातवेदाः' (अथर्व० ५।११।३)। रामायण और महाभारत के युग मे कवि दूसरे रूप में सामने आता है। वह नीतिवेत्ता और उपदेशक का बाना भी धारण करता है, सामाजिक परिवर्तनो और परम्पराओ को आत्मसात् भी करता है और जन-काव्य की रचना करता है। आगे चल कर कवि राज-दरबार के मनोरम विलासमय किंतु सकुचित लोक मे खोया हुआ लगता है। इस प्रकार विभिन्न युगो मे कवि की प्रतिमा (इमेज) किस प्रकार परिवर्तित होती रही है, यह इस देश के सास्कृतिक बदलावो को दृष्टिगत रखते हुए ही समझा जा सकता है।

संस्कृत कवियो के व्यक्तित्व-परक अध्ययन का शोध की दृष्टि से मेरी जानकारी मे यह प्रथम प्रयास है। सस्कृत कवियो की प्रतिभा विभिन्न युगो मे किस प्रकार के, सामाजिक सास्कृतिक तथा राजनीतिक या साहित्यिक परिवेश मे विकसित हुई, वे अपने देश व काल से कितने प्रभावित हुए, उन्होने अपनी सास्कृतिक धाराओ को किस प्रकार आत्मसात् किया, या स्वयं की स्वतन्त्र कवि-चेतना द्वारा इस देश के सांस्कृतिक विश्व मे अपनी

ओर से क्या और कितना जोड़ा—इन प्रश्नो के अपने दृष्टि से समाधान खोजने का यह विनम्र प्रयास है। अध्ययन के लिये वाल्मीकि से पण्डितराज जगन्नाथ तक की सुदीर्घ कवि परम्परा मे से कुछ विशिष्ट कवि चुने गये हैं। शूद्रक, भट्टनारायण, जयदेव आदि कवियो का अलग से विमर्श न किया जाना विद्वज्जनो को खटक सकता है। पर मैने इस कृति मे उन्ही कवियो का विशिष्ट अध्ययन करना चाहा है जिनके सन्दर्शनमय कवि-व्यक्तित्व ने सम्पूर्ण युग की साहित्यिक धारा को अनुप्राणित किया है और जिनके माध्यम से विभिन्न युगो मे बदलती हुई कवि की प्रतिमा (इमेज) से साक्षात्कार किया जा सकता है। विवेचन का आधार प्रायः सम्बद्ध कवि की कृतिया ही हैं। मिथको और जनश्रुतियो का वही तक उपयोग किया गया है, जहाँ तक उनसे वैज्ञानिक पद्धति से निष्कर्ष निकाले जा सकते थे। व्यक्तित्व के स्वरूप तथा सर्जना-प्रक्रिया मे उसके योग और व्यक्तित्व के अध्ययन की उपयोगिता पर पुस्तक के विषय-प्रवेश मे विस्तार से चर्चा की है। मनोविज्ञान की गुत्थियो मे अधिक न उलझ कर रचना से कवि के विषय मे उपलब्ध सभी तथ्यो का मैने कवि के व्यक्तित्व के अध्ययन के लिये उपयोग किया है। कवि का अपनी रचना मे प्रतिफलित व्यक्तित्व तीन स्रोतो से समेटा गया है।

१. कवि के द्वारा अपने जीवन, चरित्र, आदर्श तथा मान्यताओ को लेकर सीधे कहे गये कथन। विषय प्रवेश मे मैने इस बात को सप्रमाण स्पष्ट किया है कि गीतिकाव्य या मुक्तको मे ही नही, महाकाव्य जैसी वस्तुपरक रचनाओ मे कथा के प्रवाह के बीच मे भी कवि कही कही सीधे अपने आप प्रकट करता है।

२ कवि द्वारा महाकाव्य या नाटक की वस्तु का विशिष्ट विन्यास। गंगावतरण की कथा महाभारत मे भी है और पुराणो मे भी, किन्तु कवि नीलकण्ठ दीक्षित ने जिस ढग से उसे अपने महाकाव्य मे प्रस्तुत किया है, उमसे अवश्य ही कवि की अपनी मनःस्थिति और दृष्टिकोण पर प्रकाश पडता है।

३. कवि द्वारा काव्य मे निबद्ध पात्रों के सवाद और आचरण। कुछ पंडितो का कहना है कि रचनाकार अपने काव्य मे उपस्थापित पात्रो स सर्वथा पृथक् रहता है, उन पात्रो मे ऐसा कुछ भी नही रहता, जिससे कवि के अपनेपन की झाकी पायी जा सके। किन्तु कवि तथा कवि-निबद्ध पात्र मे कुछ तो सम्बन्ध मानना ही होगा। अन्यथा महाकवि शेक्सपियर अपने जीवन के एक विशेष चरण मे ही ब्रूटस, हेमलेट, आथेलो या लियर जैसे अन्तर्द्वन्द्व-ग्रस्त दु खान्त पात्रो की सृष्टि क्यो करते या अपने रचनात्मक दौर के अन्तिम चरण मे ही मिराण्डा जैसी अनिंद्य नायिका का क्यो सृजन करते ? कालिदास दुष्यन्त के द्वारा कुछ कहना चाहते थे, नही तो महाभारत के दुष्यन्त का रूपान्तरण या पुनर्निर्माण करने की उन्हें आवश्यकता ही क्या थी ? हाँ, इस बात

पर विवाद हो सकता है कि कालिदास ने दुष्यन्त के माध्यम से अपने स्वयं के हृदय को सालती हुई कोई कचोट ही व्यक्त करनी चाही है। यह भी बिल्कुल आवश्यक नही कि यक्ष के माध्यम से उन्होने अपनी वैयक्तिक व्यथा का ही गान किया है। इसके विपरीत, मेघदूत मे स्पष्ट रूप से ऐसे अनेक स्थल आते है जहां कवि यक्ष से एकदम तटस्थ है। तथापि संस्कृत के काव्यो या नाटको मे ऐसे स्थल भी लेखक को अनेकशः मिले हैं, जहा कवि अपने किसी पात्र के चरित्र, आचरण या वार्तालाप द्वारा अपनी स्वयं की बात कहता हुआ प्रतीत होता है और ऐसे स्थलो का प्रस्तुत अध्ययन मे उपयोग किया गया है।

इस प्रकार के अध्ययन मे अनिवार्यतः कई स्थलो पर अनुमान का आश्रय लेना पड़ा है, पर यह ध्यान रखा गया है कि अनुमान हेत्वाभासमूलक न हो। फिर भी कुछ निष्पत्तिया पण्डितजनो को असिद्ध सी लग सकती है। जैसे—"कालिदास ने अनपत्यता का कष्ट भोगा था। सन्तान प्राप्ति को जो अभिलाषा उनके काव्यो मे यत्र तत्र प्रकट हुई है, उसमें स्वयं की अनुभूति की छाया है" (पृ०६८), अथवा—'कालिदास मे जितनी शृंगारिकता है, भवभूति मे उससे कही अधिक वात्सल्य है' (पृ० १९३) इस प्रकार की प्रतिज्ञाओ की सिद्धि के लिये कवि को रचना से पुष्कल प्रमाण भी दिये गये हैं, अतः उन्हे मात्र अनुमानजन्य कहकर नकारा नही जायेगा—ऐसा मेरा विश्वास है। सत्य का परम अन्वेषी भारतीय न्यायशास्त्र जब सम्पूर्णतः अनुमान पर टिका है, तो शोध के क्षेत्र मे अनुमान से परहेज क्यो?

कवि के व्यक्तित्व की थाह पा लेना आसान नही है। प्रायः ऐसा होता है कि कवि के व्यावहारिक जीवन मे प्रकट व्यक्तित्व तथा रचना मे प्रतिफलित उसके व्यक्ति इन दो व्यक्तित्वो मे कोई तारतम्य प्रतीत नही होता। "होमर अन्धे थे और वाल्मीकि दस्यु, यहाँ तक कि कालिदास, जिनकी नस-नस मे आत्मचेतना और उत्तराधिकार-बोध विकीर्ण है, उस विदग्ध उत्तरसूरि को भी वयःप्राप्त जडबुद्धि कह कर प्रचारित किया गया। कवि-प्रतिभा के सबसे भीतरी अन्तर्देश पर ये प्रवाद-समूह आघात करते हैं। कवि कभी भी अविकल सामाजिक अथवा स्वभाविक व्यक्ति हो ही नही सकता, किसी न किसी ओर से उसे अभावग्रस्त होना ही होगा, जिसकी पूर्ति या तो दैव करता है, या फिर उसके अपने अवचेतना को क्षमता।'—बंगला कवि-चिन्तक बुद्धदेव बोस का यह कथन अपनी जगह पर ठीक है, फिर भी रचना की संवेदनशील समझ के द्वारा कवि-व्यक्तित्व के विभिन्न ध्रुवो के बीच अन्तः सम्बन्ध को पहचाना जा सकता है—और इसी पहचान के लिये यह विनम्र प्रयास है।

इस पुस्तक मे मैं आद्यन्त इस सिद्धान्त को पकड़ रहा हूँ कि रचनाकार का व्यक्तित्व उसकी कृति मे प्रतिबिम्बित होता है। एक तो शोध की प्रणाली की कई सीमाएं हैं,

उससे भी बडी सीमाएं मेरे अपने नन्हे व्यक्तित्व की है। आखिर उक्त सिद्धान्त के अनुसार वह भी तो मेरी इस पुस्तक में परिव्याप्त होगा ही। कविकुलगुरु ने रघुवश के राजाओं के चरित्र का आकलन करना चाहा था तो उन्हें लगा था कि छोटी सी नाव से सागर पार करना चाहते हैं। कुछ उसी तरह की बात यहाँ भी है—तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्। कालिदास जैसे कवियो के व्यक्तित्व के विराट अथाह सागर की भला मै अपने व्यक्तित्व की क्षुद्र नाव से नापजोख क्या करूंगा? इसके लिये भी तो 'हिमालय जैसा ही मानदण्ड' चाहिये। मेरी यह कृति तो "प्राशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः" की चेष्टा के सदृश है। इस आशा से अपरिपक्व होते हुए भी इसे उपस्थित कर रहा हूँ कि विद्वज्जनो के प्रोत्साहन से कदाचित् कभी ये वामनहस्त भी उस परिक्व फल तक पहुँच सकें, जिसका निष्पन्द महाकवियों को कालजयी कृतियो मे प्रवाहित है।

मौलिकता का कोई दावा लेखक का नही है। पर उसे विश्वास है कि इस ग्रन्थ के द्वारा सस्कृत कवियो पर अध्ययन के क्षेत्र मे कुछ नये आयाम अवश्य उद्घाटित हुए हैं। विशेषकर भास, भारवि, भर्तृहरि, कल्हण, विल्हण, नीलकण्ठ दीक्षित जैसे कवियो का जो अध्ययन यहाँ किया गया है, उसमें इन कवियो के विषय मे कुछ अछूती बातें सामने आयी हैं।

इस विषय पर कार्य करने की प्रेरणा मेरे गुरु डा० रामजी उपाध्याय, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, सागर विश्वविद्यालय से मिली। उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ। संस्कृत काव्यशास्त्र तथा दर्शन के श्रेष्ठ विद्वान् डा० रामचन्द्र द्विवेदी की भूमिका से संवलित होने का सौभाग्य इस ग्रन्थ को प्राप्त हुआ है।

इस पुस्तक की संशोधित पान्डुलिपि मैने १९७२ में ही तैयार कर ली थी, पिछले चार वर्षों से विभिन्न प्रकाशको ने इसे अपने पास दबाये रखा, जिनकी व्यवसायिक चालो से निपटना मुझे आता न था। यदि डा० उपाध्याय इसके प्रकाशन मे सक्रिय रुचि न लेते, तो यह ग्रन्थ 'इतो भ्रष्टस्ततो नष्टः' की गति को प्राप्त हो जाता। इस बीच ग्रन्थ की कई उपस्थापनाओ का पुनराकलन कर इसे नये सिरे से लिख डालने की इच्छा थी, जिसके लिये अवसर नही मिला। रमापति प्रेस के मैनेजर श्री मन्नू सिंह ने छपाई तत्परता और मेहनत से कराई है, मेरी असमर्थता के कारण मुद्रण की कुछ भूलें फिर भी रह गयी हैं। विश्वास है, यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य के अध्येताओं और जिज्ञासुओ के लिये उपयोगी सिद्ध होगा, आशा है कि विद्वज्जन इसे अपनायेगे।

—राधावल्लभ त्रिपाठी

विषय-प्रवेश

सिद्धान्त और अध्ययन की दिशाएं

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी विशेषताएं और प्रवृत्तिया होती हैं, जो उसे अन्य व्यक्तियो से अलग करती हैं। मनोविज्ञान मे इन्हे शीलगुण (Traits of Personality) कहा गया है। किसी भी व्यक्ति की सम्पूर्ण शारीरिक विशेषताओं तथा मानसिक प्रवृत्तियो की समन्वित इकाई उसका व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व के अन्तर्गत उसकी प्रेरणाएं, मूल प्रवृत्तिया, अनुभवजन्य मानसिक दशाएं, रुचि, दृष्टिकोण, विचार, आदर्श और आदतें—ये सभी परिगणित हो जाते है। किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व के अनेक पक्ष हो सकते है, जिन्हे सुविधा की दृष्टि से शारीरिक, चारित्रिक और मानसिक इन तीन वर्गों मे रख सकते हैं। व्यक्तित्व इन सबका जोड (Sum-total) नही, अपितु सक्रिय संगठन (Dynamic onganisation) है।

व्यक्तित्व तथा कृतित्व :

प्रत्येक मनुष्य का व्यवहार और कार्यविधि उसके अपने व्यक्तित्व के अनुरूप होती है। जैसा उसका व्यक्तित्व होगा, वैसा ही उसका व्यवहार और कार्य-प्रणाली भी। इसी प्रकार कोई भी कलाकृति उसकी सर्जना करने वाले कलाकार के व्यक्तित्व के अनुरूप होती है। जिस प्रकार व्यावहारिक जगत मे हम किसी व्यक्ति के स्वभाव, दृष्टिकोण आदि को उसकी बातचीत या कार्य व्यवहार द्वारा समझ सकते हैं, उसी प्रकार कृति के अध्ययन द्वारा कृतिकार के सम्बन्ध मे भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि हमें कवि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे ज्ञान है तो इसके द्वारा रचना के मर्म तक पहुँचने मे सहायता मिल सकती है।

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

'इस अपार काव्य संसार मे कवि प्रजापति के समान है, वह जैसा चाहता है वैसा ही काव्य जगत् को बना डालता है।' आनन्दवर्धन की इस मान्यता का समर्थन अभिनवगुप्त ने अनेकत्र किया है। उदाहरण के लिये—

१. नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भवे यतः ॥—अभिनवभारती, पृ० ३६

२. एवं पितामहसदृशेन सर्वदा नाट्यवेदशरीररूपनिर्माणे कविना भाव्यमिति।—वही, पृ० १०६

३. कवेरपि सहृदयायतन-सततोदित—प्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्व-निर्माणशक्तिशालिनः प्रजापतिरिव कामजनितजगतः—वही, पृ० ४२

इन समस्त उद्धरणों मे कवि को प्रजापति, शम्भु या पितामह के रूप में देखा गया है तथा आनन्दवर्धन और अभिनव दोनो ने ही 'यथास्मै रोचते' और 'प्रजापतिरिव कामजनितजगतः' कह कर इस बात को एकदम स्पष्ट कर दिया है कि काव्यसर्जना मे कवि स्वतन्त्र है, वह काव्यजगत् को चाहे जैसा रूप-रग या आकार प्रकार दे सकता है। मम्मट ने भी कवि भारती की निर्मिति को 'अनन्यपरतन्त्राम्' कह कर उसके स्वातन्त्र्य का समुद्घोष किया है।[1]

कवि को प्रजापति के समान या उससे भी श्रेष्ठ बताकर[2] इन विचारको ने इस धारणा का पोषण किया है कि जिस प्रकार इस संसार के वैविध्य, वैचित्र्य या सौन्दर्य में हम प्रजापति के विराट् व्यक्तित्व का अनुमान लगा सकते हैं, उसी प्रकार काव्य के अध्ययन मे हम कवि के व्यक्तित्व को भी समझ सकते हैं। संक्षेप मे चूंकि कवि अपनी इच्छानुसार काव्य को निर्मित करता है, अतः जैसा कवि होगा-वैसा ही काव्य भी। राजशेखर ने इस बात को बडे ही स्पष्ट शब्दों मे विशद किया है 'स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूप काव्यम्। यादृशाकारश्चित्रकारस्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायोवादः'-(काव्यमीमासा, पृ० १२२)कवि जैसा स्वभाव का होगा, वैसा ही उसका काव्य भी होगा, जिस प्रकार जैसा चित्रकार होता है वैसा ही उसका चित्र भी हुआ करता है। राजशेखर का यह कथन कालेरिज के इस वक्तव्य से साम्य रखता है—So he is. So he writes—अर्थात् जैसा वह है वैसा वह लिखता है। आनन्दवर्धन ने अन्यत्र पुनः उसी बात को स्पष्ट किया है।

शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत्॥

ध्वन्या० पृ० ५३०

साहित्य कवि की आत्माभिव्यक्ति है—इस बात को बृहदारण्यक उपनिषद् मे भी 'अयमात्मा वाङ्मयः' कह कर स्वीकृति दी गयी है। आधुनिक चिन्तको ने काव्य को कवि की आत्माभिव्यक्ति कहकर कवि के व्यक्तित्व और उसकी रचना में सीधे सम्बन्ध को स्वीकार किया है।

१,२. काव्यप्रकाश, १।१

कवि या लेखक का जैसा व्यक्तित्व होगा, वैसी ही उसकी शैली होगी। गेटे ने इसीलिये कहा है—'किसी लेखक की शैली उसके मस्तिष्क की सच्ची प्रतिलिपि है। शापेनहावर ने शैली को आत्मा की प्रतिच्छवि कहा है। टी० एड्वार्ड्स ने भी कहा है कि शैली व्यक्ति को अपनी निजी चीज होती है, वह उसके स्वभाव का अंग है।

व्यक्तित्व के शारीरिक, चारित्रिक, मानसिक आदि सभी पक्ष काव्य मे प्रतिबिम्बित हो सकते हैं अथवा उसे प्रभावित कर सकते हैं। यद्यपि व्यक्तित्व के शारीरिक पक्ष का काव्य से सीधा सम्बन्ध नही, परन्तु वह भी, काव्य को किसी न किसी रूप मे प्रभावित करता ही है। शारीरिक न्यूनता हीनता की भावना को जन्म देती है। ऐसे व्यक्ति अन्य क्षत्रो मे विशिष्टता पाने का प्रयास करते है। सम्भव है, यदि ऐसा कोई व्यक्ति काव्य के क्षेत्र मे प्रविष्ट हो तो वह अपनी शैली को अधिक आकर्षक बनाने का प्रयास करे। व्यक्तित्व के बौद्धिक पक्ष के अन्तर्गत परिगणित मानसिक शक्तियो का साहित्य के विभिन्न उपादानो से गहरा सम्बन्ध है। जैसे काव्य मे प्रयुक्त भाषा का व्यक्ति की ग्रहण शक्ति से, विभिन्न दृश्यो, परिस्थितियो तथा घटनाओ के वर्णन, चित्रण अथवा अलकरण का कवि या लेखक की कल्पना-शक्ति से तथा नवीन विचारो का उसका चिन्तन-शक्ति से गहरा सम्बन्ध है। उपरोक्त मानसिक शक्तिया सभी लेखको मे एक ही मात्रा या अनुपात मे नही रहती, अतः इनकी मात्रा या भेद के अनुसार उनके कार्य या उनके द्वारा प्रस्तुत सामग्री मे भी अन्तर आ जाना स्वाभाविक है। एक ही युग तथा एक ही विषय से सम्बद्ध दो कवियो की रचनाओ मे भी रूप और शैली की दृष्टि से गहरा अन्तर आ जाता है। स्मरण शक्ति तथा चिन्तन शक्ति साहित्य को विषयवस्तु को जन्म देती या प्रभावित करती है क्योकि इनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य और विचार विषयवस्तु के घटक तत्व हुआ करते हैं। कवि की ग्रहणशक्ति तथा कल्पनाशक्ति उसकी शैली को प्रभावित करती है।

साहित्य मे प्रस्तुत तथ्य, विचार, दृश्य आदि का विवरण अनुभूति से सवलित होता है, अन्यथा उसमे काव्यात्मकता तथा आकर्षण उत्पन्न नही हो सकता। अनुभूति का सम्बन्ध व्यक्ति के भावात्मक पक्ष से है। भावात्मक पक्ष साहित्य को विषय वस्तु तथा शैली दोनो को ही प्रभावित करता है। करुणा, प्रेम, क्रोध आदि जहा एक ओर विषयवस्तु के लिये सामग्री प्रस्तुत करते हैं, वही दूसरी ओर वे वक्ता या लेखक की वाणी, गति या चेष्टाओ को भी प्रभावित करते हैं। मन की शान्त अवस्था मे व्यक्ति भाषा के परिष्कृत व स्थिर रूप का प्रयोग करेगा, पर उत्तेजित अवस्था मे भाषा के अप्रचलित व असामान्य विशिष्ट रूप का। भावो की ऋजुता

या गम्भीरता के अनुसार अभिव्यक्ति का स्वरूप परिवर्तित होता है। इस प्रकार भावात्मक पक्ष का सम्बन्ध कवि के कथ्य तथा कथनविधि दोनों से है।

चारित्रिक पक्ष का काव्य के कथ्य पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। कवि जब काव्य के माध्यम से कोई सन्देश देना चाहता है तो अपनी मान्यताओं तथा विचारों को भाषा के माध्यम से सम्प्रेषित करता है। कवि का जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण भी काव्य में अभिव्यक्त हो सकता है। उत्तररामचरित भवभूति की जीवनदृष्टि का निचोड़ है। किरातार्जुनीय में भारवि ने संयम, तप तथा कर्मठता का सन्देश दिया है। स्पष्ट है कि कवि को ये गुण अभिप्रेत थे। भर्तृहरि ने तो अपने चिन्तन और अनुभूतियों को बेलाग होकर सुभाषितों में कहा है।

कवि की अभिरुचि, प्रवृत्ति और प्रकृति काव्य को सीधे प्रभावित करती हैं। कालिदास की रुचि जीवन के मुधुर-मसृण पक्ष की ओर थी, इसलिये उनकी शैली और कथ्य दोनों में माधुर्य का योग है। भवभूति की रुचि जीवन के गम्भीर पक्षों की ओर अधिक है, और उनकी शैली भी उनसे प्रभावित हुई है। व्यास की दार्शनिक अभिरुचि महाभारत में सर्वत्र छाई हुई है और वाल्मीकि का सन्त स्वभाव एवं आदर्शप्रवणता रामायण में पिरोई हुई है।

ऊपर हमने इस बात का उल्लेख किया है कि कवि काव्य में स्वयं को अभिव्यक्त करता है अथवा काव्य कवि की आत्माभिव्यक्ति है। यह सिद्धान्त वस्तुप्रधान प्रबन्ध-काव्यों की कसौटी पर कहाँ तक खरा उतरेगा? ऐसे काव्यों में एक समूचे समाज या समग्र जीवन का चित्रण होता है, कवि की वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं। पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि प्रबन्ध काव्यों में, कवि में अभिव्यक्ति की आकांक्षा नहीं है या कवि की आत्माभिव्यक्ति नहीं होती। प्रबन्ध काव्यों में भी आत्माभिव्यक्ति होती है पर अभिव्यक्ति का उसका प्रकार मुक्तक कवि से भिन्न होता है। सामान्य व्यवहार में भी हम देखते हैं कि जहां एक व्यक्ति अपने आप को सीधा अभिव्यक्त कर देता है, वहां दूसरा अपने को पीछे रख कर प्रसंग के माध्यम से परोक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से अपनी बात कहता है। अभिव्यक्ति की आकांक्षा दोनों में ही है, भेद केवल रीति का ही है। यही बात काव्य में भी है। एक कवि विषय प्रधान रचना द्वारा सीधे-सीधे अपने अन्तःकरण की भावनाओं को खोल कर रख देता है, दूसरा विषया प्रधान (objective) काव्यों के माध्यम से किसी कथा का आश्रय लेकर अपनी बात कहता है। भर्तृहरि के शतक या रघुवंश महाकाव्य—दोनों ही आत्माभिव्यक्ति के दो रूप हैं—एक ने अभिधा में दूसरे ने व्यंजना में अभिव्यक्ति

की है। इन दोनो मे मूल प्रेरणा का भेद न होकर—माध्यम—का ही भेद है। इतना ही नही, प्रबन्ध काव्यों मे भी कवि चाहे तो सीधे आत्माभिव्यक्ति कर सकता है। नैषधचरित मे वैसे तो राजा नल की कथा है, पर काव्य की सूक्ष्म समीक्षा करते समय कुछ स्थल ऐसे भी मिल जाते है, जहा प्रत्यक्षतया हर्ष का निजी व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित है। हर्ष कही-कही उत्तम पुरुषवाचक क्रिया द्वारा अपने विचारो को खोल कर रख देते है। दमयन्ती का मुंहफट बन कर हंस से नलानुराग प्रकट करना उन्हे नही सुहाता—'इतना कहने मे दमयन्ती ने जो लज्जा का परित्याग किया, वह हमारे (कवि के) चित्त मे भले ही अनुचित लगा करे'—(३।९७)। स्वयंवर मे अवन्ति-नाथ की प्रशंसा सुनकर दमयन्ती ने उनकी ओर देखा तक नही। कवि को दमयन्ती का यह व्यवहार जंच गया। उसने तुरन्त टिप्पणी की—"किसी अन्य में अनुराग होने के कारण किसी दूसरे व्यक्ति को नीरस दृष्टि से देखने की अपेक्षा मेरी समझ मे, उसे बिल्कुल न देखना ही उचित होता है।" सस्कृत के कवियो ने अनेक स्थानो पर महाकाव्यो मे सुभाषितो के माध्यम से अपने निजी विचार व्यक्त किये हैं।

प्रबन्ध-काव्यो मे पात्रो के ब्याज से कभी कभी रचनाकार अपनी बात भी कह जाता है। इस देश के काव्यचिन्तको का ध्यान बहुत पहले ही इस तथ्य की ओर गया था। नमिसाधु ने रुद्रट की टीका मे लिखा है—

'नायकमुखेन कविरेव मन्त्रयते निश्चिनोति इति केचित्।'

यही बात कुमारस्वामी ने 'प्रतापरुद्रीय' की टीका मे कही है—'नहि महाकविभिः वाल्मीकि-प्रमुखैरिव ध्यानदृष्टया रामादीनामवस्था: प्रातिस्विका निरूप्यन्ते, किन्तु रामा-दिकमाश्रयतया परिकल्प्य स्वप्रतिभाप्रभावलब्धा: सर्वसाधारणा इति।'[1]

साहित्य समाज का दर्पण है—यह बात सही है। किन्तु यह दर्पण कवि के व्यक्तित्व उसकी मान्यताओ, प्रकृति और भावनाओ के रागे और कांच से ही तो बनता है। जैसा दर्पण होगा—वैसा ही प्रतिबिम्ब भी उभरेगा। दर्पण की समरूपता, उसके आकार-प्रकार आदि का प्रतिबिम्ब पर प्रभाव पडता है और दर्पण के वैविध्य से पतिबिम्ब भी परिवर्तित होता है। साहित्य का दर्पण अधिक लचीला, नमनीय और वैविध्यमय है, अत: उसके सम्बन्ध मे यह बात और भी अधिक सही है। इस तथ्य को एक फ्रेंच कहावत मे सुलझे हुए रूप मे इस प्रकार प्रकट किया गया है—"कला एक विशेष प्रकृति मे देखा गया जीवन है। (Art is a life seen through a temperament)[2] साहित्य मे जीवन का चित्रण होता है, पर उसी जीवन का

१. प्रतापरुद्रीय, (बा० म० प्रेस सं०) पृ० २०५

२. Introduction to the Study of Literature, p. 15

जिसे कवि अपने ही व्यक्तित्व की आखो से देखता है। इसलिये भले ही कलाकार साहित्य मे समूचे युग-जीवन या समाज को चित्रित करने का प्रयास करे, उसका व्यक्तित्व परोक्ष या उपरोक्ष रूप मे कलाकृति मे उपस्थित रहेगा ही।

कुछ विचारको ने काव्य मे निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया है। अंग्रेजी की रोमाटिक कविता मे, इस निर्वैयक्तिक प्रवृत्ति के सबसे बड़े उदाहरण कीट्स हैं, जो आत्मनिषेध की इस सीमा तक चले गये थे कि कवि को वे गिरगिट के समान मानते थे, जिसका अपना कोई निजी अस्तित्व नही होता और जो विषय-वस्तु के अनुरूप अपने आपको ढाल लिया करता है। कीट्स ने एकाधिक स्थलो पर इस बात की चर्चा की है कि सम्मेलन गोष्ठियो मे लोगों का व्यक्तित्व उसे और उसके अवचेतन को इतना अधिक प्रभावित करता है कि वह अपने आपको भूल जाया करता है। कीट्स मानव संसर्ग से इतना अधिक प्रभावित हुआ करता था कि उसकी आत्म-चेतना तिरोहित हो जाया करती थी। वह मात्र सवेदनाओ को ग्रहण करने वाला एक सजीव मन्त्र हो जाया करता था।

साहित्यिक समीक्षा के क्षेत्र मे इस व्यक्तित्वहीनता का नारा बुलन्द करने वालो मे टी० एस० इलियट् के मत मे कलाकार के विकास की प्रक्रिया अनवरत आत्मनिष्कृति और व्यक्तित्व से छुटकारा देती है। जितना ही महत्वपूर्ण कलाकार होता है, उतने ही स्पष्ट रूप से वह अपनेपन से तटस्थता प्राप्त कर लेता है। अपनी अव्यक्तिवादी इस धारणा के कारण इलियट ने यह मानने से इकार कर दिया है कि कला सवेगो की अभिव्यक्ति है। उसके अनुसार काव्यगत संवेग व्यक्तिगत संवेगो से भिन्न हुआ करते हैं। साहित्यकार अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन नही करता। यही नही, उसके पास अपना ऐसा कोई व्यक्तित्व होता ही नही जिसे वह अभिव्यक्ति दे सके। इलियट् के अनुसार व्यक्ति और रचनाकार इन दोनो के बीच मे बहुत अन्तर है और जितना ही बडा कलाकार होगा—उतना ही बड़ा यह अन्तर भी होगा।

इलियट् के अनुसार कलाकार अपनी समग्र चेतना को सृजन के क्षणो मे किसो अधिक मूल्यवान वस्तु के प्रति समर्पित कर देता है। इस प्रकार कलाकार का सृजन अनवरत आत्म बलिदान की प्रक्रिया है।[१] एक सिद्धहस्त कवि तथा एक नौसिखिये मे इस बात का अन्तर नही होता कि पहले का व्यक्तित्व अधिक महान् है या उसके पास कहने को अधिक है, अपितु उनमे अन्तर इस बात का हुआ करता है कि एक के पास

१. Selected Essays, T. S. Eliot, p. 17

विभिन्न प्रकार की भावनाओ का माध्यम बनने की सामर्थ्य अधिक हुआ करती है।[१] इस प्रकार इलियट् के मत मे कवि का मानस असंख्य प्रकार की भावनाओ, शब्दो और प्रतोको का खजाना हुआ करता है। जिनका सृजन की दशा मे समंजन और सयोजन होता है।[२]

वास्तव मे इलियट् के मत का हमारे मत से कोई विरोध नही है। जिस वाक्य मे इलियट् ने व्यक्तित्व से पलायन वाली बात कही है, उसी के साथ उन्होने यह भी कहा है कि—"कविता अनुभव और सवेगो की अभिव्यक्ति का माध्यम है।[3] प्रश्न यह है कि काव्य किसके अनुभवो और सवेगो की अभिव्यक्ति का माध्यम है? ये अनुभव और सवेदन किसके हैं? यदि वे कवि के है तो काव्य के माध्यम से कवि का अपने व्यक्तित्व से पलायन तो नही हुआ। यह तो व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति ही हुई। और यदि वे अनुभव और सवेदन कवि के नही हैं तो फिर किसके हैं? यदि वे किसी अन्य के हैं तो कवि अन्य के सवेदनो को क्यो अभिव्यक्त करता है? वास्तव मे दूसरे के सवेदनो को अभिव्यक्त करने की क्षमता भी कवि के व्यक्तित्व का ही एक वैशिष्ट्य है। तब दूसरे के संवेदनो को अभिव्यक्ति देते समय भी कवि का अपने व्यक्तित्व से पलायन कहा हुआ? और कवि दूसरे के संवेदनो को ही सदैव अभिव्यक्ति देना चाहता है या दिया करता है--ऐसा भी नही है। दूसरे के अनुभवो और सवेगो को भी कवि तभी अभिव्यक्ति देगा, जब वह उनके द्वारा पाठक तक कोई स्वयं की मान्यता या सन्देश पहुँचाना चाहेगा-या उनके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहेगा। इन सभी स्थितियो मे काव्य मे उसका व्यक्तित्व वर्तमान रहेगा ही—यह संभव है कि कभी वह पृष्ठभूमि मे रहे और कभी खुल कर सामने आये।

इलियट के मत का मर्म वस्तुतः यह है कि "कला भाव का मोचन नही, अपितु भाव से पलायन है, वह अहम् की अभिव्यक्ति नही, अहम् का विसर्जन है।"[४] कलाकार अपनी क्षुद्र भावनाओं को व्यक्त करने क लिये या अपने अह के परितोष के लिये

१. Ibid., p. 18 २. Ibid., p. 19

३. आलोचना : प्रकृति और परिवेश : तारकनाथ बाली, पृ० १६७

4. Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion. it is not the expression of personality, but an escape from personality. But of course, those who have personality and emotions know what it means to escape from these things Selected Essays, p. 21.

काव्य की रचना नही करता, वरन् अपने व्यक्तित्व की सीमित और क्षुद्र भावनाओ तथा अहम् से मुक्ति पाने के लिये ही वह कला की साधना करता है।

मच्ची कविता व्यक्तिगत रागद्वेष का उद्गार नही है। कवि जब काव्य-सर्जना मे तल्लीन होने लगता है तब व्यक्तिगत रागद्वेष का कलुष उसके अन्त:करण से बह जाता है और वह स्व-पर की सीमाओं से मुक्त होकर विश्वचेतना मे स्वय को डुबो देता है। पर यह व्यापक और उदात्त चेतना भी उसी केव्यक्तित्व का अंग है। अत: कला या साहित्य व्यक्तित्व के उदात्त पक्ष की अभिव्यक्ति है, जिसमे सकुचित अहंकार तथा रागद्वेष आदि भावनाओ के लिये स्थान नही है—यही इलियट् को अभिप्रेत है और इसमे वस्तुतः व्यक्तित्व के निषेध जैसी कोई बात नही है।

कवि या कलाकार की वैयक्तिकता सर्जन की सामग्री का ग्रहण करने के लिये आवश्यक है और काव्य मे वैयक्तिकता का आग्रह उसकी प्रभविष्णुता को तीव्र करता है। ऐसी स्थिति मे कलाकार की समस्त साधना इसी मे है कि वह अपने व्यक्तित्व को अस्वीकृत किये बिना उस सार्वभौम कलापक्ष का विकास करे, जो उसकी साधना का चरम लक्ष्य है। इस प्रकार सच्चा कलाकार अपने विशिष्ट जीवन की विशिष्ट अनुभूतियो को सार्वभौम मानव की अनुभूतियो मे ढाल लेता है, तब उसकी अनुभूतियाँ सर्वजन सवेद्य और प्रेषणीय बन जाती हैं।

उपरिलिखित कथन का तात्पर्य यही है कि कवि अपने व्यक्तित्व का निषेध या तिरोभाव काव्य मे नही कर सकता, पर अपनी तुच्छ भावनाओ से ऊपर उठने की साधना उसे करनी पडती है अन्यथा वह एक निम्नश्रेणी का कवि बन कर रह जाता है। पर सभी कवियो मे अहं का विगलन सम्भव नही हो सकता। और जैसा कि हम आगे देखेंगे, ऐसे भी अनेक कवि हुए है, जिन्होने वैयक्तिक भावनाओ को ही अभिव्यक्ति दी है। व्यक्तिगत आग्रहो को काव्य जगत् मे प्रतिष्ठा देने वाले कलाकार को हम कवि जगत् की सीमा से निष्कासित नही कर सकते। यदि उसके काव्य मे भी प्रेषणीयता और जीवनी शक्ति है तो वह पढा जायगा और ऐसे भी कवि हुए है, जिन्होने व्यक्तिगत भावनाएं काव्य मे अभिव्यक्त की और उसी काव्य के माध्यम से वे आज तक जीवित हैं।

सृजन की प्रक्रिया तथा स्रष्टा का व्यक्तित्व

सृजन की प्रक्रिया इतनी जटिल और रहस्यमय समझी जाती है कि इसे विश्लेषण के अयोग्य कहकर छोड़ दिया जाता है। सर्वप्रथम तो यह बात ध्यान मे रखने की है कि कवि जिस समय कागज और कलम लेकर लिखने बैठता है, उसी समय यह प्रक्रिया नही चलती। जब वह जीवन की अन्य क्रियाओ को सम्पादित कर रहा होता है तब भी

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से काव्य की सामग्री उसके चेतन या अवचेतन मन मे एकत्र होती रहती है। इसका कारण यह है कि वह साधारण मनुष्य की अपेक्षा अधिक कल्पना-प्रवण होता है। वह जीवन की सामान्य से लेकर महत्तम घटनाओ पर सहानुभूतिपूर्ण ढंग से विचार करता है, छोटी से छोटी घटना उसके मानस मे हिन्दोल जागरित कर सकती है।

जब वह अपने मानस मे एकत्र इस सामग्री को किन्ही बाह्य उपादानो के साहाय्य से अभिव्यक्ति देना प्रारम्भ करता है, तब वह एक अभूतपूर्व सवेदन की स्थिति मे होता है। इस समय उसकी कल्पना, सौन्दर्यचेतना तथा संवेदना पूर्णतः जाग्रत हो जाती है, तथा उसके व्यक्तित्व का चिन्तन, आशा, अभिरुचि, अभिलाषा, आकांक्षा आदि सभी कुछ काव्य के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगता है। इस समय उसका प्रातिभ ज्ञान तथा सहज ज्ञान दोनो सक्रिय हो उठते है। प्रातिम ज्ञान के माध्यम मे वह आवश्यक कथ्य को सरलता से हृदयगम करता रहता है, सहज ज्ञान के माध्यम से जीवन के स्पन्दनो की यथार्थ अनुभूति करके उन्हे निश्चितरूप प्रदान करता है और कल्पना के माध्यम से वह ऐसे बिम्ब निर्मित करता है, जो इस कला का पूर्वापर सम्बन्ध निर्धारित करते हैं।[1]

इस सर्जन के समय कवि के मन मे एक अभूतपूर्व एकाग्रता प्रादुर्भूत हो जाती है, जिसे राजशेखर ने समाधि कहकर एक महत्वपूर्ण काव्य हेतु माना है।[2] इस समय कवि का चित्त बाह्य व्यवधानो और विक्षेपो की ओर ध्यान न देकर एकाग्र हो जाता है। शक्ति और नवीन उद्भावना से परिपूर्ण होकर कवि मानस सर्जनशील हो उठता है। भाव भाषा मे अभिव्यक्त होने के लिये व्यग्र हो उठते है और आत्मप्रकाशन से कवि को को अनुपम सन्तोष मिलता है। योरोप के स्वच्छन्दतावादी कवियो—कीट्स, शैली, वर्ड्सवर्थ आदि ने इस बात को बलपूर्वक प्रतिपादित किया है कि कल्पना के प्रदीप्त और स्वर्णिम क्षण मे भूत और भविष्य की प्रतीति लुप्तप्राय हो जाती है और केवल एक उसी जीवन-क्षण का ज्ञान रहता है जो मानो सम्पूर्ण काल को समेट कर अपने मे निबद्ध कर लेता है।

---

१. कलासृजन प्रक्रिया, पृ० ५

२. काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते इति श्यामदेवः। मनस एकाग्रता समाधिः। समाहित चित्त अर्थान् पश्यति। उक्त च-

सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्य यद्गोचरे च विदुषा निपुणैकसेव्यम्।
तत् सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो यच्चेतसो विदितवेदविधेः समाधिः॥

काव्य मीमासा, पृ० २६

वर्ड्सवर्थ ने इस प्रक्रिया के अन्तर्गत कवि के बाह्य आयास और कौशल को कोई स्थान नहीं दिया है। उसने कविता को भावनाओं का निष्प्रयास उद्गार मात्र बतलाया है। कीट्स ने भी कहा है कि कविता उसी प्रकार से कवि मन में से उद्गत होनी चाहिये जिस प्रकार कि पेड़ में पत्तियाँ फूटती हैं। यह बात सभी अच्छे कवियों पर लागू नहीं होती। कुछ कवि ऐसे होते हैं, जो प्रेरणा के तीव्रवेग का निष्प्रयास ग्रहण करते तथा बिना सचेतन प्रयत्न के उसे अभिव्यक्त कर देते हैं। उनकी रचनाओं में परिष्कार का अभाव और अलंकरण की अपेक्षा बनी रहती है। अंग्रेजी में ब्लेक, शैली और वर्ड्सवर्थ की कविताओं में कवि मानस की भावनाओं का उच्छलन आदिम अपरिवर्तित रूप में ही संक्रान्त हो गया है। संस्कृत में भवभूति और भर्तृहरि पर कुछ अंशों में यही बात लागू होती है। कालिदास और शेक्सपियर की प्रतिभा इतनी उच्चकोटि की थी कि उनकी रचनाओं में प्रेरणा तथा परिष्कार की सम्मिलित प्रक्रिया स्वत: क्रियान्वित हुई है। किन्तु अधिकांश कवियों में प्रेरणा के साथ परिष्कार का प्रयास भी चलता रहता है और कभी-कभी वह प्रेरणा को दबोच भी लेता है, जैसा हम माघ में देखते हैं।

कवि प्रेरणा या भावावेश को ग्रहण करके उसे अपनी रचना में रूप-सौष्ठव प्रदान करता है। भावातिरेक की स्थिति में प्रसूत वस्तु को वह रूप (Form) देता है—उसे सजाता सँवारता और निखारता है।

काव्य सृजन की प्रक्रिया में चार क्रमिक अवस्थाएँ हो सकती हैं। प्रथम अवस्था में कवि ऐन्द्रिय अवबोध के द्वारा संस्कारों को ग्रहण करता है। ये ग्रहण किये हुए संस्कार दूसरी अवस्था में कवि के अवचेतन में जमा होते जाते हैं, और उसका सचेतन मन इनकी ओर से जागरूक नहीं रह जाता। तीसरी अवस्था में अवचेतन में दबे हुए ये संस्कार अचानक एक अन्त: प्रेरणा से उद्बुद्ध हो जाते हैं। चौथी अवस्था में मन इन उद्बुद्ध संस्कारों का अन्वीक्षण करते हुए इनको परिष्कृत रूप प्रदान करके प्रस्तुत करना प्रारम्भ करता है।

कवि-प्रतिभा

कवि का व्यक्तित्व सामान्य लोगों की तुलना में विशिष्ट होता है। उसे द्रष्टा तथा क्रान्तदर्शी कहा गया है। वह केवल वर्तमान को ही अपने समग्र यथार्थ में नहीं, देखता, अपितु उसके गर्भ में निहित अनन्त सम्भावनाओं को भी अपनी दृष्टि (Vision) से उद्घाटित करता है। इसीलिये अरिस्टाटिल ने कहा है—"कवि का यह कार्य नहीं है कि वह जो कुछ घटित हो चुका है उसका ब्योरा प्रस्तुत करे, वरन् उसका कार्य जो घटित हो सकता है, उसको दिखलाना है। कवि और इतिहासकार में वास्तविक

अन्तर यह नही है कि एक गद्य मे लिखता है, दूसर गद्य मे, अपितु वास्तविक अन्तर यह है कि इतिहासकार जो घट चुका है, उसका वर्णन करता है और कवि जो घट सकता है उसका।"[१]

कवि की इस विशिष्ट दृष्टि की चर्चा भारतीय और पाश्चात्य विचारको द्वारा बार-बार की गयी है। राजशेखर के मत मे कवि "सारस्वत चक्षु" से सम्पन्न होता है। "यह सारस्वत चक्षु वाणी और मन से अगोचर समाधि द्वारा स्वय यह निश्चय कर लेता है कि यह विषय पूर्व कवियो द्वारा अस्पृष्ट है या स्पृष्ट? सरस्वती महाकवि को सुषुप्ति की अवस्था मे भी काव्यानुकूल शब्द और अर्थ का ज्ञान करा देती है। किन्तु जो कवित्व शक्ति से हीन है, वे जाग्रतावस्था मे भी आखो के रहते हुए भी अन्धे हैं। दूसरे कवियो मे दृष्ट या उच्छिष्ट विषय के सम्बन्ध मे महाकवि अन्धे होते हैं और दूसरो से अदृष्ट सर्वथा नवीन विषयो मे उनकी दिव्य-दृष्टि होती है। वे अपनी प्रतिभा-प्रसूत दिव्य आखो से जिन नवीन तत्वो को देखते है, उन्हे तीन आखो वाले शंकर और सहस्र आखो वाले देवराज इन्द्र भी नही देख सकते।

"महाकवियो के मतिदर्पण मे समूचा विश्व प्रतिबिम्बित होता है। उन महात्माओं के सामने शब्द और अर्थ स्फुरित होने के लिये होड सी बदते रहते है। जिस वस्तु को समाधि-सिद्ध योगीजन दिव्य दृष्टि से देखते हैं, उसमे कविगण वाणी द्वारा विचरण करते रहते है। महाकवियो मे उपर्युक्त सभी अलौकिकताएं रहती हैं।[२] कवि नीलकण्ठ दीक्षित ने भी "सारस्वत चक्षु" की चर्चा की है तथा कवि को शिव से भी अधिक सर्वज्ञ कहा है।[३]

कवि की यह अलौकिक दृष्टि उसकी प्रतिभा मे अन्तर्निहित विशेषता है। कवि-प्रतिभा को भी भारतीय परम्परा मे दिव्य शक्ति माना गया है, साथ ही उसे प्रज्ञा का एक रूप भी कहा गया है। भट्टतौत के अनुसार नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा है।[४] अभिनवगुप्त ने भी "अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' को प्रतिभा बतलाया

---

१. Aristotles : Theory of Poetry and Fine Art, P. 65

२. काव्यमीमासा, अ० १२, पृ० १५३–५४

३. शिवलीलार्णव, १।२०

४ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता-

(काव्यानुशासन, पृ० ३ पर उद्धृत)

है ।[1] प्रज्ञा एक विशेष प्रकार की बुद्धि है । राजशेखर के अनुसार बुद्धि तीन प्रकार की होती है—स्मृति, मति और प्रज्ञा । स्मृति अतिक्रान्त अर्थ कास्मरण कराती है और प्रज्ञा अनागत अर्थ का ज्ञान ।[2] इस प्रकार प्रज्ञा सामान्य मनुष्यों में नहीं हो सकती । अतएव कवि-प्रतिभा को अलौकिक और असामान्य वस्तु कहा गया । यह प्रतिभा कवि को अपूर्व वस्तु या रसाविशिष्ट सौन्दर्यमय वस्तु के निर्माण में सक्षम बनाती है ।[3]

प्रतिभा शक्ति के कारण ही कवि काव्यशास्त्र के संकीर्ण नियमों को तोड कर नवीन मार्गों का अवलम्बन करते हुए नये प्रतिमान स्थापित करने में समर्थ बनता है । अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के इस वैशिष्ट्य का निरूपण करते हुए कहा है--"इस प्रकृति-मधुर स्वातन्त्र्यरूप प्रतिभा शक्ति के ही कारण कालिदास जैसे कवि के काव्य में नियमों का अतिक्रमण भी सुगम-भाव में परिणत होता है ।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में सृजनात्मक सहजानुभूति (Creative Intuition) तथा सृजनात्मक कल्पना (Creative Imagination)—ये दो शब्द प्रतिभा से मिलते जुलते अर्थों में व्यवहृत होते हैं प्रतिभा की ही भांति सहजानुभूति को तार्किक अथवा बौद्धिक ज्ञान से सर्वथा भिन्न एक तर्कातीत शक्ति के रूप में स्वीकृत किया गया है । सहजानुभूति प्रत्यक्ष ज्ञान है । इसका आगमन सदैव रहस्योद्घाटन या आलोक के अवतरण के रूप में होता है । यह सहजानुभूति का लक्षण है कि वह बाहर से आती या अवतरित होती हुई प्रतीत होती है, साथ ही क्षणभंगुर भी प्रतीत होती है ।

---

१. ध्वन्यालोकलोचन । महिमभट्ट के अनुसार भी--

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ।।

२. काव्यमीमांसा, पृ० २४

३. तस्याः विशेषः रसावेशवैशद्यसौन्दर्यनिर्माणक्षमत्वम् ।-ध्वन्यालोकलोचन ।

यह अपूर्वता या नूतनता क्या है ? कुन्तक ने इसकी स्पष्ट व्याख्या'नूतनोल्लेख-लोकातिक्रान्तगोचर-निर्मिति'--को समझाते हुए की है । कवि ऐसी नूतन वस्तु की सृष्टि करता है, जो लोक को अतिक्रान्त या प्रसिद्ध व्यवहार को तिरस्कृत कर देती है । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कवि किसी ऐसी वस्तु का निर्माण करे जो सर्वथा अविद्यमान हो । वर्ण्यमान की सत्ता तो पहले से ही होती है, किन्तु सत्ता-मात्र से ही प्रतीत होते पदार्थ में भी कवि कुछ ऐसी विशेषता उत्पन्न कर देता है, कि वह अलौकिक तथा सहृदयहृदयानुरंजक बन जाता है ।

अभिनवगुप्त ने प्रातिभा ज्ञान को झटिति-प्रत्यय कहा है।[1] इस प्रकार प्रतिभा भी साक्षात् अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान है।

कवि-प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी तथा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा बतलाया गया है। प्रतिभा के सम्बन्ध मे हुये यह धारणा प्रतिभा और पाश्चात्यो की कल्पना इन दोनो के साम्य पर सोचने को बाध्य करती है। कल्पना-सम्बन्धी चिन्तनपरम्परा का समाहार करते हुए आई. ए. रिचर्ड्स ने कल्पना की निम्नलिखित ६ विशेषताओ का उल्लेख किया है—

१. स्पष्ट बिम्ब सर्जना।
२. आलकारिक भाषा—मुख्यतः रूपक का प्रयोग।
३. नवोन्मेष अथवा नूतन आविष्कार।
४. दूसरो की मानसिक स्थितियो का पुन सृजन।
५. असम्बद्ध समझे जाने वाली वस्तुओ का पुन.संयोजन।
६. परस्पर विरोधी गुणो का समजन अथवा सन्तुलन।

इस प्रकार कल्पना मे भी नवोन्मेष को एक तत्व माना गया है और भारतीय चिन्तको की प्रतिभा मे भी। पश्चिम मे कल्पना नूतन-सृष्टि-विधायिनी शक्ति के रूप मे निरूपित की गयी है। पर प्रतिभा पाश्चात्य चिन्तको की कल्पना से कही व्यापक अवधारणा है, क्योकि उसमे कल्पना के साथ-साथ सहजानुभूति का भी समावेश हो जाता है।

कवि कल्पना काव्य मे अनेक रूपो में उल्लेखित होती है। वस्तु जगत् के यथा-तथ्य चित्रण मे, लोकोत्तर या अतिरजित घटनाओ मे तथा मानवीकरण मे कल्पना के के रूप देखे जा सकते है। मानवीकरणात्मक कल्पनाओ मे कवि की सवेदना भी मिली रहती है। कवि अपना कल्पना के आश्रय से अपने जीवन को अधिकाधिक प्रशस्त बनाने के लिये एक नवीन मानवता की सृष्टि करता है और एक नये ससार मे जीवन का स्पन्दन उत्पन्न करता है। ईश्वर की उपनिषदो म कही गई एकोऽहं बहुस्याम् की भावना से प्रेरित होकर वह अपनी कल्पना द्वारा अपने अनेक रूप बनाता है और जडता मे भी मानवता की प्रतिष्ठा करता है। ध्वन्यालोकमे भी मानवीकरण की इस प्रवृत्ति को स्वीकार करते हुए कहा गया है—

---

१. काव्यात्मकविषयावलोकनेन झटित्येव प्रतिभाति।
अभिनवभारती, भाग २, पृ० २९८।

भावानचेतनानपि चेतनवत् चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति कविः काव्ये यथेष्ट स्वतन्त्रतया ॥ ३।४३

संवेदनशीलता कवि-प्रतिभा का एक वैशिष्ट्य है । कवि सामान्य मनुष्यो की अपेक्षा कुछ अधिक सवेदनशील होता है उसमे परिवेश के संग्रहण की तथा विचार और अनुभव करने की अधिक क्षमता होती है । अपनी संवेदना के कारण वह ससृति के कार्य-कलाप का अन्वीक्षण करके सहानुभूतिपूर्ण ढंग से उससे प्रभावित होता है । इस सवेदना के कारण वह सृजन की सामग्री अपने मस्तिष्क मे एकत्र करता है । सवेदनशीलता के कारण उसे जीवन की सामान्य घटनाएं भी आन्दोलित कर देती हैं । साथ ही, वह दूसरो की मानसिक प्रक्रियाओ को सहानुभूतिपूर्ण ढग से समझ कर उन्हे चित्रित कर पाता है । सवेदनशीलता उसे अपनी सीमित वैयक्तिकता से ऊपर उठकर समष्टि से एकाकार बना देती है ।

सौन्दर्य दृष्टि भी कवि-प्रतिभा मे रहती है । सुन्दर के प्रति सहज आकर्षण कवि के मन मे होता है । कवि की यह सौन्दर्य-चेतना काव्य मे अनेक रूपो मे प्रतिबिम्बित होती है, इसीलिए काव्य मे रसगत सौन्दर्य, आलकारिक सौन्दर्य, कल्पना-गत सौन्दय, शैलीगत तथा विधागत सौन्दर्य और भाषागत सौन्दर्य आदि व्यवहार होते हैं ।

व्यक्तित्व का विकास

ऊपर कुछ ऐसे उपादानो की चर्चा की गई है, जो सश्लिष्टरूप मे कवि-व्यक्तित्व को निर्मित करते है । कुछ तत्त्व ऐसे है, जो कवि व्यक्तित्व को विकसित होने में सहयोग देते हैं, या प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसे प्रभावित करते हैं । जैसे—

सांस्कृतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि ।
सामसामयिक परिवेश (साहित्यिक वातावरण, सस्कृति, समाज आदि) ।
कवि का अभिजात्य (वंश, परिवार आदि)
कवि का जीवन—उसकी भौतिक परिस्थितिया आदि—तथा
काव्य रचना का अभ्यास ।

१—सांस्कृतिक तथा साहित्यिक पृष्ठभूमि

कवि अपनी क्रान्तदर्शी प्रतिभा मे अतीत की गरिमामय उपलब्धियो को काव्य मे रूपायित करता है । सास्कृतिक रिक्थ उसके व्यक्तित्व मे संग्रहीत हो उठता है । वह अपने पूर्ववर्ती कवियो तथा उनकी कृतियो का अध्ययन करता है तो उनसे भी वह प्रभावित होता है । उसका यह अध्ययन तथा सामयिक युग का पर्यवेक्षण उसको

प्रतिभा या सर्जनात्मक कल्पना, सवेदना तथा सौन्दर्य-चेतना के विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। कालिदास अश्वघोष की प्रतिभा पर हम वाल्मीकि की अमिट छाप देखते हैं। इसी प्रकार कालिदास के व्यक्तित्व मे उनको समसामयिक संस्कृति के साथ वैदिक सस्कृति और पूर्ववर्ती गरिमामय परम्परा का दाय प्रतिबिम्बित है। परवर्ती कवियो की प्रतिभा को कालिदास ने अनुप्राणित किया है। संस्कृत के प्रायः सभी कवि वेद, इतिहास-पुराणो और प्राचीन सस्कृति से प्रभावित हैं।

समसामयिक परिवेश

कवि को काव्य-सृजन की प्रेरणा या तो अपने आसपास के जीवन से मिलती है अथवा प्राचीन साहित्य से। प्राचीन साहित्य से विषय-वस्तु को लेकर भी वह अपने समकालीन समाज, सस्कृति तथा वातावरण से कटकर नही रह सकता। इस प्रकार कवि के व्यक्तित्व पर उसके सामयिक समाज तथा संस्कृति का प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पडता है। यदि वह अपने समय के वातावरण से निरपेक्ष रह कर प्राचीन जीवन-मूल्यो से ही बंधा रहता है तो वह सच्चा कवि नही है।

व्यक्ति समाज के बीच ही आँखें खोलता है, उसी के बीच वह रहता है, और अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। जन्म से ही समाज की चेतना उसकी चेतना मे समाने लगती है। वह अपने चारो ओर स्पन्दित होते हुए जीवन को देखता और समझता है तथा उससे प्रभावित होता है। वह अपने चारो ओर के जीवन से प्रभावित होकर उसे काव्य मे रूपायित करता है। "महान् साहित्य जीवन के भीतर से पनपता है और यही उसकी शक्ति का रहस्य है। साहित्य मे उन सभी वस्तुओ का चित्रण मिलता है जिन्हे मनुष्य या समाज ने जीवन मे देखा या अनुभव किया है या उसके विषय मे जो कुछ भी सोचा है।' यहा जीवन का अर्थ उसके व्यापक परिप्रेक्ष्य मे ही लिया जाना चाहिये। जीवन किसी का भी हो सकता है—व्यक्ति का, समाज का, देश का या समूचे विश्व का भी।

कवि अपने युग, समसामयिक परिवेश तथा संस्कृति की उपज होता है। इनके बीच जीता हैं, इनसे प्रभावित होता तथा अपने विराट् व्यक्तित्व द्वारा कभी कभी इन्हे प्रभावित भी करता है। कालिदास अपने युग मे ही हो सकते थे, आज के कुण्ठा अनास्था और भौतिकवादी संस्कृति से ग्रस्त वातावरण के बीच कालिदास का जन्म लेना कठिन है। माघ का विशाल पाण्डित्य और बहुविध ज्ञान तथा विलासमयी प्रवृत्ति भी उनके युग की देन है। हर्ष का दार्शनिक व्यक्तित्व भी अपने युग की निम्न और हेय कामुक वृत्तियो से पिच्छिल और पंकप्राय हो गया है।

सभी साहित्यकार अपने युग के सहित्यिक और कलात्मक वातावरण से प्रभावित हुए है। वाल्मीकि की सरल और प्राजल शैली कविता के उषकाल मे ही प्रस्फुटित हो सकती थी, जब काव्य के प्रवाह को राजसभा के उन्नत प्राचीरो ने अवरुद्ध नही किया था। कालिदास, माघ और भारवि की अलंकृत शैली भी वैभव और विलास से इठलाती हुई राजसभा के साहित्यिक वातावरण के बीच ही पनप सकती थी और इसी प्रकार परवर्ती सस्कृत कवियो की कृत्रिम शैली भी उसी वातावरण की उपज थी, जिसमे संस्कृत का काव्य जनता से दूर हटकर पण्डित सभाओ और गोष्ठियो की ही वस्तु रह गया था।

कवि की सौन्दर्य-चेतना भी सामयिक तथा समाजगत या जातिगत विश्वासो और धारणाओ से परिचालित हो सकती हैं। किसी रमणी के लम्बे-लम्बे कृष्णकुन्तल भारतीय कवि के मन मे आनन्द की जो हिलोर उपजाएगे, वह किसी अग्रेज कवि के मन मे नही। वह किसी आग्ल रमणी के छोटे-छोटे भूरे या सुनहरे बालो पर ही लट्टू होगा। चन्द्रमा किसी युग मे जिस प्रकार कवि मानस को अन्दोलित किया करता था, उस प्रकार आज की विक्षुब्धकुण्ठा ग्रस्त नई पीढी के कवि को नही।

श्री अरविन्द का कथन हैं—"अन्तर्दृष्टि नितान्त वैयक्तिक वस्तु नही, वह कवि के समसामयिक युग तथा समाज के मस्तिष्क, विचारधारा और उपलब्धियो पर भी निर्भर है। एक छोटा-मोटा कवि भी कभी कभी महान् युग मे पैदा होकर महान् काव्य को सजना कर सकता हैं और एक महान् कवि भी कभी कभी अनुकूल परिवेश के अभाव मे उतने अच्छे काव्य की रचना नही कर पाता मध्ययुगीन भक्ति-काव्य मे भावनाओ की जितनी गहराई है, उतनी प्राचीन महाकाव्यो मे नही मिलती, यद्यपि मध्ययुग का कोई भी कवि वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवियो के सामने ठहर नही सकता।[१]

आलोचक हड्सन ने यह ठीक ही कहा है कि कला और जीवन का सम्बन्ध दोहरा होता है। कलाकार की चेतना जहाँ समकालीन जीवन और परिवेश के साचे मे ढलती है, वही वह जीवन और परिवेश को प्रभावित भी कर सकती है।

इस प्रकार कवि समाज का एक अग होकर भी, उसकी परम्परओ के बीच पल कर भी, उसके द्वारा बनाये गये नियमो और परम्पराओ को तोड भी सकता है तथा नया स्वस्थ परम्पराओ की स्थापना कर सकता है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय नियमो

१. Future Poetry P. 50

और व्यर्थ की रूढियो के जाल को मुद्राराक्षसकार विशाखदत्त ने अपने प्रतिभा के फौलादी हथौडे से चूर-चूर करने नयी परम्पराओ की स्थापना की थी। इसी प्रकार भवभूति ने अपने समसामयिक साहित्यिक वातावरण मे आयी हुई जडता को तोड कर उत्तररामचरित द्वारा उसे नयी गति देने का प्रयास किया। चित्रकाव्य और अलंकृत शैली के युग मे कल्हण की लेखनी से आदिकाव्य के जैसी सरल प्रांजल प्रसाद रम्य कविता का प्रवाह प्रसृत हुआ था। इतिहास मे यदि ऐसे कवियो के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होने अपने युग और परिस्थितियो की प्रेरणा और प्रभाव से काव्य रचना की, तो ऐसे कवियो के उदाहरण भी मिलते हैं, जिन्होने अपनी प्रतिभा के नवोन्मेष द्वारा समूची साहित्यिक परम्पराको नये आयाम और नये मोड दिये, अथवा अपनी क्रान्तदृष्टि द्वारा समग्र युग और समाज मे नयी चेतना जाग्रत की।

अभिजात्य

किसी भी व्यक्ति मे आनुवंशिक तथा पैत्रिक गुण अनिवार्य रूप से विद्यमान रहते हैं—ऐसा नही कहा जा सकता। वस्तुतः मनोविज्ञान अभी तक इस बात को पर्याप्त प्रमाणो से सिद्ध नही कर पाया है कि व्यक्ति मे उसके पूर्वजो या माता-पिता के गुण अनिवार्य रूप से सक्रान्त हो ही जाते हैं। हा, इस बात को प्रमाणित करने के लिए अवश्य प्रर्याप्त आकडे विद्यमान है व्यक्ति मे उसके माता-पिता आदि के शारीरिक गुण-वर्ण, सौन्दर्य, ऊंचाई, स्वाथ्य या शारीरिक विकृतिया आ जाती हैं। व्यक्ति की मानसिकता के निर्माण मे उसकी शारीरिकता का भी हाथ होता है। इस प्रकार व्यक्तित्व के निर्माण मे आनुवंशिकता का भी योग रहता है। संस्कृत कवियो के बीच ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं, जिनको प्रतिभा वंश-परम्परा या पैत्रिक रिक्थ के कारण विकसित हुई।

कवि का जीवन

कवि का जीवन जिन परिस्थितियो मे तथा जिस प्रकार से व्यतीत होता है उसका कवि के व्यक्तित्व के निर्माण तथा विकास और अवरोध मे प्रत्यक्ष योगदान रहा करता है। कभी कभी कवि को जीवन मे परिस्थितियो से सघर्ष करना पडता है– उसे अनेक ओर से निराशा हाथ लगती है या उसे निरुत्साहित होना पड़ता है। इस स्थिति में उसके व्यक्तित्व मे कुण्ठा, विक्षोभ और विद्रोह की भावना पनपती है, जैसा कि आरम्भिक रचनाओ मे हम भवभूति मे पाते हैं। यदि कवि को जीवन मे पर्यटन तथा देश-भ्रमण के अवसर अधिक प्राप्त होते हैं तो इससे उसका अनुभव बढता है तथा उसके व्यक्तित्व के चारित्रिक पक्ष मे सासारिक ज्ञान की अभिवृद्धि होती है। कालिदास तथा बाणभट्ट

यह वैशिष्ट्य विद्यमान है। कवि का जीवन जब राजसी वैभव, ऐश्वर्य और विलास के बीच पलता है तो उसका व्यक्तित्व उसी के अनुरूप विकसित होता है और उस परिस्थिति मे उसका ध्यान जीवन के उच्चतर मूल्यो या अन्य पक्षो की ओर प्रायः नही जा पाता। संस्कृत के माघ या श्रीहर्ष जैसे कवि इसी कारण ऐश्वर्य और विलास की संकुचित परिधि के बाहर नही जाते।

काव्य-रचना का अभ्यास

काव्य रचना का अभ्यास कवि के व्यक्तित्व मे परिष्कार लाता है, सर्जनात्मक कल्पना को समुत्तेजित करता है तथा उसे उसे उर्वर बनाता है और इस प्रकार कवि के व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियो ने अभ्यास को अत्यधिक महत्व दिया है। मगल नामक आचार्य ने तो यहा तक कहा है कि काव्य-निर्माण के लिये अभ्यास ही पर्याप्त है, प्रतिभा और व्युत्पत्ति की कोई आवश्यकता नही।[1]

राजशेखर ने निरन्तर अनुशीलन को अभ्यास कहा है।[2] उनके अनुसार समाधि काव्य-रचना का आन्तरिक प्रयत्न है और अभ्यास बाह्य। ये दोनो कवित्व-शक्ति को उत्पन्न करते है।[3]

काव्यरचना तथा कवि के व्यक्तित्व के विकास के लिये अभ्यास का महत्त्व पश्चात्य आलोचको ने भी स्वीकार किया है। एफ० डब्ल्यू० लुकास ने अपने "लिटरेचर एण्ड सायकालाजी" नामक ग्रन्थ मे अनेक उदाहरण देते हुए यह प्रतिपादित किया है कि महान् कलाकारो ने अपनी रचनाओ को पुन. सशोधित, परिष्कृत तथ परिमार्जित बनाने मे अथक परिश्रम किया है। यद्यपि शैली जैसे कवि का अपनी रचनाओ को सुधारने या परिवर्तित करने मे बिल्कुल विश्वास नही था, उसके अनुसार कवि प्रेरणा के क्षणो मे जो लिख जाता है, वह किसी भी प्रकार के संशोधन की अपेक्षा नही रखता, परन्तु स्वयं शैली के ही काव्य मे, जो सदैव भावाविष्ट दशा मे ही काव्यप्रणयन मे तत्पर हुआ करता था, अनेक पक्तिया ऐसी मिलती हैं, जो चेतन मन के प्रयत्नो से थोड़ा परिवर्तन करने पर कई गुना अधिक सुन्दर बन सकती थी। यह ठीक है कि प्रेरणा की स्थिति मे कवि के हृदय से कविता का अजस्र प्रवाह अनिर्बाध गति से फूट पड़ता है, जो अवचेतन मन के कार्य-कलाप पर ही प्रायः निर्भर रहता है, पर अवचेतन मन के लिये प्रायः कच्चा मसाला ही देता है, जिसे परिष्कृत रूप मे लाने का कार्य

---

१. काव्यमीमासा, पृ० २६। २ वही, पृ० २६ ३. वही।

चेतन मन को ही करना पड़ता है। अतः प्रेरणा की दशा समाप्त होने के बाद भी काव्य-रचना का अभ्यास या पूर्वसञ्चित काव्य को नया रूप देने का प्रयास सार्थक है। राजशेखर ने अभ्यास के महत्त्व पर जो कहा है वह युक्तिसगत है। उनके अनुसार—"भावावेश म लिखे गये काव्य की रचना करने वाली दृष्टि विवेचन नही कर पाती। अत. कुछ समय के पश्चात् उनके पुनः परीक्षण की आवश्यकता होती है।[1]" काव्य-रचना के अभ्यास मे कवि का चित्त जैसे-जसे काव्य-रचना मे आकृष्ट होकर संस्कारयुक्त बनता जाता है, वैसे-वैसे उसकी रचना, भाषा, भाव आदि परिमार्जित होते जाते हैं और उसी तारतम्य से उसके काव्य मे सौन्दर्य की वृद्धि होती जाती है।

यथा यथाभियोगश्च संस्कारश्च भवेत्कवेः।
यथा यथा निबन्धाना तारतम्येन रम्यता॥ का० मी० पृ० १३१

अन्यत्र राजशेखर ने लिखा है– निरन्तर अभ्यास से कवि के वाक्यो मे परिपक्वता आती है। यह पाक या परिपक्वता क्या है? मगल का मत है कि यह निरन्तर अभ्यास का परिणाम या परिपाक है।[2]

व्यक्तित्व के अध्ययन का महत्व

किसी भी कृति को कृतिकार के व्यक्तित्व से विच्छिन्न करके नही देखा जा सकता। काव्यकृति के वस्तुगत स्वरूप को जान लेने के उपरान्त जिज्ञासु सहृदय तथा समालोचक का ध्यान सहज ही उसके स्रष्टा के मनोगत अभिप्रायो को जानने की दिशा मे अग्रसर होता है। कृतिकार के व्यक्तित्व का ज्ञान होने पर उसकी कृति को समझना आसान हो जाता है। "स्वयं कवि के अध्ययन से आलोचना को यह लाभ होता है कि आलोचना सकीर्ण नही रह जाती। हम कवि को बंधे-बंधाये नियमो के अनुसार दोषी नही ठहराते। वह एक प्रकार की कविता करता है या दूसरे प्रकार का, और इसलिये अच्छा या बुरा है ऐसा निर्णय हम सहसा नही लेते। हम उसके मन के अन्त.स्तल मे प्रवेश करके यह जान लेते हैं कि वह अपनी पारिवारिक, सामाजिक या वैयक्तिक स्थिति मे ऐसी ही कविता कर सकता था। मनोविश्लेषण आलोचना को वैज्ञानिक पद्धति पर ले जाता है। वह कवि उसकी सामाजिक और पारिवारिक स्थिति मे और उसकी कृति मे एक कार्यकारण शृंखला स्थापित कर देता है।

---

१ रसावेशतः काव्यं विरचयतो न विवेक्त्री दृष्टिस्तस्मादनुपरीक्षेत। काव्यमीमासा पृ० १२८। २. वही, पृ० ४८।

प्राचीन काव्यशास्त्रियो ने काव्य को एक वस्तुगत सत्ता के रूप में ही प्राय देखा और इसी रूप मे उसके विश्लेषण का प्रयास भी किया। स्रष्टा की ओर उनकी दृष्टि गयी ही नही। किन परिस्थितियो मे तथा किस परिवेश मे कोई कालिदास या भवभूति जन्म लेता है और क्यो वह मेघदूत या उत्तररामचरित की रचना करता है—इस प्रकार के प्रश्नो का सामाधान ढूंढने के स्थान पर कृति के एक-एक अंश को लेकर वे उसकी छाछालेदर या उसमे गुण, रीति, अलकार आदि की मीमासा करते रहे। आलोचना की यह पद्धति एकागी थी। पश्चिमी समालोचकों का भी ध्यान प्रारम्भ मे कृतिकार की ओर इतना नही गया। जैसे-जैसे चिन्तन का विकास हुआ, समालोचना की दृष्टि व्यक्तिपरक होती गयी। फलत: समाचोचना की दो पद्धतिया विकसित हुई—जीवन-चरित्रतात्मक और मनोविश्लेषणात्मक। दोनो का आधार स्रष्टा का व्यक्तित्व ही है, अन्तर केवल इतना है कि प्रथम प्रकार की आलोचना स्थल घटनाओ पर अधिक बल देते हुए उनके परिप्रेक्ष्य मे काव्य का मूल्यांकन करने का प्रयास करती है और दूसरे प्रकार की आलोचना—स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म तत्त्व-कवि की मनः स्थिति को अधिक महत्त्व प्रदान करती है। समालोचना की ये दोनो दृष्टिया परस्पर पूरक हैं और इनके समर्थको ने यह निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया है कि कवि के व्यक्तित्व का अध्ययन समालोचना मे अनिवार्य है।

जीवनचरितात्मक आलोचना के प्रचारक सेंट ब्यव के अनुसार समालोचना का केन्द्र साहित्य के स्थान पर साहित्यकार होना चाहिये। उनका कहना है किसी भी साहित्य के अध्ययन के लिये साहित्यकार के जीवन का अध्ययन अनिवार्य है और उनके जीवन के प्रकाश मे ही उसकी कृति की व्याख्या होनी चाहिये। आलोचक के लिये यह अनिवार्य है कि वह साहित्यकार के जीवन को अध्ययन और शोध का विषय बनाये। उसके जीवन मे जन्म से लेकर जितनी महत्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं, उन सबका आकलन होना चाहिये। उसकी बाल्यावस्था, माता-पिता तथा बहन-भाइयो का शिक्षा एव शिक्षको का-सभी का अध्ययन होना चाहिये। इन सबके ज्ञान के बिना सेण्ट ब्यव के अनुसार किसी भी साहित्यकार का अध्ययन अधूरा ही रहेगा।

साहित्यकार की मानसिक दशा और उसकी मनस्थिति का साहित्य पर गहरा प्रभाव पडता है—यह हम देख चुके हैं। गीतिकाव्यो मे प्रत्यक्ष तथा प्रबन्ध काव्यो मे परोक्ष रूप से कृतिकार की भावनाएं, धारणाए, विचार आदि—उसके व्यक्तित्व के सभी पक्ष अभिव्यक्ति पाते हैं। कृति के अध्ययन से हम कृतिकार की मनस्थिति का विश्लेषण कर सकते है, उसके व्यक्तित्व के विभिन्न आयामो को समझ सकते हैं, तथा उसके जीवन के सम्बन्ध मे भी अनुमान लगा सकते है।

यदि प्राचीन कवियों के बारे में हमें बाह्य प्रमाणों द्वारा जानकारी उपलब्ध नहीं है तो क्या उनका उचित मूल्यांकन नहीं हो सकेगा ? वस्तुतः उन कवियों की जो रचनाएं प्राप्त होती हैं, उनके आधार पर ही उन कृतिकारों के व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण किया जा सकता है। व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का अध्ययन और साहित्य के अध्ययन से व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण---दोनों का मूल नीति समान है। दोनों रीतियां एक दूसरे की पूरक हैं और दोनों की सहायता समालोचना में ली जानी चाहिये। व्यक्तित्व के आधार पर साहित्य को समझने की जो सीधी रीति है, उसकी भी उपयोगिता है और साहित्य के अध्ययन से व्यक्तित्व को समझने की जो परोक्ष पद्धति है, वह भी महत्व-पूर्ण तथा उपयोगी है। इसी पद्धति को प्रस्तुत ग्रन्थ में अपनाया गया है।

प्रथम अध्याय

वाल्मीकि

रामायण और महाभारत दोनो ही विकसनशील महाकाव्य है। ये दोनो ही सम्पूर्ण युग की रचनाएँ है। दोनो मे ही अनेक कवियो की प्रतिभा का विकास दृष्टिगोचर होता है। फिर भी रामायण के कुछ प्रक्षिप्त अंशो को निकाल देने पर हम इसके सम्बन्ध मे असन्दिग्ध रूप से यह कह सकते है कि इसके रचयिता वाल्मीकि नामक कवि थे, वे भले ही किसी भी समय मे हुए हो, इसलिये रामायण एक ही कवि के व्यक्तित्व का निष्यन्द है।

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

वैदिक युग जनपदीय संस्कृति का युग था तो रामायणीय युग नागरिक संस्कृति का। परन्तु उस समय मम्यता का अरुणोदय हुआ ही था, अतः कृत्रिमता के सेतुओ ने जीवन के सहज प्रवाह को रोका नही था। फिर भी वैदिक संस्कृति की तुलना मे राजा का महत्त्व बहुत बढ गया था। बिना राजा के राज्य की कल्पना भी नही की जा सकती थी। यह वाल्मीकि रामायण के अराजक जनपद के वर्णन से स्पष्ट है।[1] "परन्तु राजा के लिए प्रत्येक कार्य मे मन्त्रिमण्डल से परामर्श लेना आवश्यक था तथा उसके अनुचित आचरण करने पर प्रजा उसके प्रति विद्रोह कर देती थी।"[2]

सामाजिक दशा

वैदिक युग के पश्चात् रामायणीय युग मे सामाजिक संश्लेषण की प्रक्रिया और भी द्रुत गति से हुई थी। व्यक्ति पर परिवार का, परिवार पर समाज का, और समाज पर राजा का नियन्त्रण था। समाज मे मनुष्य के सम्मान का मापदण्ड प्रायः उसका व्यवसाय या जन्म नही अपितु चरित्र ही था। समाज के सभी वर्णों के लोग—ब्राह्मण और क्षत्रिय भी—कृषि-कर्म को गौरव का व्यवसाय समझते थे।[3]

स्त्री की स्थिति उतनी समुन्नत नही रह गयी थी, जितनी वैदिक युग मे थी। उसे अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता नही थी और वह इस प्रकार के वातावरण मे पलती थी

---

१ रामा० अयोध्या० ६७।८-२६। २ वही ४०।२७; ४५।१,२। ३ रामायण मे त्रिजट नामक ब्राह्मण को भृग्वंगिरसः के साथ ही फालकुद्दाललांगली भी कहा है (२।३२।२६), १।६६।१३, १४ तथा २।१००।४७ भी द्रष्टव्य।

कि 'यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति'[१] की धारणा उसके मन मे स्वतः बद्धमूल हो जाया करती थी। फिर भी, स्त्री की स्थिति उतनी शोचनीय नही हुई थी जितनी आगे चलकर हो गयी। विधवा-विवाह का प्रचलन था।[२] पर्दे की प्रथा प्रायः नही थी।[3] स्त्री समाज मे सभी के द्वारा रक्षणीय मानी गयी थो।[४]

रामायण काल मे ब्राह्मणो का प्रभाव सर्वातिशायी था। उनकी अप्रसन्नता से समाज के सभी वर्ग घबडाते थे।[५] ब्राह्मणो को राज्य की ओर से अन्य वर्गो की अपेक्षा अधिक सम्मान दिया जाता था।[६] ब्राह्मणो की वृत्ति उन्च मानी गयी थी। ब्राह्मण स्वयं भी पवित्र, कर्त्तव्यरत, जितेन्द्रिय तथा दान और अध्ययन मे लगे रहने वाले थे।[७] ब्राह्मण तथा क्षत्रियो के सम्बन्ध सौहार्दपूर्ण थे। क्षत्रियो का कर्त्तव्य था—

दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि। २।४०।७
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति। ३।१०।३

ब्राह्मण रामायणकालीन समाज के मस्तिष्क थे और क्षत्रिय उसकी भुजाएँ। वेश्यो और शूद्रो से समाज मे आर्थिक सम्पन्नता की अभिवृद्धि होती थी। अपनी संख्या और धन के कारण वैश्य समाज के अत्यन्त ही प्रभावशाली नागरिक हुआ करते थे। राजकार्य मे उन्हे यथेष्ट महत्त्व प्राप्त था द्विज होने के नाते उनके धार्मिक सस्कार ब्राह्मणो और क्षत्रियो की ही भाँति हुआ करते थे। उन्हे यज्ञ मे उपस्थित होने तथा वेदपाठ करन का अधिकार था। शूद्रो की भी उपस्थिति यज्ञ मे वर्जित नही थी। पर उन्हे वेदाध्ययन का अधिकार नही था।"[८]

आश्रमो की सख्या निश्चित रूप से चार बन चुकी थी। राम के वनवास की आलोचना करते हुए भरत ने कहा था कि उनकी-सी आयु और पद के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम त्याग कर वानप्रस्थ जीवन स्वीकार करना असामयिक और अनुपयुक्त है।[९] रामायण मे गृहस्थाश्रम को तीनो ऋणो से अनृण होने तथा दुष्टो के विनाश के लिए उपयुक्त बताया गया है।[१०]

शिक्षा

अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि ऋषि-मुनियो के आश्रमो मे असंख्य विद्यार्थी

---

१. रामा० १।३१।२१। २. वही ३।४५।५-७। ३. वही ६।११७।२६। ४. यथात्मनस्तथान्येषा दारा रक्ष्या विपश्चिता। अर० ३।५०।८। ५. रामा० ३।४७।२, २।३५।११। ६ रामा० २।५।४, १।७६।६, २।६३।५०। ७. वही १।६।१३। ८. रामा० २।१००।६१, २।२४।२६, २।१४।५ ६।११६।२४,।

९. चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि॥ —२।१०६।२२।

१०. ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन्।

आकर अपने कुलपति की अधीनता मे शिष्यवृत्ति मे रहते थे। रामायण मे तीन प्रकार के स्नातको का उल्लेख है—"विद्या-स्नातक, व्रत-स्नातक और विद्याव्रत-स्नातक।"[1]

धार्मिक स्थिति

वेदो को रामायणकाल मे सर्वोच्च महत्त्व प्राप्त था। द्विज वैदिक साहित्य मे उल्लिखित कर्मकाण्ड के निष्ठावान अनुगामी थे।[2] "धार्मिक दृष्टि से पूर्वाह्ण मे स्नान, अर्घ्य, तर्पण, मार्जन, प्राणायाम, गायत्री जप, होम तथा देवतार्चन करना आवश्यक था।"[3] स्त्रियो के लिए भी सन्ध्योपासना तथा अग्निहोत्र का विधान था।"[4] देवताओ की पूजा का अत्यधिक महत्त्व था और उसके लिए अनेक स्थानो पर मन्दिर बने थे, जिन्हे हम सार्वजनिक देवस्थान कह सकते है।

धर्म की परिधि मे सदाचार की भी गणना की गयी थी। दैनिक जीवन मे व्यवहार की सरलता तथा नम्रता का विशेष स्थान था। रामायण काल मे सभ्यता, शिष्टता, मधुर संवाद, विनम्र व्यवहार और उच्च शिष्टाचार का युग था। सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए ये आदर्श थे। रामायणकालीन शिष्टाचार सदा से भारतीय संस्कृति का आदर्श रहा है।

दैनिक जीवन मे ज्योतिष तथा मुहूर्त को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। दैव के सर्वातिशायी प्रभाव मे तत्कालीन समाज की दृढ आस्था थी। निमित्त या शकुन मे भी सार्वजनिक विश्वास था। भूत-प्रेत मे भी लोग विश्वास करते थे।[5]

कला

वैदिक युग के पश्चात् चित्रकला, वास्तुकला, संगीत, रंगमंच, नृत्य आदि का पर्याप्त विकास हुआ था। नगरो मे विशाल, सुन्दर तथा कलात्मक भवन धनिको द्वारा बनवाये जाते थे, जिनमे चित्रशालाएँ हुआ करती थी।[6] शिबिकाएँ भी चित्रित हुआ करती थी। हाथियो के मस्तक और रमणियो के कपोलो पर सुन्दर चित्रकारी की जाती थी।[7] वाल्मीकि के समय तक भव्य मूर्तियो का निर्माण भी होने लगा था।[8] संगीत को समाज मे अतिशय प्रतिष्ठा प्राप्त थी।[9] नृत्य[10], नृत्त[11] तथा लास्य[12] इन तीनो का प्रचलन था, नृत्य मे भावाभिव्यञ्जन पर विशेष ध्यान था।

---

१. रामायणकालीन समाज, व्यास, ५०, ६३। २ वही, पृ० ८७-८८। ३. रामायणकालीन संस्कृति—वही, पृ० २३६। ४. वही, पृ० २४१। ५ वही, पृ० ३३-३४। ६. रामा० ५।६।३६, २।१०।२३। ७ वही ४।२५।२२-२४। ८ वही ६।१२।१४, ७।९९।७। ९ रा० ७।९४।२-३, १।४।१, १।४।२७-२८, १।४।३३। १०. रा० २।२०।१०। ११. रा० ४।५।१७। १२ रा० २।६९।४।

साहित्यिक परम्परा तथा प्रेरणास्रोत

वाल्मीकि के पूर्व वेद, ब्राह्मण तथा उपनिषदो मे से कुछ की रचना हो चुकी थी। वैदिक युग भारतीय कविता का उष:काल माना जा सकता है। इस युग मे ऋषियो द्वारा यज्ञ मे विनियुक्त होने वाले या गूढ आध्यात्मिक अर्थ वाले मंत्रो की ही रचना नही हुई, अपितु इनके समानान्तर जनता का साहित्य भी विकसित होता रहा। इस युग मे वेदमंत्रो के अतिरिक्त, ऐतिहासिक काव्य, पौराणिक गाथाएँ भी रची जाती थी।[१] अथर्ववेद मे इतिहास-पुराण तथा गाथा और नाराशंसी की चर्चा मिलती है। गाथा-नाराशंसी ऐसे काव्य की अभिधा है, जो राजाओ या जनता के मनोरंजन के लिए चारण आदि के द्वारा गाकर प्रस्तुत किया जाता था। इसमे वीरतापूर्ण कृत्यो का वर्णन प्रधानतया होता था। कुछ विद्वानो के मत मे इस प्रकार की रचनाएँ ही आगे चलकर रामायण और महाभारत के रूप मे विकसित और संकलित हुई।

वैदिक युग मे अध्ययन का प्रमुख विषय था—छन्द। छात्रो को छन्द:शास्त्र के सिद्धान्तो का पूर्ण परिचय प्राप्त करना होता था। काव्य-रचना के लिए भी उन्हे प्रेरित और प्रोत्साहित किया जाता था।[२] पुराने कवियों द्वारा रचित सूक्तो को समझने की चेष्टा की जाती थी तथा उनका अनुकरण भी होता था। उदीयमान तथा लब्धप्रतिष्ठ कवि पुराने कवियो से भी अच्छे सूक्त बनाने की महत्त्वाकाक्षा रखते थे। कुछ कवि तो यह दावा भी करने लग गये थे कि उनकी रचनाएँ पूर्ववर्ती कवियो की रचनाओ से श्रेष्ठ है।[३] कीथ ने ऋग्वेद मे कवियो द्वारा अपने आश्रयदाता राजाओ की प्रशस्ति वाले सूक्तो तथा राजाओ द्वारा आश्रित कवियो को पुष्कल पारितोषिक दिये जाने के उल्लेखो का सन्दर्भ दिया है।[४] इस प्रकार कविता को राज्याश्रय भी प्राप्त हो चुका था।

ऋग्वेद काल मे कवियो के अनेक स्तर थे। ऋग्वेद मे एक स्थान पर कवियो के कवि (महाकवि) की चर्चा है।[५] ऋषि प्रथम कोटि के कवि थे। ऋषि शब्द का प्रयोग ऋग्वेद मे प्राय: सर्वत्र अन्त:प्रेरित कवि के अर्थ मे हुआ है। ऋषि समाज के अगुवा थे तथा इनकी काव्य-प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त माना जाता था।[५] मुनि भी उन कवियो को कहा जाता था जो अन्तर्मुखी वृत्ति से अनुप्राणित या अन्त:प्रेरित होते थे। विप अथवा विप्र कोटि के कवि भावान्दोलन और भावावेश की स्थिति मे काव्य-सजना मे तत्पर होते थे। इनके अतिरिक्त कीस्त, कीरि, कारु या तष्ट आदि शब्दो का

१. संस्कृत साहित्य मे कवि शिक्षा, पृ० ५५। २. प्राचीन भारत में शिक्षा, अल्तेकर, पृ० ११०-११। ३. ऋग्वेद, १।१।२, ५।१५।४, ७।३५।१४, ३।३२।१३। ४ संस्कृत-साहित्य का इतिहास, कीथ, पृ० ५२। ५. संस्कृत-साहित्य मे कवि शिक्षा, पृ० ५५-५६। ६ वैदिक इंडेक्स, पृ० १३०।

प्रयोग ऋग्वेद मे सामान्य कवि अथवा स्तोता के अर्थ मे किया गया है। ऋषि वैदिक युग का आदर्श कवि था। वास्तव मे ऋषि और कवि दोनो का वैदिक युग मे समान माना गया था।[१] इस प्रकार के कवियो के सम्बन्ध मे मान्यता थी कि वे अन्तःसाधना से संचित आन्तरिक शक्तियो के द्वारा शारीरिक सीमाओ का उल्लंघन करके वायु मे विहार कर सकते है, अदृश्य या दृश्य सबको देख सकते है और सब देवताओ से सायुज्य प्राप्त कर सकते हैं।[२]

काव्य के क्षेत्र मे वैदिक युग भावो तथा विचारो की निश्चल अभिव्यक्ति का युग था। काव्य मे कृत्रिमता तथा अलंकारशास्त्रीय नियमो के अनुकरण का कोई स्थान नही था। ऋग्वेद मे कविता का मूल स्रोत हृद् या हृदय कहा गया है।[३] इस युग की विचारधारा के अनुसार ऋचाएँ भावुक कवियो के अन्तस्तल से निर्बन्ध तथा उद्दाम वेग के साथ ऐसे हो प्रवाहित होती है जैसे मेघो से निर्घोष अथवा पर्वतों से जलधाराएँ। ऋचाओं के कवि हृदय से इस अनिर्बाध प्रवाह की घृतधारा अथवा सोम से तुलना की गयी है।[४] इस प्रकार नैसर्गिक भावोद्रेक को इस युग मे काव्य-सर्जना के लिये अनिवार्य माना गया था।[५]

उपर्युक्त परिस्थितियों ने वैदिक कवियो के व्यक्तित्व को प्रभावित किया था। वैदिक सभ्यता के प्रथम काल मे आर्य अनवरत रूप से विजय तथा विजय-गान मे रत थे। उस समय वैदिक कवियो ने महान विजेता इन्द्र का आदर्श सामने रखा। कर्मकाड तथा आडम्बर के लिए उस युग मे स्थान नही था, इसीलिये कवियों के मुख से सहज प्रेरणा-जन्य स्फोत वाग्धारा प्रवाहित हुई। इसके पश्चात् व्यवस्था और संगठन का युग आया। इस द्वितीय काल मे मन्त्रो का दर्शन या निर्माण प्रायः हो चुका था। क्योकि परिवर्तित नूतन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो मे मन्त्रो के दर्शन या निर्माण की पहले जैसी प्रेरणा नही थी। इस समय श्रुति-परम्परा द्वारा प्राप्त मन्त्रो को गुरुशिष्य की परम्परा द्वारा प्रवचन-पद्धति से सुरक्षित रखने की ओर अधिक ध्यान था, पर साथ ही उन मन्त्रो के अनुकरण पर नवीन मन्त्रो की रचना भी होती रही। याज्ञिक कर्मकाण्ड का श्रीगणेश इस युग मे हो चुका था, पर वह अभी अपने शैशव मे ही था, अतः कृत्रिमता तथा आडम्बर के स्थान पर उसमे स्वाभाविकता तथा सरलता विद्यमान थी। यज्ञ समस्त जनता की भावनाओ का प्रतिनिधि था तथा उसके माध्यम से समाज मे संगठन व एकता रखने की योजना क्रियान्वित हुई थी।

1. Kuruushetra University Journal, April, 1969 मे हरिश्चन्द्र वर्मा का लेख। २. ऋ० १०।१३६।३-४। ३. ऋ० १०।९१।१४, २।३५।२। ४. ऋ० १०।६८।१, ४।५८।६ ४।५८।५। ५. द्रष्टव्य ऋ० १०।८९।४, २।३५।२, १।१०५।१५।

साथ ही श्रद्धा, भक्ति और उल्लास की भावनाओं का मूर्तीकरण ही याज्ञिक क्रिया का आधार था, इसीलिये इस युग मे याज्ञिक विनियोग के लिये लिखे गये सूक्तो मे भी कवियो की हार्दिक भावनाओ की अकृत्रिम अभिव्यक्ति मिलती है।

वेदो मे अनेक स्थल ऐसे मिल जाते है जिन्हे उत्कृष्ट काव्य का निदर्शन कहा जा सकता है। उषस् सूक्तो मे वैदिक कवियो की शृंगार भावना और मनोरम कल्पनाओ के दर्शन होते है तो इन्द्र, मरुत् और रुद्र के सूक्त अपनी ओजस्विता और वीर-भावना के कारण हृदयावर्जक बन पडे है। अनेक स्थानो पर वेदो मे अत्यन्त ही रमणीय काव्य बिम्बो, उपमाओ, उत्प्रेक्षाओ तथा रूपको की सृष्टि की गयी है। मरुत् की स्तुति मे कवि कहता है—तुम्हारे डर से वृक्ष रथ पर चढी हुई स्त्री के समान कांपते है (ऋ० १।१२३।५)। दूरारूढ न होने पर भी वेद के कवियो ने कुछ स्थानो पर इतने सक्षम और समर्थ बिम्बो की सृष्टि की है कि पाठक उनकी मार्मिकता से अभिभूत हुए बिना नही रहता। एक कवि कहता है—'जैसे पिपासित मृग को भेडिया खा जाता है, वैसे ही मुझे व्याधि खा रही है' (ऋ० १।१०५।७)। एक दूसरे स्थल में कहा गया है कि व्याकरण से अनभिज्ञ व्यक्ति वाणी को देखता हुआ भी नही देखता और सुनता हुआ भी नही सुनता, किन्तु व्याकरण के ज्ञाता के लिये वाणी अपना स्वरूप उसी प्रकार खोल देती है, जिस प्रकार शोभन वस्त्रो मे सुसज्जित कामिनी अपने आपको पति के समक्ष समर्पित कर देती है (ऋ० १०।७१।४)। इस प्रकार की कल्पनाएँ जीवन की सच्ची समझ और अन्तरंग अनुभूति से ही उद्गत हो सकती है। उषस् सूक्तो मे तो उषस् को सूर्य की माता या प्रेयसी के रूप मे चित्रित करते हुए कवियो ने रमणीय कल्पनाओ के अम्बार लगा दिये है।

रामायण और महाभारत—दोनो ही विकसनशील महाकाव्य है। सम्पूर्ण युग की रचनाएँ है। महाभारत की रचना का प्रक्रम सम्भवत: रामायण की रचना के पूर्व हो चुका था। पर निश्चय ही रामायण की रचना पूरी हा जाने के शताब्दियो बाद तक महाभारत का कलेवर बढता रहा। ऋग्वेद के दसवे मण्डल मे महाभारत के शान्तनु आदि कुछ पात्रो के नाम मिलते है। सम्भव है महाभारत के तीन संस्करणो —जय, भारत तथा महाभारत—मे जय की रचना रामायण के पूर्व हुई हो।[1]

विषयवस्तु का कुशल संयोजन तथा अद्वितीय चरित्रो के उपस्थापन मे महाभारत के रचयिता का प्रातिभ नवोन्मेष दृष्टिगोचर होता है। भीष्म, कृष्ण, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, द्रौपदी जैसे चरित्र—जिनके संबंध मे 'न भूतो न भविष्यति'

---

१. इस सम्बन्ध मे विण्टरनिट्ज का कथन द्रष्टव्य है—"Some parts of the Mahabharata reach back to the times of Veda while others must be synchronous with the late productions of the Purana Literature.—Winternitz, Indian Literature Vol I, p. 470.

की उक्ति ही पूर्ण सत्यता से चरितार्थ होती है, महाभारतकार की प्रतिभा से ही प्रसूत हो सकते थे। घटनाओ, वृत्तो और उपाख्यानो के संयोजन मे भी कविप्रतिभा का यही चमत्कार सामने आता है। महाभारतकार की कल्पना में कोमलता और रागात्मकता की अपेक्षा बलशालिता और गतिशीलता अधिक है। उसने जीवन को सहज और सच्चे रूप मे देखा है, अतः वह सौन्दर्य और विस्मय के किसी लोक मे नही, अपितु यथार्थ के धरातल पर ही विचरण करता है। फिर भी कुछ स्थलो पर महाभारत मे अत्यन्त ही सौन्दर्यमय रमणीय चित्र उकेरे गये है। चेदिराज के अन्तःपुर में परिचारिका बनी दमयन्ती का वर्णन ऐसा ही स्थल है—

मन्दं प्रख्यायमाणेन रूपेणाप्रतिमेण ताम्।
निबद्धा धूमजालेन प्रभामिव विभावसो ॥
चारुपद्मविशालाक्षी मन्मथस्य रतीमिव।
इष्टां समस्त लोकस्य पूर्णचन्द्रप्रभामिव ॥
पौर्णमासीमिव निशा राहुग्रस्तनिशाकराम्।
पतिशोकाकुला दीना शुष्कस्रोता नदीमिव ॥
विध्वस्तपर्णकमला वित्रासितविहङ्गमाम्।
हस्तिहस्तपरामृष्टा व्याकुलामिव पद्मिनीम् ॥
सुकुमारा सुजाताङ्गी रत्नगर्भगृहोचिताम्।
दह्यमानामिवार्केण मृणालीमिव चोद्धृताम् ॥
रूपोदार्यगुणोपेता मण्डनार्हाममण्डिताम्।
चन्द्रलेखामिव नवा व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ॥

(महा० ६।८।१७)

दासी के बेष मे अप्रतिम रूप वाली वह दमयन्ती ऐसी लग रही थी जैसे चन्द्रमा की आभा धूम से आच्छन्न हो। वह सुन्दर कमल के जैसी आँखो वाली; रति के समान मनोहर तथा संसार के लिये पूर्णचन्द्र की क्रान्ति के समान अभीष्ट थी। पति के विरह से शोकाकुल वह दमयन्ती पूर्णिमा की ऐसी रात के समान थी जिसमे चन्द्रमा को ग्रहण लगा हुआ हो। वह सूखे हुए जल वाली नदी जैसी लगती थी। वह ऐसी पुष्करिणी के समान थी, जिसके पत्ते और कमल हाथियो द्वारा तहस-नहस कर दिये गये थे, तथा जिसके पक्षियो को सत्रस्त कर दिया गया था। वह सुकुमार, सुजातागी तथा रत्नजटित महलो मे रहने योग्य दमयन्ती धूप से जलती हुई सी, उखाडी हुई कमलनाल सी लगती थी। रूप, औदार्य आदि गुणो से युक्त, अलकरण के योग्य होते हुए भी अनलकृत वह दमयन्ती आकाश मे नीले मेघ समूह से घिरी चन्द्रलेखा के समान थी।

महाभारत मे इस प्रकार की उत्कृष्ट कल्पनाओ का कुछ स्थानो पर कवि की हार्दिक सवेदना से योग हुआ है। ऐसे स्थल अपने भावबोध मे अनूठे है। सात महारथियो द्वारा अन्याय से मारे गये अभिमन्यु का चित्र ऐसा ही स्थल है। 'अभिमन्यु ने सारी कौरव सेना को वैसे ही मथ डाला, जैसे हाथी कमलो के समूह को रौंद डालता है पर वह अकेला बहुतो के द्वारा मारा गया जैसे व्याधो के द्वारा कोई वन्यगज मारा गया हो। तुम्हारी (धृतराष्ट्र की) सेना के लोगो ने गिरे हुए उसे वैसे ही घेर लिया जैसे जंगल को जलाकर बुझती हुई अग्नि को लोग घेर लेते है। पर्वत शिखरो को नष्ट-भ्रष्ट कर शान्त हुए झंझावात के समान, कौरव सेना को सन्तप्त करके डूबते हुए आदित्य के समान, डूबते हुए चन्द्रमा के समान, सूखते हुए सागर के समान, पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले घुँघराले बालो से आवृत नेत्रों वाले उस गिरे हुए अभिमन्यु को देखकर आकाश मे प्राणिगण रोने लगे' (द्रोण पर्व ४६।६-२२)।

इस प्रकार वैदिक युग से ही मन्त्रो, ब्राह्मणों, उपनिषदो और शुष्क गद्य शैली मे विरचित सूत्रो के साथ साथ गाथा-नाराशंसी आदि के रूप मे ऐसे काव्यो का निर्माण हो चला था, जिसमे सम्पूर्ण समाज और युग की आकांक्षाएँ और भावनाएँ प्रतिबिम्बित हुई थी, तथा जो जनसामान्य के लिये थे। जिस समय रामायण की रचना हुई, उस समय परम्परा से प्राप्त होने वाली कथाओ का वर्णन और श्रवण मनोरञ्जन का अत्यन्त ही लोक प्रिय प्रकार था। वनवासी ऋषिमुनि, राजसभा के चारण आदि अपने कथनो की पुष्टि में प्राचीन वीरों और महापुरुषों के आख्यान कहते थे। इस प्रकार के आख्यानो का मूल स्रोत पुराण था, जिसका उल्लेख रामायण मे अनेक स्थानो पर किया गया है।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि पुराण से यहाँ पर वर्तमान मे उपलब्ध किसी पुराण से आशय नही, अपितु उस समय समस्त परम्परागत पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान साहित्य को पुराण की सज्ञा दी जाती थी, जो वाल्मीकि के समय मे प्रचार मे था। वाल्मीकि ने आदिकाव्य के सर्जन मे अवश्य ही इस साहित्यिक धरोहर से प्रेरणा या सहायता ली होगी।

वाल्मीकि का प्रेरणास्रोत

ऊपर हमने पुराण-साहित्य का उल्लेख किया है, जो वाल्मीकि के पूर्व प्रचलित था। निश्चित प्रमाणो के अभाव में कहना कठिन है कि इस पुराण मे रामकथा थी या नही और थी भी तो किस रूप मे। वाल्मीकि ने कुशीलवो का उल्लेख किया है, जो जनता के बीच गा-गा कर रामायण की कथा का प्रचार करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि समाज मे रामकथा इन कुशीलवो के द्वारा तथा दन्तकथाओ के माध्यम से प्रचलित थी। वाल्मीकि ने तत्संबन्धी आख्यानो का संकलन करके उन्हे सुसम्बद्ध रूप प्रदान किया।

---

१. रामा० २।१५।१८, २।१६।१, १।९।१, ६।११७।४१, ४।६२।३।

रामकथा के संकेत वैदिक साहित्य मे ढूँढे जा सकते है। इक्ष्वाकु, दशरथ तथा राम के उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद मे आये है[1], पर वाल्मीकि ने वैदिक साहित्य से रामकथा का पल्लवन किया, ऐसा निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सीता के कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे वैदिक साहित्य मे प्रचुर उल्लेख उपलब्ध है।[2] वाल्मीकि की सीता से इस सीता का कुछ सम्बन्ध हो सकता है।

समसामयिक परिवेश - वाल्मीकि की प्रतिक्रिया और संग्रहण

वाल्मीकि के समय का समाज महाभारत मे चित्रित समाज से बहुत भिन्न नही है। यह तो सोचना अनुपयुक्त ही होगा कि जिन आदर्श स्थितियो का चित्रण वाल्मीकि ने अपने काव्य मे किया, वे सब उनके युग मे थी। इसके विपरीत, गहराई से अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि वाल्मीकि के युग का क्षत्रिय-समाज शौर्य से युक्त होने के साथ, औद्धत्य और विलास मे भी डूब चला था। महाभारत से जरासध, कंस, शिशुपाल आदि के उदाहरण दिये जा सकते है। रामायण मे भी दशरथ का अनेक रानियाँ रखना और कैकेयी को अत्यन्त विलास-लिप्त कामुक की भाँति मनाना, किष्किन्धाकाण्ड मे सुग्रीव के अन्तःपुर तथा उसकी कामक्रीडाओ के उल्लेख आदि से तत्कालीन शासको की विलासप्रियता को समझा जा सकता है। वाल्मीकि ने अपने समय के इस परिवेश को देखा तथा उनके प्रतिक्रिया स्वरूप ही राम का आदर्श काव्योपनिबद्ध किया, इसीलिये वे राम के मुँह से क्षत्रियो की विलासिता और औद्धत्य की निन्दा करवाते हैं। वाल्मीकि सवेदनशील तथा मृदुल प्रकृति के थे। उन्हे क्षत्रियो की अनुचित हिंसा-प्रियता तथा अनैतिकता बुरी लगती थी।

यही कारण है कि वाल्मीकि ने समसामयिक सन्दर्भों को लेकर कथा नही लिखी, अपितु एक ऐसी कथा का आश्रय लिया जो समाज मे पहले से प्रचलित थी और जिसमे वे अपने आदर्शो को प्रतिबिम्बित कर सकते थे। पर साथ ही एक उदारचेता कवि होने के कारण समसामयिक सन्दर्भो के बीच भी उन्हे जो महनीय और अनुकरणीय लगा, उन्होने उसे स्वीकार किया। अपने समय की कलात्मक अभिरुचि और सांस्कृतिक अभ्युत्थान को वाल्मीकि ने निश्चय ही पूर्णतया निरखा-परखा था पर उसकी विकृतियो की ओर से भी उन्होंने आँख नही मूँदी और अपनी तटस्थ दृष्टि के कारण बाद के कवियो की भाँति वे उसकी बुराइयो से उन्होने स्वयं को लिप्त नही होने दिया।

आभिजात्य तथा जीवन

वाल्मीकि के वंश और जीवन के विषय मे केवल इतना ही प्रामाणिक उल्लेखो के आधार पर कहा जा सकता है कि वे च्यवन ऋषि के वंश मे हुए थे, तथा तमसा नदी

---

१. रामकथा—बुल्के, पृ० १-२, २५। २ वही पृ० ७-२२।

के तट और चित्रकूट मे आश्रम बना कर रहते थे।[1] इसके अतिरिक्त कवि के जीवन पर रामायण से कोई प्रकाश नही पडता। उनके डाकू होने की कथा अध्यात्मरामायण, तत्त्वसारसंग्रह तथा कृत्तिवासीय रामायण मे मिलती है[2], जिस पर विश्वास नहीं किया जा सकता। महाभारत में भी इसका आभास है।[3]

रामायण मे प्रतिबिम्बित कवि के गम्भीर स्वभाव तथा उदात्त प्रकृति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होने जीवन मे अनेक उतार-चढाव देखे थे तथा अपने युग के श्रेष्ठ विद्वानो और ऋषियो के संसर्ग का लाभ भी पाया था।

मान्यताएँ तथा आदर्श

वाल्मीकि की सभी मान्यताएँ उन आदर्शो मे अनुप्राणित थी जो सस्कृति के समुन्नायको द्वारा अतीत मे प्रतिष्ठापित किये गये थे। वर्णाश्रमधर्म मे उनकी दृढ आस्था थी और आश्रमो मे वे गृहस्थाश्रम का सर्वश्रेष्ठ मानते थे—(चतुर्णामाश्रमाणा हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् . .... .२।१०६।२२)। रामायण को कवि ने मानो गृहस्थाश्रम के गौरवगान के लिये ही लिखा है। उपनिषदो और आरण्यको ने वैराग्य भावना का प्रचार करते हुए वानप्रस्थाश्रम की प्रशस्ति गायी है, उसकी प्रतिक्रिया मे वाल्मीकि ने आदिकाव्य मे प्रवृत्तिमूलक धर्म के महत्त्व को उपन्यस्त किया। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी आदि जितने आदर्शो का इस अनुपम महाकाव्य मे आदिकवि की शब्दतूलिका ने खीचा है, वे गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये है।[4]

वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार करते हुए वाल्मीकि ने सर्वत्र व्यक्ति का अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व दिया है, पर साथ ही वे समाज-व्यवस्था को हानि पहुँचाये बिना व्यक्ति के सर्वागीण विकास के लिये सभी सुविधाएँ देने को तैयार है। उनके आदर्श राम का समग्र जीवन इस सिद्धान्त से अनुप्राणित था कि जहाँ व्यापक या सामूहिक हितो की रक्षा का प्रश्न खडा हो, वहाँ सकुचित या व्यक्ति के हितो की बलि दे देना श्रेयस्कर है।

वाल्मीकि की सम्मति मे जीवन का सर्वोच्च आदर्श धर्म है। धर्म के महत्त्व का गुणगान करते हुए उन्होने लिखा है

> धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्। (२।२१।४१)
> धर्मादर्थ. प्रभवते धर्मात्प्रभवते सुखम् ॥
> धर्मेण लभते सर्व धर्मसारमिदं जगत्। (२।६।३०॰)

---

१. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ११७। २. रामायणकालीन समाज, पृ० ५। ३ वही, पृ० ५। ४. बलदेव उपाध्याय, रामायणकालीन समाज, पृ० ६४ पर उद्धृत।

सत्य उनकी दृष्टि मे सबसे बडा धर्म है। सत्य ही ब्रह्म है, सत्य में धर्म प्रतिष्ठित है, सत्य ही ईश्वर है तथा समस्त सृष्टि का मूल सत्य ही है ..

आहु सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जना.।
सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठित.।
सत्यमेवाक्षया वेदा सत्येनावाप्यते परम् ॥ (७।१४।३-७)
सत्यमेवेश्वरे लोके सत्ये पद्माश्रिता सदा।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥ (२।१०९।१३)

वाल्मीकि की सम्मति मे जीवन की धुरी नैतिकता है। वे नैतिक मूल्यो का उल्लंघन कथमपि नही सह सकते। वे जीवन को नैतिक मानदण्डो से संचालित देखना चाहते है। उनके युग मे पौरुष तथा दर्प से भरा हुआ क्षत्रियत्व नैतिकता की सीमाओं का उल्लघन करने लगा था। समसामयिक राजाओ और सामन्तो की विलासिता, बहुविवाह आदि प्रवृत्तियो की प्रतिक्रिया मे वाल्मीकि ने राम का आदर्श उपस्थित किया। वाल्मीकि की सम्मति मे भाग्य या दैव जीवन को अत्यधिक प्रभावित करता है तथा उसे किसी भी दिशा मे मोड सकता है। राम अपने वनवास का सारा दोष वनवास को ही देते है।[1] बालि के निधन पर वे पुनः कहते है :

नियतिः कारणं लोके नियति कर्मसाधनम्।
नियतिः सर्वभूताना वियोगेष्विह कारणम् ॥ (४।२५।४)

भाग्यवादी होते हुए भी वाल्मीकि का पुरुषार्थ मे अटूट विश्वास था। दैव की महत्ता को स्वीकार करके भी मनुष्य को अनवरत उद्यम-रत रहना चाहिये।[2] यह उनका आदर्श था। रामायण के सम्पूर्ण कथानक की व्यंजना पौरुष और उद्यम का पाठ सिखाती है। वाल्मीकि ने यत्र-तत्र अभिधा के द्वारा भी समाज को उत्साह सम्पन्न और कर्मठ बनाने के लिये कहा है :

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहसमं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥
उत्साहवन्तः पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु। (४।१।१२२-१२३)

जीवन मे वैराग्य का चोला पहनकर अकर्मण्य बन जाना वाल्मीकि को पसन्द नही। वे कर्मयोग के सिद्धान्त के समर्थक है :

अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेद परं सुखम्।
अनिर्वेदो हि सततं सर्वार्थेषु प्रवर्तकः ॥ (५।१२।१०)
करोति सफलं जन्तोः कर्म यत् यत् करोति सः ॥ (५।१२।११)

---

1. रामा० २।२२।१५-१८,३०। 2. वही ·२।२३।१६-१७।

कर्मफल में वाल्मीकि का दृढ विश्वास था। अपने शुभाशुभ कर्म का फल प्राणी को भोगना ही पड़ता है--(अवश्यमेव हि लभते फलं पापस्य कर्मण: – ६।११४।२५) शुभकृच्छुभमाप्नोति पापकृत्पापमश्नुते ॥ – ६।११४।२६)। वाल्मीकि के मत मे जैसे विषयुक्त अन्न खा लेने पर उसका दुष्परिणाम भोगना पडता है, उसी प्रकार पापकर्म का दुष्परिणाम भी अवश्य भोगना पड़ता हे।[१]

अपने युग की मान्यताओ के अनुरूप वाल्मीकि का शकुन[२], स्वप्नफल[३], ज्योतिष[४] जड़ीबूटी, पुनर्जन्म[५] तथा मन्त्रशक्ति[६] आदि मे विश्वास था। दान तथा तपस्वियो और ब्राह्मणो के सम्मान मे उनकी आस्था थी।[७] भोजन के संबन्ध मे वे मिताहार के समर्थक थे।[८] सुरापान से उन्हे घृणा थी।[९] प्रवृत्तिमूलक धर्म की वे आशंसा अवश्य करते थे पर भोगवादी संस्कृति के प्रबल विरोधी तथा आर्ष संस्कृति के परम पोषक थे। उनका आदर्श राम के शब्दो मे यह था :

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मा मृषिभिस्तुल्यं केवलं कर्ममास्थितम् ॥ (२।२९।३०)

वाल्मीकि जीवन का सर्वांगीण विकास चाहते थे, जिसका आदर्श राम मे प्रतिबिम्बित हुआ है। राम अस्त्रविद्या, संगीत, राजनीति तथा अनेक कलाओ मे विशारद थे।[१०] नैतिक गुण भी उनमे पूर्णत. विद्यमान थे। शारीरिक सौष्ठव और पराक्रम से वे सम्पन्न थे।[११] वाल्मीकि ऐसा ही आदर्श मानव समाज मे चाहते थे।

प्रेम, नारी तथा विवाह के सम्बन्ध में

कालिदास की ही भाँति वाल्मीकि प्रणयी युवामन के अन्धानुराग का समर्थन नही करते थे। वे उस गम्भीर प्रेम के समर्थक थे जो जीवन मे एक नई दृष्टि देता है और सम्बल प्रदान करता है। ऐसा प्रेम मात्र शारीरिक नही होता। दशरथ का कैकेयी के प्रति अनुराग मात्र शारीरिकता पर ही आश्रित था। अत: कवि ने स्थान-स्थान पर लक्ष्मण[१२] तथा स्वयं राम के मुख से भी उसकी निन्दा करवाई है।[१३] स्वयं दशरथ भी यह अनुभव करते थे कि विषयो मे लिप्त रहकर उन्होने मृत्यु और कृष्ण सर्प के समान कैकेयी को नही जाना।[१४]

---

१. रामा० ३।२९।८-९। २. वही १।७४।८-९, २।४१।७-१९, २।४१।१३, २।३।२३। ३. वही २।६९, ६।३५।२५-३५, ६।४१।१३-२१। ४. वही २।४।२१, २।२९।८-९, २।४१।११-१२। ५. वही २।४३।१८, ६।४।६। ६. वही ३।२९।२८, २।१२।७१, २।५०।२८। ७. वही २।३२।५।४५। ८-९. वही ४।३३।४५।

10 Studies in Ramayana, p. 97

११. रा० १।५।२०-२२, १।७९।२-४, २।२।२८-३४, २।१२।२५-३३।

१२. वही २।२१।२-३, २।३९।२-४। १३. वही २।५३।१०। १४. वही २।१२।८३।

वाल्मीकि के मत मे नारी-जीवन की सार्थकता पति के साथ एकात्मकता अनुभव करने मे है। सीता के शब्दो मे—'अन्योन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा' ..... (५।२१।१५) तथा 'अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः। व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः'—(५।२१।१७)। कवि की दृष्टि मे यही आदर्श प्रेम है, जिसमे प्रेमी अपने को प्रेमपात्र से भिन्न अनुभव नही करता, इसीलिये सीता के सम्बन्ध में अन्यत्र कवि का कहना है :

'रोहिणीव शशाकेन रामसंयोगमाप सा।' — — (२।१६।४२)।

आदर्श दाम्पत्य प्रेम एकपक्षीय नही होता। राम के मुख से कवि ने दाम्पत्य प्रेम का समुन्नत आदर्श उपस्थित किया है—

मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशित.।
ममापि भावः सीताया सर्वथा विनिवेशितः॥ (४।१।५२)

(सोता का वास्तव मे मेरे प्रति हार्दिक प्रेम है और मेरा सोता के प्रति)।

अन्यत्र पुन: इसो बात को कवि ने विशद किया है—

अकामा कामयानस्य शरीरमुतप्यते।
इच्छन्ती कामयानस्य प्रीतिर्भवति शोभना॥ (५।२२।४२)

वाल्मीकि विवाह की सार्थकता अपत्यलाभ मे मानते थे। 'रतिपुत्रफला: दाराः' में उनका विश्वास था। तभी राम के मुख से कवि ने भरत के प्रति प्रश्न करवाया है—

'कच्चित् ते सफला दाराः।' (२।१००।७१)

अपने युग की मान्यताओ के अनुरूप वाल्मीकि नारी-स्वातंत्र्य के विरोधी थे। उनके मत मे नारी सदैव पुरुष के आश्रित रहनी चाहिये। कन्या के रूप मे पिता,[1] पत्नी के रूप मे पति तथा माता के रूप मे पुत्र उसके संरक्षक हुआ करते हैं।[2] परन्तु स्त्री के लिये सबसे बड़ी गति पति ही है। पति के बिना स्त्री का जीवन निरर्थक है :

नातन्त्री विद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः।
नापतिः सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा॥ (२।३९।२)
न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणा पतिरेको गतिः सदा॥ (२।२७।६)

---

१. रा० १।३२।२१, १।३३।३। २. वही २।६१।२४।

स्त्री के सन्बन्ध मे समसामयिक विचारधारा से वाल्मीकि इतने प्रभावित थे कि सभी स्थितियो मे पति की सुश्रूषा को ही उन्होने नारी के लिये सबसे बडा धर्म माना :

अमितस्य हि दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत् । (२।३९।३०)
पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद् विधीयेते ॥ (२।११८।६)
नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुभः ।
यासा स्त्रीणा प्रियो भर्ता तासा लोका महोदयाः ॥ (२।११७।२१)
दु शीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जित. ।
स्त्रीणामार्यस्वभावाना परमं दैवतं पति ॥ (२।११७।२२)

पति का अनुवर्तन छोडकर व्रतोपवासनिरत उत्तम स्त्री भी युग के पूर्वाग्रहो से ग्रस्त कवि के लिये पापिनी थी । तभी तो राम के मुख से कवि ने कहलवाया :

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ।
भर्त्तारं नानुवर्त्तेत सा च पापगतिर्भवेत् ॥
भर्त्तुः सुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ।
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ॥ (२।२४।२५-२६)

स्त्री पतिपरायण या पति की आश्रिता हो ऐसी मान्यना लिये हुए होने पर भी कवि का भावुक और उदार मन नारी के तेज और सतीत्व का अनन्य उपासक था । स्त्री अपने सतीत्व से अपने भीतर इतने बडे तेज को समाहित कर सकती है कि संसार की बडी से बडी शक्ति भी उसके सामने थर्रा उठे । तभी तो सीता के विषय मे कवि ने कहा :

इमामपि विशालाक्षी रक्षिता स्वेन तेजसा ।
रावणो नातिवर्त्तेत वेलामिव महोदधेः ॥ (रा० ६।११८।१६)

सीता स्वयं रावण से कहती हैं—

असन्देहात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् ।
न त्वा कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा ॥ (५।२२।२०)

मारीच सीता को 'सूर्य की प्रभा के समान अपने ही तेज से रक्षित्त' बतलाता है । अन्यत्र कवि ने कहा है—'पतिव्रताओ के आँसु कभी व्यर्थ भूतल पर नही गिरते ।'[1] पतिव्रता के तेज और उसकी सामर्थ्य मे कवि को इतनी आस्था थी कि राम के वन-प्रयाण के अवसर पर उसने वशिष्ठ के मुख से कहलवाया :

न गन्तयं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते ।
अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ॥

---

१. रा० ६।१११।६७ ।

आत्मा हि दारा सर्वेषा दार-संग्रहवर्त्तिनाम् ।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥ (२।३७।२३-२४)

स्पष्ट ही पतिपरायणा होने पर भी वाल्मीकि ऐसी नारी को आदर्श नही मानते, जिसमे ऊर्जस्विता न हो। उनकी आदर्श वही नारी है जो अपने पति से कह सके :
'अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् ।' (२।२७।७)

वाल्मीकि शान्त, गम्भीर और सन्तो जैसी प्रकृति के कवि थे। जीवन के उच्चतर मूल्यो मे उनकी आस्था थी, इसीलिये परवर्ती कवियो का सतहीपन, कामुक प्रवृत्ति और ऐन्द्रिय विलास की झुकाव हम उनमे बिल्कुल नही पाते। उनके शृंगारित वर्णनो से, जो प्रायः संक्षिप्त है, यह बात स्पष्ट हो जाती है। वाल्मीकि ने अपनी सौन्दर्यपरक कवि-दृष्टि के कारण स्त्री और पुरुष के प्रणय का अनेक स्थानो पर चित्रण किया है, पर ऐसे स्थलो मे भी कवि एक नि.स्पृह सन्त की भाँति अलग ही लगता है, वह माघ या हर्ष की तरह ऐन्द्रिय वृत्ति के प्रवाह मे डूबता उतराता नही लगता। सुन्दरकाण्ड मे रावण के अन्तःपुर का चित्र है। आधी रात के समय बेसुध सोयी हुई अगनाओ के एक के बाद एक न जाने कितने आकर्षक से आकर्षक चित्र कवि खीचता चला जाता है। इस प्रसंग मे लगता है जैसे तामसिक अन्धकार का सागर सब ओर लहरे मार रहा है, पर इस सबसे पृथक् एक व्यक्ति एकदम निर्लेप भाव से उन सोती हुई प्रमदाओ को देख रहा है। उसके मन मे विचार उठ रहा है—'न हि मे परदाराणा दृष्टि-विषयवर्तिनी ।' यह व्यक्ति है हनुमान्। यही हनुमान् वाल्मीकि का एक आदर्श है।

गम्भीर होते हुए भी वाल्मीकि सरल, तरल और करुणार्द्र हृदय के सन्त थे। विनोद की भी कुछ प्रवृत्ति उनमे थी, इसलिये वे अपने आदर्श पात्र राम को वनवास के समय एक ब्राह्मण से विनोद करते हुए दिखलाते है।'[1] शत्रुघ्न के द्वारा कुबड़ी को दुर्दशा करने के प्रसंग मे भी कवि की यही प्रवृत्ति प्रकट हुई है।'[2] विविध आभूषण धारण किये हुए कुबड़ी कवि को ऐसी लगती है जैसे रज्जुओ से बँधी हुई वानरी हो।[3] वाल्मीकि की यह हास्यवृत्ति अत्यन्त ही संयत और शिष्ट है, परवर्ती प्रहसनो और भाणो के लेखको के फूहड़पन और विकृत रुचि का उसमे सर्वथा अभाव है।

वाल्मीकि स्नेहमय प्रवृत्ति के व्यक्ति थे तथा अपनी स्नेहार्द्र दृष्टि से सर्वत्र मानवीय प्रेम तथा बन्धुत्व की भावना ही प्रसरित होते हुए देखते थे। मित्र के सम्बन्ध मे—

आढ्यो वा दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा ।
निर्दोषश्च सदोषश्च वयस्य. परमा गति. ॥

---

१. रा० २।२२।३६।४० । २. वही २।७८।५-६ । ३. वही २।७८।७ ।

धनत्याग: सुखत्यागो देशत्यागोऽपि वानघ।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्॥ (४।८।८-९)

तथा भ्राता के सम्बन्ध मे—'तं देशं न च पश्यामि यत्र भ्राता सहोदर:।'—आदि कथन उनके नायक को ही नही अपितु नायक को गढने वाले कवि की भी स्नेहार्द्र दृष्टि के द्योतक है। वाल्मीकि का हृदय स्नेह, ममत्व, प्रेम और करुणा से भरा था तभी तो उन्हे सर्वत्र स्नेह, प्रेम और करुणा का प्रसार दिखलाई दिया। सुग्रीव अपने प्राणान्तक वैरी बालि की मृत्यु पर रोने लगता है और कहता है—'मैं अपने अग्रज की मृत्यु पर दु:ख के कारण प्राण त्याग दूँगा।' सुग्रीव जैसे व्यक्ति से ऐसा आचरण वाल्मीकि जैसे सन्त ही करा सकते है। विभीषण भी रावण की मृत्यु पर शोकाकुल हो उठता है (६।१०९)।

कला, संगीत और साहित्य से वाल्मीकि को अनुराग था।[1] परन्तु उनका मन सर्वाधिक प्रकृति के मनोरम अंचल मे रमता था। यही कारण है कि उन्होने अपने आदर्श नायक को प्रकृति का अनन्य अनुरागी बना दिया है। राम के मुख से—

न राज्यभ्रंशनं भद्रे न सुहृद्भिर्विनाभव.।
मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम्॥ (२।९४।३)

यह कहलवा कर आदि कवि वड्सवर्थ की भाँति नागरिता के प्रपंच और दम्भ से हट कर प्रकृति के संसर्ग मे रहने का सन्देश देना चाहते है।[2] राम को चित्रकूट और मन्दाकिनी का दर्शन अयोध्या जैसी सम्पन्न नगरी के निवास और सीता के सहवास से भी प्रियतर लगता है। वर्षा की ऋतु मे कवि चाहता है कि वह मेघरूपी सोपान पंक्ति पर चढकर कुटज और अर्जुन पुष्पो की माला आदित्य को पहना दे (किष्कि० २८।४)।

गंगा और मन्दाकिनी नदियो के वर्णनो मे वाल्मीकि वर्ण्य में एकदम डूब गये है। नदियो की मनमोहक छटा के जो चित्र उन्होने खीचे है, वे उनके प्रकृति प्रेम तथा प्रकृति मे तन्मयता का परिचय देते है—

जलघाताट्टहासोग्रा फेननिर्मलहासिनीम्।
क्वचिद् वेणीकृतजला क्वचिदावर्तशोभिताम्॥
क्वचित्स्तिमित गम्भीरा क्वचिद् वेगसमाकुलाम्।
क्वचिद् गम्भीरनिर्घोषा क्वचिद् भैरवनि:स्वनाम्॥
देवसंघाप्लुतजला निर्मलोत्पलसंकुलाम्।
क्वचिदाभोगपुलिनां क्वचिन्निर्मलवालुकाम्॥

---

१ द्रष्टव्य रामा० ५।४।१०, ५।५।९ में प्रयुक्त संगीत के विशेषण।

२. रामा० २।९४।२५, ४।२।९५ भी द्रष्टव्य।

हंससारससंघुष्टा चक्रवाकोपशोभिताम् ।
सदामत्तैश्च विहगैरभिपन्नामनिन्दिताम् ।।
क्वचित्तीररुहैर्वृक्षैर्मालिभिरिव शोभिताम् ।
नानापुष्परजोध्वस्ता समदामिव च क्वचित् ।।
(अयो० ५०।१६-२०)

कही जल का आघात होने पर लगता था जैसे गंगा उग्र अट्टहास कर रही हो, कही निर्मल फेन के कारण वह हसती सी लगती थी। कही पर जल वेणी के सदृश हो गया, तो कही भँवर बन गये थे। कही पर जल एकदम शान्त और गम्भीर था, कही पर वेग से समाकुल। कही पर वह गम्भीर निर्घोष कर रही तो कही पर भयानक ध्वनि। देवसंघ उसमे स्नान कर रहे थे, तथा निर्मल कमल से वह संकुल थी। कही पर उसमे विशाल रेतीले तट दिखाई पड़ते थे, जहाँ हंस तथा सारसो के झुण्ड के झुण्ड बैठे थे। चक्रवाक भी उसकी शोभा बढा रहे थे। तीर पर उगे वृक्षो की पंक्ति माला के समान उसे अलंकृत कर रही थी तथा अनेक प्रकार के फूलो का पराग उसके जल पर बिखरा था।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

वाल्मीकि ने जीवन के सभी पक्षो का अवलोकन किया था तथा जीवन के प्रति वे गम्भीर दृष्टि रखने थे। उनकी दृष्टि मे – सतत प्रवहमाण जलप्रवाह की भाँति जीवन का प्रवाह एक बार बहकर वापस नही लौटता (सुन्दर० २।४)। वाल्मीकि ने जीवन को नियति से परिचालित होते हुए देखा था और नियति का लोहा मानते थे, पर जीवन में उनकी आस्था थी।

वे जीवन को नैतिक मूल्यो से समन्वित देखना चाहते थे। युग की मान्यताओ के अनुरूप वाल्मीकि की नैतिकता मे दृढ आस्था थी। वे मनुष्य को कर्तव्यपरायण तथा दायित्व के प्रति जागरूक बनाये रखना चाहते थे।

अध्ययन तथा पर्यवेक्षण

वाल्मीकि ने मानव-मनोविज्ञान का सूक्ष्म तथा गहन अध्ययन किया था। उनके सभी चरित्र इसके निदर्शन है। वनवासी मुनि होते हुए भी उन्हे नारी के स्वभाव का पूर्ण ज्ञान था। गम्भीर तथा पतिपरायणा सीता की भी स्वर्णमृग को देखकर जागी हुई उत्सुकता के चित्रण मे तथा कंकेय नरेश की पट्टमहिषी का अपने पति के हास्य का कारण जानने के दुराग्रह के चित्रण मे[1] वाल्मीकि नारी के अन्तर्मन की गहराइयो को अपनी पैनी दृष्टि से उद्घाटित कर देने है। वन में सीता किस प्रकार एक-एक

१. रा० ३।४२।२१ तथा २।३५।१८-३६ ।

पादप, गुल्म और लता को देखकर राम से उनके विषय मे पूछने लगती है,[१] कुछ समय पूर्व अप्रिय लगने वाली कुबडी किस प्रकार भोली भाली कैकेयी की परमप्रिय बन जाती है,[२] और कौशल्या क्यो राम के वनगमन के अवसर पर अपने भावी अपमान और दुरवस्था की व्यर्थ आशंका से दुखित होने लगती है[३] यह नारी मनोविज्ञान के पारखी वाल्मीकि ही बता सकते हैं। सरल हृदय वाले दशरथ किम प्रकार वासना के वशीभूत होकर कैकेयी को मनाते है,[४] राम के वनवास से लक्ष्मण किस प्रकार क्षुब्ध होते है—इत्यादि प्रसंगो मे वाल्मीकि का मानव-चरित्र का सूक्ष्म पर्यवेक्षण प्रकट हुआ है। यही कारण है कि उनके आदर्शवाद से प्रसूत होते हुए भी वाल्मीकि के चरित्रो का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। राम के विरह का वर्णन तथा उनकी कामवासना का चित्रण एक ऐसे कवि द्वारा ही सम्भव है जिसकी नवपरिणीत युवामन की भावनाओ मे गहरी पैठ हो।

सांसारिक ज्ञान

वाल्मीकि तपोवन मे भले ही रहते हो, पर उन्होने नागरिक जीवन तथा नागरिक प्रवृत्तियो का दीर्घ अवधि तक निकट से अध्ययन किया था। रामायण मे अयोध्या का वर्णन कोरी कल्पना से प्रसूत नही हो सकता, वह कवि के समसामयिक नगरो की स्थिति का यथार्थ चित्र है। वाल्मीकि द्वारा राजप्रासाद,[५] राज्याभिषेक,[६] समाज के विभिन्न वर्ग,[७] दाक्षिणात्य समाज,[८] आदि के वर्णन इस बात के साक्षी है कि उन्होने समसामयिक संस्कृति का सूक्ष्म अध्ययन किया था। उनके विवाह तथा यज्ञ की विधि के वर्णनो से[९] भी यही सिद्ध होता है। वाल्मीकि ने विभिन्न प्रकार के व्रत धारण करने वाले अनेक ऋषियो का वर्णन भी किया है, जो उनके समय मे रहे होगे।[१०]

पाण्डित्य

वाल्मीकि मे परवर्ती कवियो का पाण्डित्य हम नही पाते, पर उन्हे अनेक विषयो की सामान्य जानकारी थी। नक्षत्रविद्या, आयुर्वेद, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, राजनीति आदि अनेक विषयो मे उनकी पकड थी। किष्किन्धाकाड मे राम ने हनुमान को तीनो वेदो और व्याकरण का पण्डित बतलाया है। सम्भव है, वाल्मीकि ने स्वयं भी वेद, व्याकरण आदि का अध्ययन किया हो।

---

१. रा० २।५५।२९। २ वही २।९।४१-४४। ३. वही २।२०।४२-५५। ४ वही २।१९।२४-२६, २।१०।३१-३६। ५. वही ४।१ सम्पूर्ण, विशेष रूप से द्रष्टव्य ४।१।४३,४८,४९। ६. वही २।१५।३०-३९। ७. वही २।८३।१२-१६ ८. वही २।९३।१३। ९. रा० १।७३।१९-२७, १।१३।६-८, १।१४।४-२३। १०. रा० ३।६।२-५।

प्रकृति पर्यवेक्षण

वाल्मीकि ने प्रकृति के दीर्घ संसर्ग मे रहकर उसको निरखापरखा था। वृक्षो, लताओ और वन मृगो के संबंध मे उन्हे जितना ज्ञान था उतना बहुत कम कवियो में देखने को मिलता है। स्थान-स्थान पर वे विभिन्न वनस्पतियों[1] तथा मृगों की जातियों के सैकडो नाम गिनाते चलते है। मृगो और पशु-पक्षियो के स्वभाव को उन्होने गहराई से जाना था। अनेक मृग स्वर्णमय मृग के पास आकर्षित होते हुए आते है और उसे सूंघ-सूंघ कर भागने लगते है इस बात को वाल्मीकि ही कह सकते थे।

वाल्मीकि के प्रकृतिवर्णन मे इतना मौलिक तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण है कि परवर्ती प्रायः सभी कवियो को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनसे सहायता मिली है। कालिदास जैसे कवियो ने भी कई बार प्रकृति को वाल्मीकि की आँखो से ही देखा है। वाल्मीकि ने प्रकृति के ऐसे पक्षो का उद्घाटन किया है, जिन्हे उन्होने प्रकृति के अत्यन्त निकट संसर्ग मे रहकर स्वयं देखा है और जो सामान्य जनो की दृष्टि की परिधि से परे हैं। स्वाभाविक चित्रात्मकता तथा आंचलिकता ने वाल्मीकि के प्रकृति वर्णनो को प्रभविष्णु बनाया है। हेमन्त ऋतु का यह वर्णन द्रष्टव्य है—

नीहारपरुषो लोकः पृथिवी सस्यमालिनी।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः॥
सेव्यमाने दृढं सूर्ये दिगमन्तकसेविताम्।
विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक् प्रकाशते॥
प्रकृत्या हिमकोषाढ्यो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम्।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान् नामवान् गिरिः॥
मयूखैरुपसर्पद्भिर्हिमनीहारसंवृतैः।
दूरमभ्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते॥
स्पृशन् सुविपुलं शीतमुदकं द्विरद सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥
अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृता।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः॥

(अरण्य० १६।५-२४)

जगत तुषार से आच्छन्न है, धरती फसल से ढको हुई है, जल उपभोग के योग्य नही रह गया और आग अच्छी लगने लगी है। सूर्य दक्षिण दिशा का सेवन कर रहा है, और उत्तर दिशा तिलकविहीन स्त्री की भाँति अच्छी नही लगती। हिमालय

१. रा० ४।३।२६-३०।

का हिमालय नाम अब सार्थक हो गया। पाले से आवृत किरणो वाला ऊपर चढा हुआ भी सूर्य चन्द्रमा जैसा लगता है। जंगली हाथी अत्यन्त तृषार्त होता हुआ भी ठण्डे जल का स्पर्श होते ही अपनी सूँड वहाँ से हटा लेता है। ओस और पाले से ढकी पुष्परहित वनराजियाँ सोयी हुई सी लगती है।

काव्य-प्रतिभा

वाल्मीकि ने अपनी विराट् प्रतिभा से युग के समस्त जीवन मूल्यो को आत्मसात् किया था। उनकी कवि चेतना मे अतीत की समग्र सास्कृतिक और साहित्यिक धरोहर भी संगृहीत और नवीन अर्थो से संयुक्त होकर काव्य मे प्रस्फुटित हुई। वाल्मीकि एक द्रष्टा और सन्त कवि है। अपने युग की चेतना को आत्मसात् करके भी वे उससे ऊपर उठे हुए है। इसीलिये वे अपने काव्य मे उन स्वरो को मुखरित कर पाये है, जिनका संगीत प्रत्येक युग, देश तथा काल मे सदैव मधुर और आकर्षक बना रहता है।

कल्पना

कवि-कल्पना का सबसे बड़ा कार्य है—काव्य मे औचित्य की प्रतिष्ठा तथा परस्पर असम्बद्ध विरोधी तत्त्वो का समजन या सन्तुलन स्थापित करना। वाल्मीकि की कल्पना इस कार्य को सम्पादित करने मे पूर्ण सक्षम सिद्ध हुई है। उनमे किसी भी प्रसंग के सम्पूर्ण वातावरण को अपनी सही स्थिति मे पाठक के सम्मुख उपस्थित करा देने की अद्भुत क्षमता है। औचित्य उनकी कल्पना में सर्वत्र विद्यमान है। चित्रकूट मे राम-भरत के मिलन का प्रसंग है। भरत राम को देखते ही उनके सम्मुख भूतल पर पड़ जाते है। कवि को लगता है जैसे युगान्त मे भास्कर गिर पडा हो।[1] स्थिति की गम्भीरता और गुरुत्व को विशद करने के लिये कितना सटीक उपमान खोजा गया है। भरत के लिये उपमान है सूर्य और उनके भूतल पर गिर पडने के अवसर के लिये उपमान है युगान्त का, जिस समय सूर्य भूतल पर गिर पडता है। इसी प्रकार रावण के द्वारा हरी जाती हुई सीता आकाश से आभूषणो को पृथ्वी पर गिराती है, तो कवि उनको आकाश से क्षीण होकर गिरते ताराओ से उपमित करता है।[2] इस उपमा मे व्यंजना है जीवन की विभीषिका और दुःखमय स्थिति की। विरही राम को नील मेघ पर चमकती विद्युत रावण के अंक मे तड़पती सीता के समान लगती है।[3] प्रसंग और अवसर के अनुकूल कल्पना का कितना सार्थक प्रयोग है। सुन्दरकाण्ड में विरहकृशा जानकी के वर्णन मे कवि ने अमूर्त उपमानो की झडी सी लगा दी है। अमूर्त उपमानो का इतना सुन्दर और मार्मिक संयोजन अन्यत्र कही देखने को नही मिलता—

अभूतेनापवादेन कीर्ति निपतितामिव ।
आम्नायानामयोगेन विद्या प्रशिथिलामिव ॥

---

१. रामा० २।१००।१। २ रामा० ३।५२।३२। ३. वही ४।२८।७।

सन्नामिव महाकीर्ति श्रद्धामिव विमानिताम् ।
प्रज्ञामिव परिक्षीणामाशा प्रतिहतामिव ।
पौर्णमासीमिव निशा तमोग्रस्तेन्दुमण्डलाम् ॥

(सुन्दर० १६।११-१३)

अपने वर्णनो मे वाल्मीकि सूक्ष्म सवेदन और प्रातिभ दर्शन के द्वारा वातावरण को एकदम साकार बना देते है। उनकी कविदृष्टि के आलोक मे प्रत्येक वर्णन वास्तव से सहस्रगुणित प्रभविष्णु और हृदयग्राही बन जाता है। सीता को रावण द्वारा बरबस हरण करके ले जाने के प्रसंग को पढकर लगता है जैसे आर्यावर्त की सारी श्री और संस्कृति अपहृत की जा रही हो—

ता लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्ती महाद्रुमम् ।
मुञ्च मुञ्चेति बहुश प्राप ता राक्षसाधिपः ॥
क्रोशन्ती राम रामेति रामेण रहिता वने ।
जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसन्निभः ॥
प्रधर्षितायां वैदेह्यां बभूव सचराचरम् ।
जगत्सर्वममर्यादं तमसान्धेन संवृतम् ॥
न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूद्दिवाकरः ।
स तु ता राम रामेति रुदतीं लक्ष्मणेति च ।
जगामादाय चाकाशं रावणो राक्षसेश्वरः ॥

(अरण्य० ५२।७-१३)

इसी प्रकार अशोकवन में सीता का चित्र अपनी सजीवता और अनुभूति की गहनता के साथ वाल्मीकि की सूक्ष्म चित्राकन की कुशलता का परिचय देता है। भँवर मे फँसी हुई नौका के समान रावण ने अशोकवाटिका मे राक्षसियो से घिरी हुई सीता को देखा। खाली धरती पर बैठी हुई वह पेड से कट कर गिरी हुई डाल के समान लग रही थी। उसका शरीर मैल मे भर गया था और वह पंक से लिपटी कमल-नाल के समान शोभित हो रही थी। संकल्प रूपी घोडो से युक्त मनोरथो के द्वारा वह मानो अपने प्रिय राम के पास जा रही थी—

दशग्रीवस्तु वैदेही रक्षिता राक्षसीगणैः ।
ददर्श दीना दुःखार्ता नावं सन्नामिवार्णवे ॥
असंवृतायामासीना धरण्या संशितव्रताम् ।
छिन्ना प्रपतितां भूमौ शाखामिव वनस्पतेः ॥
मलमण्डनदिग्धाङ्गी मण्डनार्हाममण्डनाम् ।
मृणालीपङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च ॥

समीपं राजसिंहस्य रामस्य विदितात्मनः ।
संकल्पहयसंयुक्तैर्यान्तीमिव मनोरथैः ॥ (सुन्दर० १६।४-७)

वाल्मीकि की कल्पना मे ताजगी और नूतन अविष्कार का वैशिष्ट्य विद्यमान है। उनके उपमान अनेक स्थानो पर एकदम मौलिक और नये है तथा उनके प्रातिभ नवोन्मेष के परिचायक है। हेमन्त ऋतु मे तुषार से आवृत चन्द्रमा के लिये कवि ने निःश्वासो से मलिन दर्पण का उपमान प्रस्तुत किया है।[1] यहाँ उपमान-योजना नयी भी है और प्रसंग (राम की विरह-दशा) के अनुकूल भी। मानवी करणात्मक कल्पनाएँ वाल्मीकि की सबसे सफल मौलिक कल्पनाएँ है, इसीलिये वे सर्वाधिक अनुकूल भी हुई है। उदाहरण के लिये शरद ऋतु की सन्ध्या का यह वर्णन—

चंच्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका ।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥ (सुन्दर० ३०।४५)

चन्द्र की चंचल कर (किरण, हाथ) के स्पर्श से हर्ष से उन्मीलित तारक (नेत्र की पुतली, तारे) वाली रागवती सन्ध्या आकाश से जा रही है।[2] अथवा नदियो का निम्नलिखित वर्णन—

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसंगमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥ (सुन्दर० ६०।५८)

अपनी मौलिकता तथा सजीवता के कारण उल्लेखार्ह है।

वाल्मीकि मे कल्पना का उन्मेष अनेक रूपो मे देखा जा सकता है। उन्होने जीवन के परिनिष्ठित आदर्शो का भी चित्राकन किया है और यथार्थ के चित्र भी उकेरे है। राम, भरत, सीता जैसे आदर्श पात्रो को पहली बार भारतीय साहित्य मे वाल्मीकि ने अत्यन्त जीवन्त रूप मे प्रस्तुत किया। जीवन के जो भी उच्चतर मूल्य वाल्मीकि ने अपनी महनीय चेतना मे देखे थे, उनको उन्होंने अपने इन पात्रो में रूपायित कर दिया, पर वाल्मीकि के महान आदर्शो की प्रतिच्छवि होकर भी ये पात्र अमूर्त रूप में ही नही रह जाते, वे अत्यन्त सजीव भी है। यह वाल्मीकि की कल्पना की सफलता है।

---

१. रामा० ३।१६।१३।

२. कालिदास के रात्रि वर्णन पर इस स्थल का प्रभाव देखा जा सकता है—

अङ्गुलिभिरिव केशसंचयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥

—कुमारसम्भव, ८।६३।

उनकी कल्पना जहाँ अतिरंजित रूप मे सामने आती है, वहाँ वह अपनी अविश्वसनीयता तथा अकलात्मकता के कारण प्रभावित नही कर पाती। सुग्रीव के कहने पर अरबो वानरो वाले अनेक यूथो का एकत्र होना, अथवा सुग्रीव द्वारा सम्पूर्ण भारत का वैचित्र्यमय तथा अयथार्थ वर्णन ऐसी ही कल्पनाएँ हैं। पौराणिकता के आधिक्य के कारण कल्पना मे अनेक स्थानो पर असम्बद्धता, अलौकिकता और अस्वाभाविकता आ गयी है। उदाहरण के लिये दशरथ का परलोक से पुनरागमन। पुनरावृत्ति और अतिशयोक्ति के कारण अनेक कल्पनापूर्ण स्थल प्रायः एक जैसे और उबा देने वाले प्रतीत होते है। सुग्रीव द्वारा वानरो की सेनाओ को सीता के अन्वेषण के लिये भेजते समय किया गया चारों दिशाओ का वर्णन प्रायः समान ही है। विवरणो मे विविधता के स्थान पर विपुलता मे अधिक रुचि होने के कारण कवि ने कमल, स्वर्ण, प्रवाल, मणि, सूर्य, कल्पवृक्ष, मधु, अप्सरा, गन्धर्व, चन्द्रमा, अमृत आदि गिने चुने उपमानो मे ही कल्पना को प्रायः ढाला है। ऐसे स्थलों में नवोन्मेष का अभाव है। रूढ प्रतीको और बिम्बो की पुनरावृत्ति में कल्पना की सर्जनशीलता प्रायः दब सी गयी है। फिर भी वाल्मीकि मे कल्पना शक्ति का वह दुरुपयोग नही है, जो परवर्ती कवियो में मिलता है।

संवेदना

वाल्मीकि भवभूति की भाँति अतिशय भावना-प्रवण नही थे, पर नीरस और सूखे विषयो की अपेक्षा उनको भाव उद्बुद्ध करने वाले विषय अधिक अभिभूत करते थे। इसीलिये उनके प्राय. सभी पात्र भावना-प्रवण है और अपने पात्रो की भावाविष्ट मनस्थितियो के चित्रण मे कवि का मन अधिक रमता है।

अपनी परिपक्व संवेदना के कारण वाल्मीकि अपने पात्रो की भावनाओं को समझने तथा उनके सहानुभूतिपूर्ण चित्रण मे समर्थ हुए है। सवेदना ने उन्हे चराचर जगत् के साथ सौहार्द्रमय बना दिया है। अपनी हार्दिक करुणा और रागात्मक ऊष्मा मे कवि जड़ और चेतन का भेद भूल जाता है और उसे सब कुछ सौजन्य और विश्वजनीन मानवता मे पगा हुआ लगता है। राम के वनगमन के प्रसंग मे तमसा नदी उसे राम को रोकती हुई लगती है,[1] राम का अनुगमन करने मे असमर्थ वृक्ष मानो वायुवेग से रुदन करने लगने है और पक्षी निश्चेष्ट और निराहार होकर राम

---

१. ददृशे तमसा तत्र वारयन्तीव राघवम् ॥
कालिदास ने इस कल्पना को ग्रहण कर कुछ प्रभविष्णु रूप मे उपस्थित किया है—
अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात्।— रघु० १४।५१
—सीता को वन मे छोडने जाते लक्ष्मण को जाह्नवी ने मानो तरंग रूपी हाथों को उठा उठा कर रोका।

से रुकने के लिये मानों अनुरोध करने लगते है,[1] सम्पूर्ण वन ही मानो रो उठता है।[2] सीताहरण के दुःखद अवसर पर भी सम्पूर्ण प्रकृति कवि को करुणाविष्ट दिखाई दी। इस प्रकार के वर्णन कवि की व्यापक संवेदना और भावतारल्य के अप्रतिम निदर्शन है तथा उन्होने संस्कृत काव्य की आधारभूमि का निर्माण किया है।

वाल्मीकि की सूक्ष्म और तलावगाहिनी दृष्टि ने मानव जीवन के उन पक्षो और प्रसंगो को उद्घाटित किया है जो बरबस हृदय को करुणाविष्ट और देशकालातीत सहानुभूति की भावना से परिपूर्ण कर देते है। वन-प्रयाण के समय सीता का प्रथम बार चीर-वस्त्र धारण का छोटा सा प्रसग अपनी मार्मिकता मे बेजोड है। सीता अपने पहनने के लिये लाये गये चोर को देखकर वैसे ही त्रस्त हो गयी जैसे पृषती लगाम को देखकर संत्रस्त हो जाती है। फिर किसी तरह काँपती हुई वैदेही ने कैकेयी के हाथो से उन कुश-चीर वस्त्रो को लेकर अश्रुपूर्ण नेत्रो से युक्त होकर गन्धर्वराज के समान अपने पति से पूछा —"वन मे रहने वाले मुनि जन कैसे चीर बाँधते है?" चीर बाँधने मे अनुभव न होने के कारण वह बार-बार भ्रान्त हो जाती थी। फिर एक चीर को गले मे डालकर तथा दूसरे को हाथ मे लिये हुए वह (आगे कैसे पहने यह न जान कर) लज्जा मे डूबी हुई वही खडी रह गयी। तब राम ने बढकर स्वयं सीता के कौशेय के ऊपर चीर बाँध दिया और राम स्वयं अपने हाथो से सीता को चीर पहना रहे है—यह देखकर अन्त-पुर की स्त्रियाँ रोने लगी। (अयो० ३७।६-१५)

मनोभावनाओ के सफल चित्रण में भी वाल्मीकि की गहन मानवीय सवेदना के दर्शन होते है। अयोध्याकाण्ड मे कोप, ईर्ष्या और विक्षोभ से युक्त कैकेयी के भयंकर रूप तथा ग्लानि करुणा और शोक मे डूबे दशरथ की दयनीय दशा का चित्र अपनी नाटकीयता और विशदता मे अनूठा ही है। वाल्मीकि ने अपनी प्रतिभा से सारे के सारे प्रसंग का इतनी कुशलता और गहन अन्तर्दृष्टि के साथ निर्वाह किया है जैसे वे उस युग के अन्त.पुर का जीता जागता रूप सामने रख रहे है। राम को वापस लाने मे असफल और हताश सुमन्त्र विलाप करते हुए दशरथ के समक्ष सीता और राम के उस समय के हृदयद्रावक चित्र अंकित करते हैं जब वे विवशता और व्याकुलता से टूटता हृदय लेकर उनसे बिछुडकर लौटे थे—"सूखे हुए मुख से पति की ओर निहारती हुई सीता मुझे लौटता देखकर सहसा आँसू बरसाने लगी। उसी प्रकार लक्ष्मण की बाहु के सहारे टिके आँसुओं से भीगे मुख वाले राम हाथ जोडे हुए खडे रहे और तपस्विनी सीता रोते हुए मुझको और राजा के रथ को ताकती रही" (अयो० ५८।३६-३७)। राम के चले जाने पर अयोध्या की विरहविधुत नारियो के चित्रण मे कवि की अनुभूति तद्रूप हो गयी है।

---

१. रा० २।४५।३०-३१। २. वही २।४६।३।

वाल्मीकि की प्रतिभा मे सुकुमारता और रागात्मकता के साथ बलशालिता और गतिशीलता भी है। उसमे शील, शक्ति और सौन्दर्य का अनुरूप समन्वय है। सीता की मृदुलता के साथ उसकी तेजस्विता का भी सजीव चित्रण इसीलिये वे प्रभविष्णु रूप में कर सके है। सीता राम से कहती है—"अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुश-कण्टकान्।"—(मैं कुशकण्टको को रौंदती हुई आपके आगे आगे चलूंगी)। हरने के लिये आये रावण के प्रति कहे गये सीता के कथन अपनी ऊर्जस्विता के कारण अत्यन्त ही हृदयावर्जक है तथा वे वाल्मीकि की सूक्ष्म संवेदना के भी परिचायक हैं। सीता कहती है—

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंही मामिहेच्छसि दुर्लभाम्।
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा॥
क्षुधितस्य च सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः।
आशीविषस्य वदनाद् दंष्ट्रामादातुमिच्छसि॥
मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि।
कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तिमान् गन्तुमिच्छसि॥
यदन्तरं सिंहशृगालयोर्वने यदन्तरं स्यन्दनिकासमुद्रयोः।
सुराग्र्यसौवीरकयोर्यदन्तरं तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च॥

(अरण्य० ४८।३७-४५)

सौन्दर्यदृष्टि

सीता, कैकेयी, अहल्या, अंजना, तारा, मन्दोदरी आदि का विस्तार मे वर्णन करके वाल्मीकि ने आदर्श स्त्री-सौन्दर्य का विशद शब्दांकन किया है। इन वर्णनो मे शारीरिक सौन्दर्य के प्रति कवि का सहज आकर्षण देखा जा सकता है, पर कवि की चेतना ऐन्द्रियता के अतिशय से कलुषित नही थी। वाल्मीकि का सौन्दर्य प्रेमी मन तन्वी, वपुःश्लाघ्या, तप्तकांचनवर्णाभा, तरुप्रवालरक्ता, रथकूबरसंकाशा, पक्वतालपयोधरा रमणियो को देखकर तृप्त होता था।[1] पुरुषो के शारीरिक सौष्ठव, बलशालिता और आंगिक विन्यास पर भी वाल्मीकि की दृष्टि बार-बार पडी है। आंगिक सौन्दर्य मे वाल्मीकि केवल सुकुमारता की ही आशंसा नही करते, उनके सौन्दर्य बोध मे कठोरता और दृढता के लिये भी स्थान है। परशुराम के भीषण सौन्दर्य का वर्णन वाल्मीकि जैसे कवियो के लिये ही सम्भव है।[2]

मानवीय सौन्दर्य की अपेक्षा कवि को प्रकृति का सहज सौन्दर्य अधिक अभिभूत करता था। प्रकृति के मनोरम दृश्यो मे कवि का मन अपेक्षाकृत अधिक रमा है।

---

१. अरण्य० ४६।१६-२०, अयो० ६।४१-४३ आदि। २. बाल० ७४।१६।

भागीरथी कवि को सायास विभूषित प्रमदा सी लगती है, पर भागीरथी के सौन्दर्य की जो विविधता है, वह किसी प्रमदा मे क्या मिलेगी। गंगा के सौन्दर्य को कवि प्रतिक्षण नवीन रूप धारण करते देखता है।

निष्कर्ष

वाल्मीकि का व्यक्तित्व आर्ष कवि का व्यक्तित्व है। वाल्मीकि नागरिक संस्कृति से पूर्णतः परिचित होने पर भी स्वयं नागर नही है, जैसे परवर्ती संस्कृत कवि थे। हम उनमे समसामयिक युग तथा समाज के प्रति प्रतिबद्धता भी पाते है और युग के पूर्वाग्रहो और संकीर्ण विचारधारा से अलग हट कर नये मूल्यो को जन्म देने वाली स्वतंत्र चेतना भी। परवर्ती कवि अपने युग और समाज की विषमताओ, विकृतियो और पूर्वाग्रहो से स्वयं ग्रस्त हो गये है—वे उनसे ऊपर नही उठ सके। वाल्मीकि स्वतन्त्रचेता कवि है, वे मानवीय संबंधो को महनीयता के गायक होने के साथ-साथ निर्लिप्त द्रष्टा भी है।

वाल्मीकि की प्रतिभा मे व्यास जैसी बलशालिता नही है। व्यास मे दार्शनिकता का पुट अधिक है, बाल्मीकि मे नैतिक मूल्यो के प्रति आग्रह अधिक, पर दोनो ही कवियो ने जीवन के सभी पक्षो को कवि-नेत्रो से देखा है। दोनो ही कवियो ने जीवन की वास्तविकता से सीधा साक्षात्कार किया है तथा यथार्थ की प्रामाणिकता हम दोनो मे ही पाते है। फिर भी वाल्मीकि सन्त अधिक हैं और व्यास दार्शनिक अधिक।

उनके जैसा प्रातिभ नवोन्मेष कालिदास जैसे कुछ विरले कवियो मे ही मिलता है। वाल्मीकि ने जीवन और जगत को स्वयं अपनी कवि-चेतना के आलोक मे निरखा-परखा था, परवर्ती कवियो की भाँति पुस्तकोय ज्ञान के द्वारा नही। वाल्मीकि मे अपने युग का समूचा जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है, पर वे वर्तमान के चितेरे ही नही, अतीत के परिनिष्ठित मूल्यो के उद्गाता और भविष्यद्रष्टा भी है।

उनका सन्त व्यक्तित्व एक विरल वैशिष्ट्य है। उनमे जीवन और जगत के लिये प्रगाढ सवेदना, आस्था और भावतरलता है पर वे भावावेग मे स्वयं को एकदम कभी भी बहने नही देते, अपने उदात्त, निःस्पृह और सरल सन्त व्यक्तित्व की रक्षा सर्वत्र किये रहते है। उनकी अनुभूति मे भवभूति के जैसा वैयक्तिकता का आग्रह नही है, इसीलिये वाल्मीकि का व्यक्तित्व अपने परवर्तियो की तुलना मे महनीय और उदात्त है और साथ ही उनका काव्य भी।

●

द्वितीय अध्याय

भास

सांस्कृतिक परिवेश

भास के युग में वर्णाश्रम व्यवस्था समाज मे सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी। ब्राह्मणों का समाज मे सर्वोच्च स्थान था। ब्राह्मणो की वाणी कभी मिथ्या नही होती, ऐसा जनता का विश्वास था। ब्राह्मण भी प्रायः असत्य का आचरण नही करते थे।[1] ब्राह्मणो के लिए सर्वस्व समर्पित कर देना समाज के इतर वर्गो का कर्तव्य माना गया था।[2] ब्राह्मण सभी अपराधो मे अवध्य माना जाता था।[3] जातक कथाओ की भाँति भास के नाटको मे ब्राह्मण और क्षत्रियो के वैमनस्य का कही भी संकेत नही मिलता।[4] इसके विपरीत क्षत्रिय पूरी तरह से ब्राह्मणो के वचन का पालन करते थे।[5] भास के युग मे सभी वर्णो के लोगो मे साम्मनस्य की भावना थी।[6] अस्पृश्यता समाज मे प्रचलित थी।[7] विवाह को ब्राह्म, क्षात्र, गान्धर्व, राक्षस, आसुर आदि पद्धतियो का प्रचलन था, जिनका उल्लेख भास ने किया है।[8]

समाज मे स्त्रियो के प्रति सहिष्णुता तथा समादर की भावना थी। घर मे कन्या का जन्म सम्मान तथा आनन्द का विषय माना जाता था।[9] कन्याओ को घर मे स्वच्छन्दतापूर्वक क्रीड़ा करने तथा विभिन्न ललितकलाओ को सीखने की सुविधा दी जाती थी।

विभिन्न उत्सवो पर समाज के सभी लोग परस्पर मिलते तथा आमोद प्रमोद

---

१. अनृतं नाभिहितपूर्वं मया—बालचरित अंक २ (भासनाटकचक्र पृ० ३०), ब्राह्मणवचनमनृतमपि सत्यं पश्यामि। —वही। २ विप्रोत्संगे वित्तमावर्ज्य सर्वं राज्ञा देयं चापमात्रं सुतेभ्यः। —पंचरात्र १।२२, मच्छरीरेण ब्राह्मणशरीरं विनिमातुमिच्छामि। —मध्यमव्यायोग मे भीम का कथन। ३. सर्वापराधेऽवध्य-त्वान्मुच्यतां द्विजसत्तमः। —मध्यम०२७। ४. Bhasa — A Study—A D. Pusalkar, p. 358 ५. अविमारक मे ब्राह्मण का शाप सत्य बनाने के लिये सौवीरराज स्वेच्छा से चाण्डाल वन जाता है। ६. स्वे स्वे कर्मण्य-भिरताः। —अविमारक। ७. वार्षलस्तु प्रणामः स्यादमन्त्रार्चितदैवतः। —प्रतिमा ३।५, द्विज इव वृषल पार्श्वे न सहते। —पंच० १।६। ८. Bhasa —Pusalkar, p. 359 ९ कन्यापितृत्वं बहुवन्दनीयम्। —अविमारक १।७।

मनाते थे। कार्तिकोत्सव, इन्द्रमहः तथा धनुर्महः ऐसे ही उत्सव थे, जिनका भास ने उल्लेख किया है। गोपालको के समाज मे हल्लीसक नामक नृत्य प्रचलित था।[1]

आर्थिक स्थिति

आर्थिक दृष्टि से भास का युग समृद्ध और वैभव-सम्पन्न था। भासकृत लंका,[2] मथुरा,[3] वैरान्त्य[4] आदि नगरो के वर्णनो से तत्कालीन नगरो की समृद्धि विदित होती है। कृषि और गोपालन का व्यवसाय उन्नति पर था।

धार्मिक स्थिति

भास के युग मे विष्णु के अवतार राम, कृष्ण आदि, शिव, कात्यायनी, बलराम, स्कन्द, आदि देवताओ की पूजा होती थी। मूर्त्तिपूजा का व्यापक प्रचलन था। श्राद्ध द्विजो के लिये आवश्यक कर्त्तव्य माना जाता था। बौद्ध धर्म की समाज मे प्रतिष्ठा नही थी तथा बौद्ध भिक्षुओ को उन्मत्तोपासक कहा जाता था। जैन धर्म की भी यही स्थिति थी।

हिन्दुओ के विभिन्न सम्प्रदायो मे पाञ्चरात्र सम्प्रदाय को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उनकी पूजा करना इस सम्प्रदाय का मूल सिद्धान्त है।

शिल्पकला

भास के युग मे मूर्त्तिकला, चित्रकला तथा वास्तुकला का पर्याप्त विकास हुआ था। जनसामान्य के जीवन मे चित्रादि कलाओ का विशेष महत्व था। चित्रो का निर्माण इतनी कुशलता से किया जाता था कि वे किसी व्यक्ति या दृश्य की सजीव प्रतिकृति सी लगते थे।[5] राजोद्यान मे दारुपर्वत पर मृगपक्षी आदि के चित्र बनाने का प्रचलन था।

साहित्यिक परम्परा और प्रेरणास्रोत

भास के समय मे रामायण और महाभारत के आर्ष कवियो का युग समाप्त हो चुका था, तथा राजसभा के कवियो का युग प्रारम्भ हो रहा था। नाट्यकला का समारम्भ वैदिक युग से ही हो चुका था। यजुर्वेद की वाजसनेयिसंहिता के एक प्रसंग के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वैदिक युग मे शैलूष नामक जाति के लोग व्यावसायिक रूप से नाटको का आयोजन करके जीविकोपार्जन करते थे।

---

१. बालचरित अंक–३ (भा० ना० च० पृ० ५३७, ५३९, ५४०)। २. अभिषेक २१४। ३. बालचरित। ४. अविमारक अंक–३ (भा० ना० च० पृ० १३९-१४२)। ५. द्रष्टव्य–स्वप्नवासवदत्त मे चित्रदर्शन के उपरान्त पद्मावती का संवाद— भा० ना० पृ० ५१।

यज्ञ के अवसरो पर भी नृत्यगोतादि का अभिनय होता था और इसके लिये शैलूष नियुक्त होते थे। मैक्समूलर, लेवो, ओल्डेनबर्ग प्रभृति विद्वानो ने भी वैदिक युग में ही भारतीय नाटक का उद्‌भव स्वीकार किया है।[1]

उत्तर वैदिक युग मे तथा ईसा से पूर्व की शताब्दियो मे लिखे गये ग्रन्थो मे नाटक साहित्य और नाट्य शिल्प के विकास का कुछ परिचय प्राप्त होता है। अष्टाध्यायी, रामायण, अर्थशास्त्र, बौद्धजातक आदि मे नाट्यकला से सबंधित सामग्री, नाटक के पात्र व नाट्यशास्त्र के परिभाषिक शब्दो का उल्लेख है। रामायणीय युग मे अयोध्या नगरी की नाटक मण्डलियाँ प्रख्यात थीं। रामायण मे कुशीलव, नट, नर्तक, गायक, शैलूष आदि का तथा नाट्य प्रयोगो का भी यत्र-तत्र उल्लेख है। पाणिनि ने नाट्शास्त्र-विषयक ग्रन्थ 'नटसूत्र' का उल्लेख किया है, जो अनुपलब्ध है। महाभारत मे भी नट, नर्तक, गायक, सूत्रधार आदि शब्दो के साथ रामायण-नाटक और कौबेर-रम्भाभिसार नामक दो नाटको का भी स्पष्ट उल्लेख है। चौथी शताब्दी ई० पू० के आस-पास लिखे गये अर्थशास्त्र से भी उस युग मे नाटक व अभिनय के पर्याप्त विकास की सूचना मिलती है। दूसरी शताब्दी ई० पू० के लगभग रचित पातञ्जलमहाभाष्य मे भी 'कंस-वध' और 'बलिबन्ध' इन दो नाटको का उल्लेख है। साराश यह है कि भास को चाहे चौथी-पाँचवी शती ई० पू० मे माना जाय अथवा उसके पश्चात्, उनके समय मे नाटक रचना और नाटकाभिनय का प्रचलन था। नाट्यकला के संबंध मे नियमो और शास्त्रो का निर्माण भी हुआ था। भरत के नाट्यशास्त्र को कुछ विद्वानो ने दूसरी शताब्दी ई० तथा कुछ ने ८ वी शताब्दी तक का माना है, पर नाट्यशास्त्र की भूमिका भास के समय तक अवश्य बन चुकी होगी।[2] शारदातनय के भावप्रकाशन के प्रारम्भ मे जिन नाट्याचार्यो की नामावली दी गयी है उनमे कुम्भोद्भव (अगस्त्य) और नारद का भी नाम है।[3] सम्भव है बडौदा से प्रकाशित 'नारदसंगीत' नारद के नाट्यविषयक ग्रन्थ का ही एक अश हो। नन्दिकेश्वर का 'अभिनयदर्पण' भी सम्भवत. भरत के नाट्शास्त्र के पहले ही लिखा जा चुका था।

नाट्यशास्त्र के साथ-साथ काव्यशास्त्र का भी विकास भास से पूर्व होने लगा था। सातवी-आठवी शती ई० पू० मे रचित यास्क के निरुक्त मे भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा तथा रूपक आदि अलंकारो पर मौलिक चर्चा मिलती है तथा उपमा अलंकार के लक्षण को पूर्ववर्ती गार्ग्य नामक विद्वान् के नाम से उद्धृत किया गया है।

---

१. मैक्समूलर : वर्सन आफ दि ऋग्वेद, भाग–१ पृ० १७३, ओल्डेनबर्ग–जेड० डी० एम० जी० ३२, पृ० ५४, एफ–३९ पृ० ५२। २. दशरथ ओझा : हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास, पृ० २६। ३. भावप्रकाशन, प्रथम अधिकरण, पृ० २।

सोमेश्वर ने अपने 'साहित्यकल्पद्रुम' मे तथा अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक-लोचन' में भागुरि नामक आचार्य के काव्यशास्त्र-विषयक मत उद्‌धृत किये है। भागुरि सम्भवतः यास्क के भी पूर्व हो चुके थे। नाट्यशास्त्र तथा कामसूत्र मे भी सुवर्णनाभ और कुचुमार आदि प्राचीन काव्यशास्त्रियो का नामोल्लेख है। साथ ही नाट्यशास्त्र मे अनेक ऐसी आर्याएँ उद्‌धृत है, जो भारत को परम्परा से प्राप्त हुई थी।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के सिद्धान्तो के प्रारम्भिक विकास के साथ-साथ भास के युग मे कुछ नाटक-साहित्य भी लिखा जा चुका था। इन सबका दाय भास को रिक्थ स्वरूप प्राप्त हुआ था, परन्तु उनको सबसे अधिक साहित्यिक प्रेरणा रामायण-महाभारत और लोक-कथाओ से मिली थी। भास के चार सर्वश्रेष्ठ नाटक स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, अविमारक और दरिद्रचारुदत्त लोककथाओ पर आधारित हैं। शेष नाटको मे भी बालचरित को छोडकर सभी महाभारत और रामायण की कथाओ पर आधारित है। वाल्मीकि की सर्जनात्मक कल्पना ने भास को विशेष प्रभावित किया था। वाल्मीकि के प्रभाव से भास मे रागात्मकता का विकास हुआ होगा, पर उनकी प्रतिभा की बलशालिता, वैविध्य और ओज व्यास के प्रभाव से विकसित हुए प्रतीत होते हैं।

भास का जीवन

भास ने सम्भवतः उत्तरभारत के किसी नगर मे जन्म लिया था[1] और उत्तर भारत मे ही उनका अधिकाश जीवन व्यतीत हुआ था। भास अवन्ति, वत्स, काशी, शूरसेन, कुरु, कुरुजागल, कौशल, विराट और सौवीर इन प्रान्तो से विशेष परिचित थे और सम्भव है कि वे इनमे रहे हो अथवा उन्होने इनमे भ्रमण किया हो।

नाटको के भरतवाक्य तथा उसमे चित्रित वातावरण से अनुमान होता है कि भास किसी राजा के आश्रय मे थे। मन्त्रित्व का इतना यथार्थ और स्वाभाविक अंकन उन्होने किया है कि लगता है भास स्वयं किसी राजा के मन्त्री थे।[2]

---

१. भास दक्षिण के नगरो से विशेष परिचित नही जान पडते। उत्तरभारत के नगरो, नदियो तथा अनेक विशेषताओ का यथार्थ वर्णन उन्होने किया है। उनके नाटको के प्रायः सभी दृश्य और चरित्र उत्तरभारत से सम्बद्ध है।

२. स्वप्न तथा प्रतिज्ञा मे यौगन्धरायण और रुमण्वान् के चरित्र व कार्यकलापो के अतिरिक्त अविमारक (१।५) मे कोजायन द्वारा 'कष्टममात्यत्वं नाम'—कहकर अगले पद्य मे अमात्य के जीवन की कार्यगुरुता का चित्रण भी इस मत की पुष्टि करता है। यौगन्धरायण का यह कथन भी द्रष्टव्य है—

ये प्रार्थयन्ति व मनोभिरमात्यशब्दं तेषां स्थिरोभवतु नश्यतु वाभिलाषः ॥

—प्रतिज्ञा, ४।७

मान्यताएँ और आदर्श

भास जीवन मे उत्साह, कर्मठता और साहस को वरेण्य गुण मानते है—यह उनके द्वारा यौगन्धरायण, अविमारक और राम जैसे चरित्रो के उपस्थापन से स्पष्ट हो जाता है।[1] दृढप्रतिज्ञा और स्वामिभक्ति भी उनकी दृष्टि मे श्रेष्ठ गुण है। इन गुणो का निदर्शन उन्होने प्रतिज्ञा और स्वप्न नाटको के दोनो अमात्यो के द्वारा प्रस्तुत किया है। भास की मान्यता है कि मनुष्य को प्रत्येक स्थिति मे कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। वे ब्राह्मणो को शम, दम, इन्द्रियजय तथा शास्त्रज्ञान से समन्वित देखना चाहते है। तथा क्षत्रियो को वे पौरुष और पराक्रम से सम्पन्न बनाना चाहते है। अविमारक के चरित्र द्वारा भास ने पौरुष और शौर्य का आदर्श उपस्थित किया है। वह अपनी बाल्यावस्था मे ही धूमकेतु नामक राक्षस को अपने पराक्रम से मार डालता है। अभिषेक के राम, मध्यमव्यायोग के भीम, बालचरित के कृष्ण, दूतघटोत्कच का घटोत्कच-ये सब तो शौर्य के मूर्तिमान रूप है ही।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि भास को कायरता तथा दुर्बलता से अतिशय घृणा थी और वे मनुष्य को बलिष्ठ और तेजस्वी देखना चाहते थे। इसी लिये उन्होने अपने प्रिय नायको के लिये—पीनास, व्यायामस्थिरविपुलोच्छ्रितास:, पीनं वक्ष:, कवाटपुटप्रमाणं वक्ष., प्रविपुलभुजद्वय:, विशालवक्ष:, तनिमार्जितोदर:, स्थिरोन्नतास:, सिंहास्य:, सिंहदंष्ट्र:, वज्रमध्य:, विपुलबलयुत., गजवृषभगति:, कनकतालसमानबाहु: आदि विशेषणो का प्रयोग करके बलिष्ठता और शक्ति के प्रति हार्दिक आकर्षण प्रगट किया है। भास की पराक्रमप्रियता का इससे बढकर प्रमाण क्या हो सकता है कि उन्होने उदयन जैसे नायक को, जो धीरललित नायक है, प्रबल पौरुष से युक्त बना दिया है। उदयन यंत्रमय हस्ती के शरीर से निकले अनेक योद्धाओ से वीरतापूर्वक अकेला ही भिड जाता है तथा साहसपूर्वक उनका सामना करता हुआ अधिकाश को

---

१. यौगन्धरायण के जीवन का मूलमन्त्र है—

काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद् भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।
सोत्साहाना नास्त्यसाध्य नराणा मार्गारब्धा सर्वयत्ना. फलन्ति ।। प्रतिज्ञा १।१८।

अन्यत्र भास ने उत्साहसम्पन्नता का प्रशंसा की है—

कातरा येऽप्यशक्ता वा नोत्साहस्तेषु जायते।
प्रायेण हि नरेन्द्रश्री: सोत्साहैरेव भुज्यते ।।—स्वप्न ६।७

साहस के सम्बन्ध मे भास का मत है—'साहसे खलु श्रीर्वसति'—(चारुदत्त में सज्जलक का कथन, भा० ना० च० पृ० २४०, पंक्ति १४)।

२. घटोत्कच अनेक लोगो को अकेला ही चुनौती देता है—

दष्टौष्ठौ मुष्टिमुद्यम्य तिष्ठत्येष घटोत्कच:।
उत्तिष्ठतु पुमान् कश्चिद् गन्तुमिच्छेद् यमालयम् ।।--दूतघटोत्कच, ५०

मार गिराता है। शेष बचे हुए सैनिक भय से भाग जाते है। इतने सैनिको के मध्य अकेला होने पर भी कोई उसे पकड नही पाता, और उसके ग्रहण के लिये उन्हे एकबार फिर छल का आश्रय लेना पड़ता है। वास्तव मे क्षत्रियत्व के संबंध मे भास की मान्यता थी—'बाणाधीना क्षत्रियाणा समृद्धि.' (पंचरात्र १।२४)। यज्ञ तथा प्रजा का पालन भी वे क्षत्रियो का आवश्यक कर्त्तव्य मानते थे।[1] क्षत्रियो के लिये प्रजा पुत्र के समान है। मृत्यु हो जाने पर भी क्षत्रिय यज्ञ से अमर रहता है (नष्टाः शरीरैः क्रतुभिर्धरन्ते–पचरात्र १।२०) यह भास का मत था।

भास दानशीलता तथा उदारता,[2] माता–पिता की आज्ञा का पालन[3] तथा धैर्य आदि गुणो को भी जीवन मे वरेण्य मानते थे। तथा मनुष्य को उनसे समन्वित देखना चाहते थे। स्त्री के सम्बन्ध मे उनका मत था कि उसका सबसे बड़ा धर्म पति का अनुगमन है।[4]

भास मधुरवाणी तथा विनय के प्रशंसक थे—(वाचानुवृत्तिः खलु अतिथिसत्कारः प्रतिमा पंचमाक, पृ० २९६)। गुरुजनो की सेवा को वे सर्वोत्तम कर्त्तव्य समझते थे। माता के रूप मे उन्होने स्त्री को देवताओ से बढकर माना है—माता किल मनुष्याणा देवताना च दैवतम्। (मध्यमव्यायोग, ३७)

प्रेम के सम्बन्ध मे

प्रेम के विभिन्न रूपो मे भास समवयस्को की मैत्री को श्रेष्ठ मानते थे। मित्र के संबंध मे उनका कथन है—

> गोष्ठीषु हास. समरेषु योध. शोके गुरु. साहसिक. परेषु।
> महोत्सवो मे हृदि किं प्रलापैर्द्विधा विभक्तं खलु मे शरीरम्॥ अवि० ४।२१

आदर्श मैत्री की भावना चिरकाल तक बनी रहती है तथा मित्र को देखकर वह और भी संवर्धित होती है, इसीलिये अविमारक में कुन्तीभोज सौवीरराज को देखकर कहते है—"स्नेहान्नवीकृत इवाद्य वयस्यभाव:" (६।१)।

भास के मत मे प्रेम सर्वव्यापक तत्व है, इसी लिये काशिराज की महिषी अपरिचित अविमारक को देखकर भी स्नेहाकुल बन जाती है।

---

१. पंच १।२०। २. चारुदत्त तथा कर्ण जैसे चरित्र इसके उदाहरण है। ३. प्रतिमा १।५।

४. अनुचरति शशाङ्कं राहुदोषेऽपि तारा
पतति च वनवृक्षे याति भूमिं लता च।
त्यजति न च करेणु: पङ्कलग्नं गजेन्द्रं
व्रजतु चरतु धर्मं भर्तृनाथा हि नार्यः॥—प्रतिमा १।२५।

आदर्श प्रेम प्रिय के वियोग मे घटता नही, अपितु बढता है। भास के आदर्श प्रेमी उदयन का कथन है—

दु खं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः स्मृत्वा स्मृत्वायाति दुःखं नवत्वम्।—स्वप्न० ४।६

तथा—

कथं न सा मया शक्या स्मर्तुं देहान्तरेष्वपि। —वही, ६।११

धार्मिक विश्वास और मान्यताएँ

धर्म मे भास की दृढ आस्था थी। उनके मत मे धर्म जीवन मे सबसे महत्त्वपूर्ण है—(धर्मः प्रागेव चिन्त्यः —अविमारक १।१२)।[1] धर्मपरायण पुरुष को मृत्यु पश्चात्तापकारक नहीं होती।[2] युग की प्रवृत्तियो के अनुरूप भास वैष्णव मत के अनन्य भक्त थे। मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, अविमारक आदि के नान्दीपाठो मे उनकी विष्णु मे श्रद्धा प्रकट हुई है। विष्णु के प्रति भाव मे तन्मय होकर उन्होने कहा है—

यथा नदीनां प्रभवः समुद्रो यथाहुतीना प्रभवो हुताशनः।
यथेन्द्रियाणां प्रभवं मनोऽपि तथा प्रभुर्नो भगवानुपेन्द्रः॥

—मध्यमव्यायोग, १।५२।

राम और कृष्ण को वे विष्णु का अवतार मानते थे (बालचरित १।१)।

विष्णु के इन तीन अवतारो मे भी कवि की भक्ति थी। उसने स्थान-स्थान पर दोनो को श्रद्धा अर्पित की है।[3]

---

१. भास के नाटको मे स्थान स्थान पर संवादो में उनकी धर्म के प्रति श्रद्धा झलकती है—मैथिलि, अपि तपो वर्धते ? (प्रतिमा, भा० ना० च० पृ० २६४), मैथिलि, यदि नास्ति धर्मविघ्नः आस्यताम्—वही। पंचरात्र मे भीष्म के मुख से भास ने कहलवाया है—

निषेव्य धर्मं सुकृतस्य भाजनं स एव रूपेण चिरस्य शोभते॥ —१।२०।

स्वप्नवासवदत्त मे कंचुकी कहता है—

धर्मप्रिया नृपसुता नहि धर्मपीडामिच्छेत्तपस्विषु कुलव्रतमेतदस्याः॥ स्वप्न १।६।

२. अपश्चात्तापकरः किल संचितधर्माणां मृत्युः।

—प्रतिज्ञा, चतुर्थाङ्क, भा० ना० च० पृ० १०१।

३. ऊरुभंग १, प्रतिमा १।१, अभिषेक १।१ आदि।

वर्णाश्रम धर्म मे भास की दृढ आस्था थी। यज्ञ[1], तपोबल[2], ज्योतिष,[3] यक्षिणी,[4] अवतारवाद[5] तथा विद्याधर, सिद्ध आदि और उनकी दिव्य शक्तियो में[6] भास का विश्वास था। पतिव्रताओ के तेज और प्रभाव मे उनका प्रबल विश्वास था।[7] ब्राह्मणो तथा ब्राह्मण-धर्म के लिये भास के मन मे अतिशय आदर था।[8] कर्ण के मुख से उन्होने कहलवाया है—'ब्राह्मण के चरण की रज से मै कृतार्थ हुआ'।[9] पुनर्जन्म मे भी भास का विश्वास था।[10] पितरो के श्राद्धतर्पण आदि को वे धार्मिक दृष्टि से आवश्यक कर्त्तव्य मानते थे। अपने समय के प्रचलित सम्प्रदायो मे पाचरात्र सम्प्रदाय से भास विशेष प्रभावित हुए थे। पंचरात्र नाटक के नामकरण का सम्भवतः यही कारण रहा हो।

भास की धार्मिक दृष्टि सकुचित या साम्प्रदायिक नही थी। विष्णु और उनके अवतारो के अतिरिक्त कवि को शिव आदि देवताओ मे भी श्रद्धा थी।[11] बौद्ध और जैन धर्मों मे कवि की विशेष आस्था नही थी।[12]

१. पंचरात्र १।२३।

२ अविमारक मे मुनि के शाप से राजा चाण्डाल बन जाता है।

३. स्वप्न० १।११ और षष्ठाक (भा० ना० च० पृ० ५५, १२ वी पंक्ति)।

४. वही पंचमाक (भा० ना० च० पृ० ४३) मे विदूषक का संवाद।

५. अभिषेक ४।१३-१४, ६।२८, ३०; बाल० १।५ के बाद का गद्य, १।१, १।६।

६. अविमारक मे विद्याधर नायक को अदृश्य करने वाली अँगूठी देता है। प्रतिज्ञा मे व्यास प्रकट होकर यौगन्धरायण को वेष बदलने वाले वस्त्र देते है।

७. प्रतिमा मे सीता के तेज से प्रधर्षित रावण कहता है—

> योऽहमुत्पतितो वेगान्न दग्धः सुर्य-रश्मिभिः।
> अस्याः परिमितैर्दग्धः शप्तोऽसीत्येभिरक्षरैः॥ ६।२०

अभिषेक मे पुनः—देवाः सेन्द्रादयो भग्ना दानवाश्च मया रणे।

> सोऽहं मोहं गतोऽस्म्येव सीतायास्त्रिभिरक्षरैः॥ —२।१८

८. मध्यमव्यायोग ३३ के पूर्व का गद्य, पूज्यतमाः खलु ब्राह्मणाः, तस्माच्छरीरेण ब्राह्मणशरीरं विनिमातुमिच्छामि—मध्यम० पद्य ४० के पश्चात् भीम का संवाद। ब्राह्मणवचनमिति, न मया अतिक्रान्तपूर्वम्—कर्णभार मे कर्ण का कथन (भा० ना० च० पृ० ४८६), अनुत्तरा वयं ब्राह्मणेषु—पंचरात्र, द्वि० (भा० ना० च० पृ० ४०७)।

९ कर्णभार—१६। १०. अभिषेक १।१०। ११. स्वप्नवासवदत्त ११।

१२. प्रतिज्ञा में बौद्ध श्रमण के लिये उन्मत्तक शब्द का प्रयोग है (भा० ना० च० पृ० ८४)। अविमारक मे विदूषक उसे अज्ञानी मानने वाली चेटी से कहता है—'भवति, अहं कः, श्रमणकः ?' —(भा० ना० च० पृ० ११६)

रुचि

भास का व्यक्तित्व कलात्मक तथा सुसंस्कृत अभिरुचि से सम्पन्न है। नाटको मे चित्र और मूर्त्ति के प्रसंगो के संयोजन तथा पुनः पुन. तत्संबंधी शब्दो के प्रयोग कवि की शिल्पप्रियता का द्योतक है। भास ने आवश्यक न होने पर भी अनेक स्थानो पर शिल्प तथा कलाओ की चर्चा की है।[१]

नृत्य और संगीत मे कवि की अतिशय रुचि थी। बालचरित में कृष्ण, गोपो और गोपागनाओ के सामूहिक नृत्य को रंगमंच पर प्रस्तुत करने का यही कारण है।[२] चारुदत्त के तृतीयाङ्क के प्रारम्भ मे नायक के उद्‌गारो मे कवि का संगीतप्रेम स्फुट है।[३] वाद्यो मे भास को वीणा से विशेष लगाव था।[४] पशुओ मे उन्हे हाथी अधिक प्रिय था।[५]

प्रकृति

भास स्नेही, मृदुल और वात्सल्य प्रकृति के व्यक्ति थे। बालकों के भोले-भालेपन पर उनका मन विशेष मुग्ध हुआ करता था। पंचरात्र मे कवि ने अभिमन्यु को अपने हृदय की वात्सल्यधारा से स्नपित कर दिया है। अभिमन्यु की सरलता तथा बालोचित चेष्टाओ के चित्रण मे भी कवि का मन उतना ही रमा है, जितना उसके शौर्य और पराक्रम के चित्रण मे।[६] कथानक से विशेष संबंध न होने पर भी

---

१ स्वप्न० मे दारुपर्वत के लिये 'आलिखितमृगपक्षिसंकुलम्' विशेषण है—(भा० ना० च० पृ० २५)। प्रतिज्ञा और स्वप्न० मे चित्रित विवाह तथा दो स्थानो पर ऊरुभंग मे भी शिल्प की चर्चा है—(१।३, १।६०)। पंचरात्र के दूसरे अंक मे गोपालको के सामूहिक नृत्य का उल्लेख है। —(भा० ना० च० पृ० ३९१)।

२. बा० च० तृतीयाङ्क —(भा० ना० च० पृ० ५३९-४०)।

३. भा० ना० च० पृ० २२३-२४।

४. वयस्य, वीणा नामासमुद्रोत्थितं रत्नम्। कुतः,
उत्कण्ठितस्य हृदयानुगता सखीव, संकीर्णदोषरहिता विषयेषु गोष्ठी।
क्रीडारसेषु मदनव्यसनेषु कान्ता, स्त्रीणा तु कान्तरतिविघ्नकरी सपत्नी॥
चारु० ३।१ प्रतिज्ञा २।१२ तथा अविमारक ३।५-६ भी द्रष्टव्य।

५. हाथी के विभिन्न पर्यायो का कवि ने अनेकत्र प्रयोग किया है। द्रष्टव्य—दूतघटोत्कच १।३, ३०, ३३; मध्यमव्यायोग १।६, २४, २६, ४४, ४६, ५,३; ऊरुभंग १।२, ५-७।

६ पंचरात्र द्वितीयाङ्क —(भा० ना० च० पृ० ४०३-४०७)।

अपनी वात्सल्य-वृत्ति के परितोष के लिये कवि ने इस प्रसंग का विस्तार से उपबृंहण किया है। ऊरुभंग मे मरणासन्न दुर्योधन के हृदय को कवि ने दुर्जय के दर्शन से स्नेह पर्याकुल बना दिया है।[1] भास की वात्सल्यप्रवण कोमल मनोवृत्ति का इससे बढकर प्रमाण क्या हो सकता है कि उनका हृदय ब्राह्मणो की हिंसा के लिये उद्यत घटोत्कच के लिये भी उदार स्नेह से आपूरित है।[2]

भास के व्यक्तित्व मे हम गम्भीरता और विनोदप्रियता का अभूतपूर्व समन्वय पाते है। अपने साहित्यिक जीवन के शैशव मे कवि गम्भीर अधिक था, इसीलिये प्रतिमा और अभिषेक में, जो उसकी प्रारम्भिक कृतियाँ है, हास्य का पुट प्राय: नही है। महाभारत रूपको मे भास की हास्यपरायणता उभरी है तथा स्वप्नवासवदत्त तथा चारुदत्त जैसी परिणत प्रतिभा से प्रसूत कृतियो मे चरम विकास को पहुँची है। विदूषक के कथनो और कार्य-कलापो मे ही नही, अपितु अन्य प्रसंगो मे भी भास का विनोदी स्वभाव बार-बार सामने आता है। स्वप्नवासवदत्त के द्वितीयाङ्क मे वासवदत्ता और पद्मावती का संवाद, अभिमन्यु का प्रच्छन्न वेषधारी अर्जुन और भीम से वार्तालाप, घटोत्कच का अनजाने मे अपने पिता से झगडना और युद्ध—आदि अनेक प्रसङ्गो मे भास की शिष्ट हास्य की प्रवृत्ति का परिचय मिलता है।

भास का हृदय अत्यन्त ही उदार और विशाल था। दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति के लिये भी उनके हृदय मे स्थान था। दुर्योधन के चरित्र को भास ने अपनी दाक्षिण्य वृत्ति के कारण एकदम नये साँचे मे ढाल दिया है। वह द्रोणाचार्य की बात मानकर पाण्डवो को आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा करता है,[3] अभिमन्यु को अपना पुत्र समझता है[4] तथा मृत्यु के समय अपने कृत्यो पर पश्चात्ताप करता हुआ बलराम को भीम का वध करने से विनयपूर्वक रोकता है[5] और अपने पुत्र दुर्जय को द्रौपदी तथा पाण्डवो की सेवा करने का आदेश देता है।[6]

भास की प्रकृति की एक दुर्लभ विशेषता उसकी सामाजिक चेतना है। प्राचीन कथानकों को अपना कर भी भास अपने युग और समाज से प्रतिबद्ध है तथा विना किसी झिझक के उनके दोषो का उद्घाटन कर सकते है। अविमारक और कुरंगी

---

१ भो: सर्वावस्थाया हृदयसन्निहित: पुत्रस्नेहो मां दहति। तथा, अस्यामवस्थायामपि पुत्रस्नेहो मां दहति। —भा० ना० च० पृ० ५०१।

२. द्रष्टव्य मध्यमव्यायोग श्लोक ३५ तथा उसके पश्चात् भीम के संवाद।

३. पंचरात्र, प्रथमांक (भा० ना० च० पृ० ३८६)।

४. पंचरात्र ३।४। ५. ऊरुभंग (भा० ना० च० पृ० ४९४)।

६. वही, पृ० ५०५।

के गुप्त प्रणय का चित्रण करके उन्होने अपने समय के अन्त:पुरो के प्राचीरों के भीतर पलने वाले व्यभिचार का उद्घाटन किया है। विदूषक और चारुदत्त के चरित्र द्वारा कवि ने उच्च आदर्शों से पतित समकालीन ब्राह्मणो को व्यंग्य का लक्ष्य बनाया है। अविमारक के द्वितीयाक के प्रवेशक मे अनपढ किन्तु पेटू ब्राह्मणो पर तीखा व्यंग्य है, जो नाटककार की प्रबुद्ध सामाजिक चेतना का परिचायक है।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

विनोदशील प्रकृति के होते हुए भी भास जीवन के प्रति गम्भीर दृष्टि रखते थे। उन्होने जीवन के अनेक उतार-चढावो को देखा था और संभवत: उनके अनुभवो ने ही भास को भाग्यवादी भी बना दिया था। भास की दृष्टि मे जीवन हँसी-खेल नही है। मनुष्य को जीवन मे अनेक आघातो और विपदाओ का सामना करना पडता है। वासवदत्ता को नियति के चक्र से अपनी सपत्नी को माला गूँथनी पड़ती है; चारुदत्त की पत्नी अपनी भावी सपत्नी के लिये रत्नमाला अर्पित कर देती है, भरत मन्दिर मे अपने चार पूर्वजो को प्रतिमाओ को प्रणाम करते है—उन्हे यह पता नही कि इनमे से एक प्रतिमा उनके पिता की भी है और वे दिवङ्गत हो चुके है, अहंकारी और कामोन्मत्त रावण सीता को राम और लक्ष्मण के कटे हुए सिरो की प्रतिकृति दिखा कर डराता है, पर उसी समय लक्ष्मण के द्वारा अपने ही पुत्र के वध का वृत्तात सुनकर वह मूर्च्छित हो जाता है और विलाप करता है—इन सभी प्रसंगो के पीछे उस कवि का व्यक्तित्व है, जो जीवन को मात्र आमोद-प्रमोद की वस्तु नही समझता, वह जानता है कि जीवन मे मनुष्य को पदे-पदे संघर्ष करना पड़ता है और कठिनाइयो से जूझना पड़ता है, परन्तु भास भाग्यवादी होते हुए भी निराशावादी नही है। वे मानव-समाज को उत्साह और कर्मठता द्वारा विपदाओ का सामना करने का सन्देश देते है। उनका विश्वास है कि—

कालक्रमेण जगत: परिवर्त्तमाना चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्ति:।

—स्वप्न १।४।

चारुदत्त के विदूषक के मुख से भी भास ने इसी प्रकार की बात कहलवाई है।[1]

मनुष्य के जीवन मे भाग्य या दैव के व्यापक प्रभाव से भास का मन इतना

---

१. पुरुषयौवनानीव गृहयौवनानि खलु दशाविशेषमनुभवन्ति। भा० ना० च० पृ० १९६

आक्रान्त है कि वे अपनी कृतियो मे पुन. पुन भाग्य के माहात्म्य का वर्णन करते है।[1] परन्तु भाग्य के महत्व को अंगीकार करके भी वे जीवन मे उद्यमी बने रहने का सन्देश देते हैं।

बौद्धिक व्यक्तित्व

पाण्डित्य

भास सागोपाग वेद, मानव धर्मशास्त्र, माहेश्वर योगशास्त्र, बृहस्पतिकृत अर्थशास्त्र, मेधातिथि के न्यायशास्त्र तथा प्राचेतस श्राद्धकल्प से परिचित थे और सम्भवतः उन्होने इन ग्रन्थो का अध्ययन भी किया था।[2] संगीत आदि कलाओ के सम्बन्ध मे उनका अच्छा ज्ञान था।[3] चौर्यशास्त्र जैसे विषय की सूक्ष्मताओ से भी वे परिचित थे।[4]

अध्ययन तथा पर्यवेक्षण

भास ने मानव मनोविज्ञान का गहन अध्ययन किया था। इसीलिये वे अपने चरित्रो की भावनाओ को यथार्थ रूप मे उपन्यस्त करने मे समर्थ हुए है। प्रतिज्ञा यौगन्धरायण मे उदयन की वीणा के हाथ लगने पर महासेन कहते है कि यह वीणा पुत्री वासवदत्ता को दे दी जाय। वासवदत्ता की माता कहती है—वह तो वैसे ही पागल है, वीणा मिलने पर तो वह और भी पगला जायेगी। राजा कहते हैं—

---

१ यथा— दैवप्रामाण्याद् भ्रश्यते वर्धते वा —प्रतिज्ञा १।३।
कथं गृहीतः स्वामी प्रद्योतस्य भाग्यैर्निस्तीर्णः —वही, १।३।
भाग्यक्षयान्निष्फलमुद्यतानि —वही, १।१२।
यत्र गतानि मे भागधेयानि —चारुदत्त, भा० ना० च० १९७।
संवाहकः—प्रकृत्या वणिगहम्। ततो भागधेयपरिवृत्त्या—वही।
दैवमत्र कन्याप्रदानेऽधिकृतम्— प्रतिज्ञा, द्वितीयाङ्क,भा०ना०च०पृ०७३।
भाग्यैश्चलैर्विस्मित. —स्वप्न० १।३।
दिष्ट्या परैरपहृतम् राज्यम् —स्वप्न० षष्ठाङ्क, भा०ना०च०पृ० ४९।
भाग्यैश्चलैर्महदवाप्तगुणोपघातम् —स्वप्न० ६।४।
किं नाम दैवं भवता न कृतं यदि स्यात् —स्वप्न० ६।५।
दिष्ट्या स्वप्नायते खल्वार्यपुत्रः —स्वप्न० पंचमाङ्क, पृ० ४२।
दिष्ट्येदानीमपि स्मरतीति — स्वप्न० तृतीयांक।
भाग्येषु शेषमायतं दृष्टपूर्वं न चान्यथा। —प्रतिज्ञा २।५।

२. प्रतिमा, पंचमाङ्क (भा० ना० च० पृ० २९६)।

३. चारुदत्तम् ३।१-२। ४. वही, ३।८-१०।

'क्रीडतु क्रीडतु नैतत् सुलभं श्वसुरकुले ।[1] माता-पिता के स्नेह का कितना मनोवैज्ञानिक चित्रण है । विवाह के योग्य हो जाने पर भी माता स्नेह के कारण अपनी पुत्री को बच्ची ही समझती है—इस तथ्य को भी भास ने चरित्र-चित्रण मे अनेकत्र अपनाया है ।[2] स्त्री और पुरुष के प्रणय मे कवि को सूक्ष्म दृष्टि थी ।[3]

भास राजसभा के कवि भले ही रहे हो पर उन्होने समाज के उच्चतम वर्ग से लेकर निम्न से निम्न वर्ग के लोगो के जीवन और प्रवृत्तियो का निकट से अध्ययन किया था । चारुदत्त नाटक मे विट, शकार, शर्विलक, सज्जलक और पंचरात्र मे गोपो तथा बालचरित मे नन्दगोप आदि के चरित्र इसके प्रमाण है । पंचरात्र के द्वितीयाङ्क तथा बालचरित के प्रथमाङ्क मे गोपालो के जीवन और चेष्टाओ का चित्रण इतना यथार्थ है कि वह ऐसे कवि के द्वारा ही सम्भव है, जिसने स्वयं इस प्रकार के लोगो के बीच रहकर उनके जीवन को निरखा-परखा हो । प्रतिज्ञा के चतुर्थाङ्क के प्रारम्भ मे शराबी के व्यवहार का चित्रण भी अत्यन्त यथार्थ है ।[4]

भास ने समसामयिक समाज के साथ प्रकृति का भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण किया था । स्वप्नवासवदत्त के प्रथमाङ्क मे कवि ने तपोवन के वातावरण और प्राकृतिक दृश्य को शब्दो द्वारा प्रत्यक्ष एवं साकार बना दिया है जो उसकी असामान्य पर्यवेक्षण शक्ति का प्रमाण है ।[5] अविमारक मे निदाघ तथा अभिषेक मे समुद्र का चित्र भी प्रत्यक्ष अवलोकन एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण के निदर्शन है ।[6]

यज्ञ की प्रक्रिया एवं विधि का सागोपाग परिचय भास को था ।[7] युद्ध का भी कवि ने प्रत्यक्ष अनुभव या अवलोकन किया था—ऐसा प्रतीत होता है ।[8]

व्यावहारिक ज्ञान

भास मे पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा व्यावहारिक ज्ञान संस्कृत के इतर कवियो की तुलना मे अधिक है । स्त्रियो के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये[9] तथा कब किस प्रकार का समुदाचार प्रयोग मे लाया जाय—इसका पर्याप्त निदर्शन भास के काव्य मे मिलता है । यज्ञ, विवाह और व्यसन मे तथा स्वजनो के समक्ष[10] स्त्रियाँ निर्दोषदृश्या होती है—इस प्रकार की अनेक सामयिक रीतियो का उन्हें ज्ञान था ।

---

१. प्रतिज्ञा द्वितीयाङ्क,—(भा० ना० च० पृ० ८१) ।
२. भा०ना०च०पृ०७६, २१वी पङ्क्ति,पृ० १३५, ८१वी पङ्क्ति,पृ० ८२,३६वी पङ्क्ति ।
३. द्रटव्य—स्वप्न ५।५, ६ । अविमारक २।१-४, ३।२० ।
४. भा० ना० च० पृ० ६४-६८ । ५. स्वप्न० १।१२, १६ ।
६. अविमारक ४।४, ५ अभिषेक ४।१७ ।
७. पंचरात्र १।१-१८ में यज्ञ का विस्तृत वर्णन है ।
८. द्रष्टव्य—ऊरुभंग १७-२५ का युद्ध वर्णन । ९. प्रतिज्ञा० १।१३ ।
१०. प्रतिमा १।२९, स्वप्न० अङ्क—६, भा० ना० च० पृ० ४८, पङ्क्ति २८-२९ ।

काव्य-प्रतिभा

यद्यपि भास के समय तक संस्कृत मे नाट्यसाहित्य का सर्जन प्रारम्भ हो चुका था, पर भास ने संस्कृत नाटक को अपनी प्रखर प्रतिभा से एक नया रूप प्रदान किया तथा नई दिशा दी। वस्तुतः भास ने अपनी प्रतिभा के अभिनवोन्मेष से नाट्यसाहित्य के नये मापदण्डो की स्थापना की। भास के द्वारा स्थापित नाटक के अनेक प्रतिमान परवर्ती कवियो के लिये अपनी प्रभविष्णुता के कारण रूढियाँ बन गये। उदयन, विदूषक और यौगन्धरायण जैसे पात्रो की भास ने सृष्टि की और उनके परवर्ती नाट्यकारो ने इन पात्रो को प्रायः उसी रूप मे अपना लिया, जो रूप भास ने इनको दिया था।

कल्पना

भास की सर्जनशील कल्पना दो रूपो मे समुल्लसित हुई है। उसका एक रूप वस्तुपरक है और दूसरा भावपरक। प्रथम रूप का उपयोग कथावस्तु और घटनाओ के विन्यास और संयोजन मे हुआ है तथा दूसरे का उपयुक्त प्रतीको, बिम्बो और उपमानो के द्वारा भावबोध और रससृष्टि करने मे। अपने दोनो ही रूपो मे भास की कल्पना उर्वर, समर्थ और सशक्त है।

कवि की कल्पना-शक्ति क्रमिक रूप मे विकसित हुई है। रामायण रूपको मे कवि-कल्पना उर्वर होते हुए भी प्रभविष्णु नही है—वह कही पर सन्तुलन और औचित्य के अभाव से ग्रस्त है तो कही पर विशृंखलता और अतिशयोक्ति से।[1] बालचरित तथा

---

१. यथा—प्रतिमा मे राम को दशरथ की मृत्यु ज्ञात होने का कही भी उल्लेख नही किया गया, फिर भी उन्हे चित्रकूट मे भरत से मिलते ही पितृमरण के शोक मे विलाप करते हुए प्रदर्शित किया गया है—(भा०ना०च० पृ० २८६)। शूर्पणखा वृत्तान्त के पूर्ण अनुल्लेख के कारण रावण के द्वारा सीताहरण की योजना सुसम्बद्ध नही लगती। अभिषेक मे बालि की मृत्यु पर अंगद का विलाप (भा० ना० च० पृ० ३२७-२८) या रामविरहिता सीता के अशोकवाटिका के कथन हृदय को छू नही पाते। इस दूसरे प्रसंग मे कवि न तो रावण के औद्धत्य, दर्प या सीता के प्रति वासना को ही सम्यक् प्रकट कर सका है और न सीता के विषाद या कातरता को ही—(भा० ना० च०पृ०६, ३३५-३६, २५६-५५)। षष्ठ अङ्क में विद्याधरो के द्वारा राम-रावण के युद्ध का १८श्लोको मे वर्णन नाटकीय दृष्टि से अनुपयुक्त है। रावण, लक्ष्मण आदि चरित्रो को स्वाभाविक रूप मे कवि चित्रित नही कर सका।

महाभारत रूपको मे कवि-कल्पना अधिक सक्षम है और अविमारक प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त और दरिद्रचारुदत्त में उसका सर्वोच्च विलास प्रकट हुआ है ।

घटनाओ की उद्भावना और सयोजन मे भास की कल्पना अद्वितीय है । कवि के समस्त रूपको मे कल्पना ने नवीन तत्त्वो का आविर्भाव करके उनके आकर्षण और औचित्य मे अभिवृद्धि की है । प्रतिमा मे दशरथ की मृत्यु के समय उनके पूर्वजो का आगमन, भरत का प्रतिमादर्शन द्वारा पितृमरण का ज्ञान, पंचमाङ्क मे सीताहरण के पूर्व राम-रावण का मिलन, श्राद्ध के लिये काचनमृग की आवश्यकता, भरत का सीता-हरण वृत्तान्त सुनकर दु:ख और राम की सहायता के लिये समुद्योग तथा राम और कैकेयी के चरित्रो मे परिवर्तन—भास की कल्पना की उर्वरता के परिचायक है । पंचरात्र और मध्यमव्यायोग की कल्पना तो एकदम नवीन है ही, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच और ऊरुभग मे भी कवि ने महाभारतीय कथानक को अभिनव कल्पनाओ के समुन्मेष से आकर्षक बना दिया है । लोक कथाओ पर आधारित चारो रूपको मे भी कवि ने कथानको को अपनो कल्पना से चमका कर सर्वथा नवीन और मौलिक रूप मे प्रस्तुत किया है ।

भास की कल्पना को उर्वरता और सामर्थ्य उनके नाटकीय संविधान मे देखा जा सकता है । नाटको मे पदे पदे ऐसी सस्थितियाँ भास ने उपस्थित करायी है, जिनके द्वारा वे पात्रो की भावनाओ को अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप मे सामने ला सके हैं । स्वप्नवासवदत्त मे घटनाओ का सयोजन इस दृष्टि से अपूर्व कहा जा सकता है । वासवदत्ता और उदयन का जो अन्तरंग मनोविश्लेषण भास ने इस नाटक मे प्रस्तुत किया है, वह घटनाओ के कुशल संयोजन के माध्यम से ही । वासवदत्ता पद्मावती के पास अज्ञातवास कर रही है । इधर पद्मावती का उसके पति से विवाह हो रहा है, सारा राजप्रासाद आमोद-प्रमोद मे डूबा है और वासवदत्ता अपनी आन्तरिक वेदना से घुटती हुई एकान्त मे आँसू बहा रही है । इसी समय एक दासी आकर उसे फूल थमा जाती है कि वह झटपट पद्मावती के लिये मालाएँ गूँथ दे । वासवदत्ता कहती है यह काम भी मुझे करना था । यहाँ माला गूँथने का प्रसंग उपस्थित कराकर भास स्थिति की मार्मिकता को कई गुना तो बढाते ही हैं, वासवदत्ता के हृदय का, और भी गहराई से, उद्घाटन करने का अवसर भी वे प्राप्त करते है । इसी प्रकार चतुर्थ अङ्क मे विदूषक का राजा से बार-बार पूछना कि दिवंगत वासवदत्ता उनको अधिक प्रिय थी या अब पद्मावती, राजा का प्रश्न को टालना, लताकुंज की ओट मे छिपी हुई वासवदत्ता और पद्मावती का इस वार्तालाप को सुनना, राजा का अपनी समझ से मृत वासवदत्ता के लिये अनन्य अनुराग और विषाद प्रकट करना और छिपकर यह सब देखती सुनती वासवदत्ता का आनन्दविह्वल

होकर अश्रु बहाना इस सारे प्रसंग की संयोजना वासवदत्ता और उदयन के अन्तर्गत को हमारे सामने पर्त-दर-पर्त खोलने के लिये ही की गयी है। पंचमाङ्क के स्वप्न दृश्य मे वासवदत्ता की उदयन के लिये अपनत्व भरी चिन्ता और कातरता, उदयन के अन्तर्मन की गहराइयो तक पैठा हुआ वासवदत्ता के लिये प्रेम, स्वप्न मे वासवदत्ता को देखते हुए भ्रम से वास्तविक वासवदत्ता को पकडने के लिये हाथ बढाना, वासवदत्ता की सोये हुए राजा को एक क्षण निहारने के लिये ललक, इन सब की संयोजना अपूर्व है और इस दृश्य मे भास ने बडी कुशलता से उदयन और वासवदत्ता के अन्तर्मन मे उनके पुर्नमिलन की पृष्ठभूमि निर्मित की है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण मे नायक-नायिका के रंगमंच मे आदि से अन्त तक अप्रकट रहते हुए भी भास उनकी उपस्थिति और प्रभाव की अनुभूति सर्वत्र करा सके है। दो ऐसे निकट के संबंधी पात्रो को मिला देना जिनमे से एक दूसरे को पहचान ले और दूसरा न पहचान पाये—इस नाटकीय संयोजना का भास ने कुछ स्थानो पर बडी कुशलता से प्रयोग किया है और हास्य-विनोद के इस वातावरण की सृष्टि की है। मध्यम व्यायोग मे भीमसेन और घटोत्कच परस्पर युद्ध के लिये तत्पर खडे है। भीम ने अपने पुत्र को पहचान लिया है, पर घटोत्कच ने भीम को नही जाना। घटोत्कच कहता है– 'आप मुझको क्या समझते है।' भीम 'मै तुमको अपने पुत्र जैसा जानता हूँ।' घटोत्कच ने इस पर क्रुद्ध होकर कहा 'क्या मै तुम्हारा पुत्र हूँ?'—इसी प्रकार जब भीमसेन ने कहा– 'यह दाहिनी भुजा ही मेरा आयुध है' तो घटोत्कच ने कहा– 'इस प्रकार की बात तो मेरे पिता भीम ही कह सकते है।' भीम ने जब कहा कि यह भीम कौन है। तब घटोत्कच फिर क्रुद्ध हो गया। इस प्रकार पंचरात्र-द्वितीयाङ्क मे अभिमन्यु की छद्मवेषधारी अर्जुन और भीम से विराट नगर मे भेंट कराकर भास ने अत्यन्त मधुर विनोद की सृष्टि की है।

वर्ण्य के स्वरूप को विशद या आकर्षक रूप मे प्रस्तुत करने के लिये उपमानो और बिम्बो की सृष्टि करने मे भी भास की कल्पना का चमत्कार कम नही है। आकाश मे विचरण करती हुई बलाका-पंक्ति उनको 'सप्तर्षिवंशकुटिल' लगती है और निर्मल आकाश 'निर्मुच्यमानभुजगोदरसदृश।'[1] इसी प्रकार भास निद्रालीन प्रजा को गर्भस्थ के समान बताते है और अन्धकार को समुद्र से उपमित करते हुए रूपक की अभूतपूर्व सृष्टि करते है।[2] अन्धकार की प्रगाढता को प्रदर्शित करने के लिये चारुदत्त मे पुनः नवीन कल्पना का आश्रय लिया गया है—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता॥ १।१९

तथा—उन्मीलितापि दृष्टिर्निमीलितेवान्धकारेण।—१।२१

---

१. स्वप्न० १।२। २. अविमारक ३।३,४।

तिमिर मे गिरती चन्द्ररश्मियो को पङ्क मे गिरती क्षीर धाराओ के समान,[1] अस्त होते अष्टमी के चन्द्रमा को जल मे अवगाहन करते वन्यद्विप की विषाणकोटि के समान[2] तथा निद्रा को जरा के समान बतलाना[3] भास की मौलिक कल्पना तथा सूझबूझ है।

वाल्मीकि की भाँति औचित्य भास की कल्पना की सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होने उन्ही उपमानो और बिम्बो को ग्रहण किया है। जो वर्ण्य वस्तु की स्थिति को पूर्ण रूप मे अनुभव करा सके। उदाहरण के लिये राम के वियोग मे शोकाकुल दशरथ का यह वर्णन—

मेरुश्चलन्निव युगक्षयसन्निकर्षे शोषं व्रजन्निव महोदधिरप्रमेयः।
सूर्यः पतन्निव मण्डलमात्रलक्ष्यः शोकाद् भृश शिथिलदेहगतिर्नरेन्द्रः॥
—प्रतिमा २।१

अथवा दशरथ का यह कथन—

सूर्य इव गतो राम सूर्यं दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता॥ वही, २।७७

परिस्थिति की गुरुता तथा दशरथ की शोकाकुलता का अनुभव कराने मे पूर्ण समर्थ है।

भास की सूक्ष्मपर्यवेक्षणशक्ति के कारण उनकी कल्पना जीवन और प्रकृति के अत्यन्त ही यथार्थ और स्वाभाविक चित्र अंकित कर सकती है। स्वप्नवासवदत्त मे तपोवन और सूर्यास्त[4] के दृश्य तथा ऊरुभंग मे क्रुद्ध होते बलराम का चित्र इसी कोटि के है। उनकी कल्पना का आदर्श रूप वासवदत्ता, पद्मावती, राम, चारुदत्त, भरत जैसे चरित्रो के उत्कृष्ट प्रस्तुतीकरण मे है। बालचरित मे पशुरूपधारी असुरो के तथा दूतवाक्य मे कृष्ण के दिव्यास्त्रो के प्राकट्य मे कविकल्पना का अतिरंजित रूप भी मिलता है। भास मे मानवीकरण की प्रवृत्ति विरल ही है क्योकि वाल्मीकि और भवभूति जैसी भावतरलता उनमे नही है।

सौन्दर्यचेतना

कालिदास मे मिलने वाली सौन्दर्यबोध की उदात्तता और व्यापकता भास मे नही है, पर प्रकृति के सहज अकृत्रिम सौन्दर्य से भास को विशेष लगाव है। स्वप्नवासवदत्त मे आश्रय की नैसर्गिक सुषमा मे कवि का मन विशेष रमा है, जहाँ पर—

---

१ चारु० १।२६। २. चारु० ३।३।
३. वही ३।४। ४. स्वप्न० १।१२,१६।

विश्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः॥

—हरिण विश्रब्ध भाव से बेखटके चर रहे है, वृक्ष फूल और फल से लदे है, कपिल गायो के झुण्ड के झुण्ड दिखाई देते है, खेत कही भी नही है और हवन करने से निकला हुआ धुँआ अनेक स्थानो से उठ रहा है।

इस नाटक के प्रथम अंक के अन्तिम पद्य मे तपोवन मे घिरती हुई सन्ध्या का चित्र बडी ही सूक्ष्मता के साथ स्निग्ध मसृण शैली मे अकित किया गया है और वह भास की सौन्दर्यदृष्टि की प्रशान्त गरिमा का परिचायक है।

कालिदास की भाँति भास की सौन्दर्यदृष्टि राजसभा के वातावरण से आक्रान्त नही है। सामन्तीय वैभव की चकाचौंध मे भास जीवन के सहज सौन्दर्य को भूले नही है। इसीलिये उन्होने 'सर्वशोभनीयं सुरूपं नाम' (भास नाटक–चक्र, पृ० २५३)—कहकर कृत्रिम अलंकरणो को स्वभाविक सुन्दरता की अपेक्षा गौण स्थान दिया है। यही कारण है कि भास बाह्य सौन्दर्यमात्र पर मुग्ध न होकर मनुष्य के हार्दिक आन्तरिक सौन्दर्य का उद्घाटन कर सके है। कवि को वासवदत्ता के हृदय की विशालता और उदारता ने अभिभूत किया है। दुर्योधन का चरित्र भी उसके हाथो सदाशयता और गरिमा से मण्डित बन गया है।

भास कोमल और मृदुल सौन्दर्य की अपेक्षा कठोर पौरुषमय विराट् सौन्दर्य से अधिक आकर्षित है। प्रकृति मे भी कवि उसी वस्तु पर अधिक मुग्ध है, जो विराट पौरुषमय सौन्दर्य का प्रकाशन करती है[1] तो कही नदियो की सहस्रो भुजाओ से युक्त तथा राम को भी चुनौती देने वाले अनन्त सागर ने उसकी सौन्दर्य-चेतना को उद्बुद्ध किया है।[2] भीम, बलराम, घटोत्कच आदि पुरुष नायको के प्रबल सक्षम और सुदृढ़ शरीर की सुन्दरता का भास ने जितनी तन्मयता से वर्णन किया है, उतनी तन्मयता से अपनी नायिकाओ की कोमल सुन्दरता का नही।

भास के सौन्दर्य-दर्शन मे सन्तुलन है, जो उनकी शैली मे प्रतिफलित हुआ है। भास की शैली अपने स्वाभाविक पदविन्यास और भाषासौष्ठव के लिये प्रशंसनीय है। 'प्रियनिवेद्यमानानि प्रियाणि प्रियतराणि भवन्ति', 'सर्वमलंकारः सुरूपाणाम्', 'वाचा-

---

१. अविमारक ५।६।
२. अभिषेक ४।३,४।

नुवृत्तिः खलु अतिथिसत्कारः,' 'अल्पं तुल्यशीलानि द्वन्द्वानि सृज्यन्ते,' 'कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः' जैसे वाक्यो मे मिलने वाली शैली की कसावट और सुघडता भास की सन्तुलित सौन्दर्य-दृष्टि से ही उपजी है।

उपसंहार

भास संस्कृत के उन विरले कवियो मे से है, जिनका व्यक्तित्व नागरिकता के बीच रहकर भी व्यास और वाल्मीकि की परम्परा मे विकसित हुआ है। भास के व्यक्तित्व मे एक ओर तो नागरिक संस्कृति का रंग चढा है, सामन्तीय विलास और ऐश्वर्य की गरिमा से भी वे प्रभावित है, उद्धत और उद्दीप्त क्षत्रियत्व ने उन्हे अभिभूत किया है, पर दूसरी ओर उनके संस्कार उन्हे आर्ष संस्कृति की ओर उन्मुख बनाये हुए है। कीथ के शब्दो मे--'भास को हम किसी भी तरह से जनता का कवि नही कह सकते, वे एक विदग्ध और मँजे हुए कलाकार है, पर उनकी परिष्कृत अभिरुचि ने उन्हे दरबारी साहित्य की कमजोरियो और कृत्रिमता से बचा लिया है। दरबारी कवि होते हुए भी भास की कविता अकृत्रिम है।'[1]

भास मे हम दरबारी कवियो की संकीर्णता और गर्हित कामुक मनोवृत्ति नही पाते, यद्यपि भास न तो वाल्मीकि के समान सन्त हो है और न व्यास के समान बौद्धिक चिन्तक हो। भास में जीवन और जगत् को व्यापक धरातल पर देखने तथा युग चेतना को आत्मसात् करके भी अतीत और अनागत को उद्घाटित करने तथा सृष्टिक्रम मे अनुस्यूत सामंजस्य को अनुभूत करने की शक्ति देने वाला सन्दर्शन भी नही है, जो वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति मे है। भास ने युगचेतना को आत्मसात् तो किया था, पर युग की प्रवृत्तियो से एकदम ऊपर उठकर स्वतंत्र कविचेतना का उन्मेष उनके व्यक्तित्व मे नही है। फिर भी भास की दृष्टि माघ, हर्ष आदि की भाँति जीवन के संकुचित क्षेत्र मे ही केन्द्रित नही रही। उनमे मौलिक प्रतिभा, व्यापक संवेदना और उदार दृष्टि है, जो इन परवर्ती कवियो मे नही है। भास की ये विशेषताएँ उनके समसामयिक परिवेश के अनुरूप ही हैं, क्योकि उनके युग मे रूढियो और नियमो की शृंखला ने कवि-व्यक्तित्व और कविता के विकास को एकदम जकड़ा नही था।

---

१. संस्कृत ड्रामा : ए० बी० कीथ।

तृतीय अध्याय

अश्वघोष

समकालीन परिस्थियाँ

अश्वघोष के पूर्व मौर्य साम्राज्य का विध्वंस हो चुका था और यवन, शक आदि विदेशी जातियो को उत्तरभारत पर आक्रमण और अधिकार करने का एक बार फिर सुअवसर मिल गया था। विदेशी नरेशो ने लगभग दो सौ वर्षो तक अपनी सत्ता इस भूभाग मे स्थापित रखी। इन आक्रान्ताओ मे पह्लव, कुषाण आदि भी थे।

सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत पर सुसंगठित रूप से आक्रमण यूनानी सेनानायक इवदिस के पुत्र दिमेत्र के द्वारा किया गया। उत्तर भारत की उसकी विजयो मे सिन्धुघाटी तथा पंजाब के कुछ भाग सम्मिलित थे। उसने सागल (स्यालकोट) को अपनी राजधानी बनाया। दिमेत्र के पश्चात् उसके जामाता मिलिन्द ने शासनभार सम्हाला। उसका राज्य मध्य एवं दक्षिण पूर्व पंजाब तक व्याप्त था। मिलिन्द के पश्चात् योग्य उत्तराधिकारियो के अभाव मे उसके द्वारा अधिकृत पूर्वी पंजाब का प्रदेश शको के अधिकार मे चला गया। ग्रीक सत्ता उत्तर पश्चिमी कुछ भागो पर सिकन्दर के आक्रमण के १५० वर्षो बाद तक बनी रही, पर उसका राजनीतिक दृष्टि से महत्त्व नगण्य था। इन ग्रीक राज्यो के पतन मे शक, कुषाण आदि आक्रमणकारियो का विशेष योग था। प्रथम शताब्दी ई० पू० तक भारत के कई प्रदेशो मे शको ने अपने राज्य स्थापित कर लिये। ये प्रान्तीय शासक क्षत्रप कहलाते थे। तक्षशिला, मथुरा, महाराष्ट्र और उज्जैन—इन चार प्रदेशो मे क्षत्रपो का विशेष महत्व था। उज्जयिनी मे चष्टान और उसके वंशज जयदामन् तथा रुद्रदामन् विशेष प्रभावशाली थे।

कुषाण सत्ता का संस्थापक कुजुल कैफिसेस था। उसने सभी कुषाण कबीलो को संगठित कर एक साम्राज्य की स्थापना की जिसकी सीमाएँ वंक्षु से लेकर सिंधु तक व्याप्त थीं। इसके पश्चात् उसका पुत्र विम कैफिसेस राजा बना, जिसने अपना प्रभाव इतना विस्तृत कर लिया कि पश्चिम भारत और मालवा के क्षत्रपो ने कुषाण प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। विम कैफिसेस का उत्तराधिकारी कनिष्क हुआ, जो कुषाण मे सबसे प्रसिद्ध और शक्तिशाली था। उसने लगभग ७८ ई० से १०२ ई० तक शासन किया।[1]

1. Journal of Bihar & Orissa Research Society, Vol, 23, 1937 (Date of Kanishka Vindicated—A.Benerji Shastri).

विद्वानो के मतानुसार इसी कनिष्क ने सिंहासनस्थ होने पर शालिवाहन संवत् का प्रवर्तन किया। उसने पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर वहाँ के प्रसिद्ध पण्डित अश्वघोष को लाकर अपनी राजसभा मे रखा—ऐसी जनश्रुति है। कुछ विद्वानो के मतानुसार कनिष्क ने चतुर्थ परिषद् मे सम्मिलित होकर बुद्ध के उपदेशो के सम्पादन कार्य में सहायता करने के लिए साकेत से अश्वघोष को आमन्त्रित किया था तथा अश्वघोष चतुर्थ परिषद् के सभापति थे।

कनिष्क प्रतापी राजा था। दक्षिण के, काठियाबाड तथा मालवा के क्षत्रप इसके अधीन थे। उसका साम्राज्य उत्तर मे अफगानिस्तान, काश्मीर, पश्चिम में सिन्धुघाटी से दक्षिण मे विंध्य मेखला तथा बिहार तक विस्तृत था। कनिष्क ने अपने आपको भारतीय वातावरण मे घुला-मिला लिया था। सास्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया का प्रकर्ष कनिष्क के काल में ही भारत मे दृष्टिगोचर होता है। कला के क्षेत्र मे गान्धार कला मे यह समन्वय स्फुट रूप मे देखा जा सकता है। कनिष्क अन्य धर्मों के प्रति उदार था। उसके जीवनकाल मे चतुर्थ बौद्ध संगीति गान्धार में हुई तथा अशोक की भाँति उसने बौद्ध स्तूप, चैत्य और विहार बनवाये। विख्यात दार्शनिक वसुमित्र उसके दरबार के प्रमुख विद्वानो मे से एक था। उसके सभापतित्व मे ही बौद्ध धर्म की संगीति सम्पन्न हुई थी ऐसा कुछ लोगो का मत है। पार्श्व और संघरक्ष कनिष्क के समय के अन्य विद्वान् थे। प्रसिद्ध चिकित्साशास्त्री चरक कनिष्क का राजवैद्य था।[1]

मौर्य साम्राज्य के विघटन के पश्चात् शुंगकाल मे ब्राह्मण धर्म की मर्यादा पुनः नवीन रूप मे प्रतिष्ठित होने लगी थी तथा बौद्ध धर्म से प्रेरणा लेकर एक बार फिर हिन्दू धर्म को जनता का धर्म बनाने का प्रयास किया गया, जो महाभारत मे स्पष्ट देखा जा सकता है। हिन्दू धर्म के इस नवीन रूप से जनता की आस्था बौद्ध धर्म से हटकर पुनः हिन्दू धर्म मे जाग्रत होने लगी तथा उसे हिन्दू धर्म का नवीनतम रूप बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक सहजसाध्य प्रतीत होने लगा। अत. बौद्ध धर्म के अनुयायियो ने भी अपने धर्म को तत्कालीन हिन्दू धर्म के समान बोधगम्य तथा लोकप्रिय बनाने के लिये उसके परम्परागत ढाँचे को पुनर्निर्मित करने का प्रयास किया। इस प्रकार महायान का विकास हुआ।

आभिजात्य तथा जीवन

अश्वघोष की कृतियों का अध्ययन करने के पश्चात् इसमें कोई सन्देह नही रह जाता कि उन्होने एक ब्राह्मण परिवार मे जन्म लिया था। चीनी परम्पराएँ भी

१. भारतीय संस्कृति का इतिहास, विशुद्धानन्द पाठक, पृ० ४५।

इस धारणा की पुष्टि करती है। अश्वघोष बौद्ध धर्म मे कब, क्यो और किस प्रकार दीक्षित हुए यह कहा नही जा सकता। इतना निश्चित है कि ब्राह्मण परिवार मे जन्म लेने के कारण अश्वघोष ने द्विजो के संस्कार पाये थे तथा विधिवत् शास्त्राध्ययन किया था। अश्वघोष की माता का नाम उनके दोनो ही महाकाव्यो को पुष्पिकाओ के अनुसार सुवर्णाक्षी था और वे साकेत के निवासी थे।[1] सिजुकी के अनुसार अश्वघोष किसी मठ मे रहते थे और उनके प्रवचन का ढंग इतना प्रभावोत्पादक था कि जनता उसे सुनकर रोने लगती थी।[2]

भारतीय तथा चीनी दन्तकथाओ के अनुसार बचपन मे अश्वघोष को वैदिक धर्म की शिक्षा दी गयी थी। परन्तु समयानन्तर पार्श्व के शिष्य पूर्णयशस् ने इन्हे बौद्ध धर्म मे दीक्षित कर लिया। पार्श्व अपने समय के बहुत बडे विद्वान् भिक्षु थे। कहा जाता है कि वे कनिष्क के द्वारा संगठित चतुर्थ बौद्ध-संगीति के सभापति थे। बौद्धधर्म मे दीक्षित होने पर अश्वघोष ने साधारण जनता को धर्म के गूढ रहस्यो को पाटलिपुत्र आकर मधुर भाषा मे समझाना प्रारम्भ किया। इस कार्य मे उन्होने अपनी कवित्व-शक्ति तथा दार्शनिक प्रतिभा के साथ-साथ संगीत ज्ञान का भी पूरा उपयोग किया। इनके व्याख्यान इतने रोचक होते थे कि हिनहिनाते हुए घोडे भी हिनहिनाना छोडकर मौन होकर उनको सुनने लगते थे। इसीलिये इनका नाम अश्वघोष पड गया। दूसरी किवदन्ती के अनुसार कनिष्क के पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने पर वहाँ के शासक ने हार मानकर छह करोड स्वर्ण मुद्राएँ देना स्वीकार किया। तीन करोड के बदले मे बुद्ध का भिक्षापात्र तथा शेष तीन करोड के बदले मे अश्वघोष को दे दिया गया। कनिष्क अश्वघोष को अपनी राजधानी पेशावर ले आया और उनसे बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली। अश्वघोष के प्रभाव से ही कनिष्क अशोक की भाँति बौद्ध धर्म के प्रचार मे जुट गया।

उपरिलिखित जनश्रुतियो तथा अन्य उल्लेखो से अश्वघोष के जीवन के सम्बन्ध में इतना निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक द्विज परिवार मे जन्म लेकर तथा हिन्दू धर्म के ग्रन्थो का सम्यक् अध्ययन करने के अनन्तर वे बौद्ध धर्म मे दीक्षित हो गये तथा उन्होने अपना शेष जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार मे अर्पित कर दिया। कनिष्क से संभवतः उनका सम्बन्ध था। सौन्दरनन्द की कथा मे कवि अपने जीवन के सम्बन्ध मे कुछ संकेत देता हुआ प्रतीत होता है। सौन्दरनन्द को बुद्ध के द्वारा

---

१. तारानाथ तथा चीनी अनुश्रुतियो के अनुसार भी अश्वघोष पूर्वी भारत मे हुए थे—Aswaghosa—B. C. Law, p. 3.

२. वही, पृ० ३।

दीक्षित करवाने में सम्भव है स्वयं की दीक्षा की प्रतिच्छाया हो और यह भी सम्भव है कि बौद्ध धर्म मे दीक्षित होते समय अश्वघोष का विवाह किसी द्विज कन्या से हो चुका हो तथा उसे छोड़ने की कसक उनके मन मे कुछ समय तक बनी रही हो। वस्तुतः दाम्पत्य प्रेम की गहन अनुभूति, विरह की मार्मिक वेदना, और संयोग की मधुर केलियों के भावात्मक चित्रण मे सौन्दरनन्द महाकाव्य मे उत्कृष्ट गीति तत्व समाविष्ट हो गये हैं, जिनमे कवि के वैयक्तिक जीवन का राग प्रस्फुटित हो उठा है।

मान्यताएँ

अश्वघोष ने बुद्ध के मूल उपदेशो को ज्यो का त्यो स्वीकार करके भी अपनी उदार विचारधारा के द्वारा उनमें नयी मान्यताएँ जोडी। वे पौराणिक साहित्य में रुचि रखते थे तथा ब्राह्मण धर्म के प्रति सहिष्णु थे, इसलिये वे कट्टर बौद्ध कभी नही रहे। सम्भवतः यही कारण है कि हीनयान शाखा के बौद्धो मे अश्वघोष को पर्याप्त सम्मान कदापि नही मिल सका।

अश्वघोष बुद्ध की ही तरह संसार को दुःखमय मानते हैं।[1] चार आर्यसत्यो[2] को जानकर अष्टांगिक मार्ग पर चलने से इस दुःख से मुक्ति और निर्वाण की प्राप्ति होती है।[3] निर्वाण के सम्बन्ध मे अश्वघोष का कथन है कि—जिस प्रकार दीप बुझने पर कही नही जाता, केवल शान्त हो जाता है, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त होने पर व्यक्ति कही नही जाता, क्लेश क्षय होने से केवल शान्ति को प्राप्त होसा है। अश्वघोष जीवन मे तप, दम और शम का उत्कृष्ट मूल्य मानते थे।[4] उनके अनुसार कामनाएँ उपभोग से कभी तृप्त नही होती, इसलिये अपरिग्रह का मार्ग वरेण्य है।[5] इस संसार मे आसक्त रहना वैसा ही है, जैसा मृग का गीत की मधुर ध्वनि से वंचित होकर जाल मे फँस जाना, या पक्षी का जाल मे फँसना।[6] इस संसार मे स्थायी कुछ भी नही है।[7] साथ ही, इसमें सुख भले ही हो या न हो, दुःख तो बिना यत्न के पग-पग पर मिलता है।[8] विषयत्याग,[9] आहारसंयम,[10] स्मृति,[11] ध्यान,[12] समाधि आदि निर्वाण के साधन है।

---

१ आकाशयोनिः पवनो यथा हि यथा शमी गर्भशयो हुताशः।
आपो यथान्तर्वसुधाशयाश्च दुःखं तथा चित्तशरीरगामि॥
अपां द्रवत्वं कठिनत्वमुर्व्या वायोश्चलत्वं ध्रुवमौष्ण्यरश्मेः।
यथा स्वाभावो हि तथा स्वभावो दुःखं शरीरस्य चैत्तसस्य च॥ सौन्दरनन्द,१६।११,१२

२. सौन्दर०, १६।४, १७। ३. वही, १६।३०। ४. वही, १।२-७, बुद्धचरित, २।५२। ५. सौन्दर०, ५।२३। ६. वही, ८।१५-२०। ७. वही, १०।८-२१,२७-२९। ८. वही, १५।४३-४६, १६।११-१२। ९. वही, १३।५०,५१। १०. वही, १४।१-४। ११. वही, १३।३६-४३। १२. वही, १५।१-३।

अश्वघोष के अनुसार यह संसार स्वार्थमय है ।[१] वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति या बाण ने इस संसार मे जिस निर्दोष, निश्छल रागात्मक प्रेम का प्रत्यक्षीकरण किया था, उस तक अश्वघोष अपनी सकुचित विचारधारा के कारण नही पहुँच सके। उनकी दृष्टि मे सभी प्रकार का प्रेम केवल व्यामोह है। नारी के जिस गरिमामय स्वरूप को वाल्मीकि, कालिदास या भवभूति ने पहचाना था, अपने इस संकुचित दृष्टिकोण के कारण अश्वघोष सम्भवत. उसकी कल्पना भी नही कर सकते थे। यशोधरा और सुन्दरी दोनो ही उनके हाथो मे पडकर सामान्य कोटि की, पुरुष को लुभाने और छलने वाली, नारिया बनकर रह गयी है ।

स्त्री के सम्बन्ध मे अश्वघोष का कहना है—

सविषा इव संश्रिता लताः परिमृष्टा इव सोरगा गुहाः ।
विवृता इव चासयो धृता व्यसनान्ता हि भवन्ति योषित. ॥
सौन्दरनन्द, ८।३१

सुजना कृपणीभवन्ति यत् यदयुक्तं प्रचरन्ति साहसम् ।
प्रविशन्ति च यच्चमूमुखं रभसा तत्र निमित्तमङ्गना ॥ १८।३४

वचनेन हरन्ति वर्णाना निशितेन प्रहरन्ति चेतसा ।
मधु तिष्ठति वाचि योषिता हृदये हालाहलं महद् विषम् ॥ १८।३५

प्रदहन् दहनोऽपि गृह्यते विशरीर. पवनोऽपि गृह्यते ।
कुपितः भुजगोऽपि गृह्यते प्रमदाना तु मनो न गृह्यते ॥ १८।३६

—"स्त्रियाँ विषयुक्त लताओ के समान, अजगरो से युक्त गुफाओ के समान, तथा नंगी तलवार के समान विपत्तिजनक हुआ करती है । सज्जन लोगो के निर्धन होने से, अनुचित साहस करने मे, या अपने प्राणो को संकट मे डाल देने मे स्त्रियाँ ही कारण हुआ करती है । स्त्रियाँ अपने वचन आदि से मन को हर लेती है पर इनकी वाणी मे ही मधु हुआ करता है, हृदय मे तो हलाहल विष रहता है । जलती हुई आग, आँधी, और कुपित सर्प—इन सबसे पीछा छुडाया जा सकता है, पर स्त्रियो के मन को वश मे नही किया जा सकता ।" स्त्रियो की निन्दा करने मे अश्वघोष को इतनी रुचि थी कि उन्होने इस प्रसग मे विस्तार से २४ श्लोको मे स्त्री दोषो का पल्लवन किया है ।[२]

अश्वघोष वैराग्य के घोर पक्षपाती थे और कालिदास की भाँति गृहस्थाश्रम की गरिमा भी नही जान सके थे। उनके अनुसार गृहस्थाश्रम सर्वथा परित्याज्य है।

---

१. सौन्दरनन्द ६।९,१० । २. सौन्दरनन्द, ८।३०-५४ ।

अश्वघोष संसार मे रहकर कर्मरत होने मे दोष ही दोष देखते है और उसे छोड़ने मे सब तरह से कल्याण। बुद्ध के मुख से उन्होने कहलवाया है—"मेरे लिये राज्य ग्रहण करना ठीक नही, जैसे रोगी का लोभ से अपथ्य ग्रहण करना ठीक नही।" किस प्रकार विद्वान् पुरुष के लिये उस राजत्व का सेवन करना उचित है, जो मोह का मन्दिर है जहाँ उद्वेग, मद व थकावट है और जहाँ दूसरो पर अनाचार करने से धर्म मे बाधा आती है। सोने के जलते महल के समान, विषयुक्त उत्तमभोजन के समान, घडियालो से भरे कमलयुक्त जलाशय के समान राज्य रमणीय है और विपत्तियो का आश्रय है।[1] इसीलिये अश्वघोष के अनुसार गृहस्थ को मुक्ति मिलना कठिन है, जिस प्रकार भिक्षु को जीविका मिलना कठिन है।[2]

आदर्श

बुद्ध के आदर्शो के अतिरिक्त अश्वघोष ने अपने काव्य मे ऐसे अनेक आदर्शों का उल्लेख किया है, जिन्हे वे जीवन मे वरेण्य मानते है। गृहस्थो के लिये पति और पत्नी का परस्पर अव्यभिचार,[3] रति के लिये काम का सेवन न करना, काम-सेवन के लिये धन की रक्षा न करना, धन के लिये ही धर्माचरण न करना, तथा धर्म के लिये हिंसा न करना,[4] जितेन्द्रियत्व, निरहंकारता, पराक्रम, सत्त्व, शास्त्रज्ञान, बुद्धिमत्ता, धैर्य, आर्जव, तेजस्विता, अक्रोध, क्षमा, मैत्री आदि गुण[5] उन्होने आदर्श माने है। प्रिय भाषण और दान को भी वे आदर्श मानते है।[6] गृहस्थाश्रम को निर्वाणप्राप्त्यर्थ परित्याज्य मानते हुए भी अश्वघोष इन गुणो से युक्त गृहस्थाश्रमो को उत्तम मनुष्य मानते है।

अश्वघोष के अनुसार आदर्श राजा को तपस्वी, तेजस्वी तथा प्रजापालक होना चाहिए।[7] उसे राज्य की पुत्र के लिये, पुत्र की कुल के लिये, कुल की यश के लिये, यश की स्वर्ग के लिये और स्वर्ग की अपने लिये तथा जीवन की धर्म के लिये आकाक्षा करनी चाहिये।[8] आदर्श सेवक को भक्तिमान तथा शक्तिमान होना चाहिए तथा उसकी अपने स्वामी मे निष्काम भक्ति होनी चाहिए।[9]

अश्वघोष मनुष्य के लिये शारीरिक बल की भी आशंसा करते है। कालिदास के रघुवंशियो के समान उनके शाक्यवंशीयराजासुवर्णस्तम्भवर्ष्माणः, सिंहोरस्काः तथा महाभुजाः है।[10] शारीरिक बल तथा सौन्दर्य के साथ वे आन्तरिक पवित्रता तथा नैतिकता पर अधिक जोर देते है।

---

१. बुद्धचरित, ६।३६-४१। २. सौन्दरनन्द, १३।१८। ३ बुद्धचरित, २।१३।
४. बुद्धचरित, २।१४। ५. सौन्दरनन्द, २।१८१। ६. बुद्धचरित, २।३४-४४, ५०-५२।
७ बुद्धचरित, २।३८–४०। ८. वही, २।५३। ९ वही, ६।७–९।
१०. सौन्दरनन्द, १।१६।

अश्वघोष सत्य[१], अहिंसा[२] तथा अस्तेय[३], ब्रह्मचर्य[४] और अपरिग्रह[५] को सर्वोच्च आदर्श मानते है। यज्ञ और देवपूजा आदि मे भी उनकी आस्था थी, पर यज्ञ मे हिंसा वे नही चाहते थे।[६] निष्कपटता,[७] दया,[८] तथा दृढ–निश्चय[९] को भी वे आदर्श मानते थे।

अश्वघोष का ज्योतिष[१०] तथा प्राकृतेतर शक्तियो मे विश्वास था। बुद्ध से सम्बन्धित अनेक अमानवीय घटनाओ तथा चमत्कारो का उन्होने वर्णन किया है।[११]

स्वभाव

अपने जीवन के प्रथम चरण मे सम्भव है, अश्वघोष अपने कथा नायक नन्द के समान चंचल और विलासी प्रकृति के रहे हो, फिर अचानक कोई ऐसी घटना घटी हो, जिसने उनकी जीवनधारा को मोड दिया हो। परन्तु उनके दोनो ही महाकाव्यो की पृष्ठभूमि मे हमे जिस स्रष्टा के दर्शन होते है वह निश्चय ही एकदम शान्त और गम्भीर प्रकृति का है। जीवन मे साधना और संयम के द्वारा उसने इतनी उच्च मानसिक भूमि प्राप्त कर ली है कि वह घोर वासनाओ के बीच तटस्थ और अविचलित रह सकता है। अश्वघोष का व्यक्तित्व बुद्ध के ही समान है, जो विभिन्न कामोद्दीपक चेष्टाओ के द्वारा लुभाती हुई रमणियो के बीच प्रशान्त बने रहते है। इसीलिए अश्वघोष को सुन्दरी से नन्द का वियोग करवाने मे रत्ती मात्र भी हिचकिचाहट नही हुई। फिर भी सुन्दरी के बिलाप के अत्यन्त मार्मिक और स्वाभाविक निदर्शन मे अश्वघोष की तटस्थता को देखकर दंग रह जाना पडता है। वही विरागी अश्वघोष, जो स्त्री को वासना की पुतली और बन्धन समझता है, तथा उसकी निन्दा में बुद्ध के मुख से लम्बा चौड़ा भाषण दिलवाता है, उसी प्रकार की एक स्त्री के प्रति अपने पाठको की सच्ची सहानुभूति जाग्रत करा सकता है। विरागी और निःस्पृह होते हुए भी अश्वघोष का कवि–हृदय सारे संसार के लिये करुणा और सहानुभूति से लबालब भरा है। किसानो को हल चलाते देखकर और हल से धरती के कीटकृमियो की हिंसा होते देखकर कवि का कलेजा मुंह को आने लगता है।[१२]

---

१. सौन्दरनन्द, ३।३३, बुद्ध०, १०।११, ३९। २. वही, ३।३०, बुद्ध०, ११।६५।
३ वही, ३।३१। ४ वही, ३।३२ ५. बुद्धचरित, २।३६, ५१, ४९।
६. वही, ९।४०–५१। ७. वही, ४।९३।
८. वही, ५।५–६ ९. वही, ९।७८, ७९। १०. बुद्ध चरित, १।९।
११. वही, १।१०-२४। सौन्दरनन्द, ३।२२-२४। बुद्धचरित, २१।१६-६०, २३।६८-७१।
१२. वही, ५।५–६ किसानो को धूल और पसीने से भरे देख कर भी कवि का हृदय आर्द्र हो जाता है। – वही।

पर मूलतः कवि है विरागी ही। संसार मे उसकी रुचि वस्तुतः है ही नही। यदि कही पर मूलतः सासारिक भावनाएं उसके काव्य मे मार्मिक रूप में आयी भी है तो वे भी पाठको को आकर्षित करने के लिये।

तभी तो वह गौतम बुद्ध की बाल्य क्रीडाओ का कही भी वर्णन नही कर सका। सौन्दर्य से भी अश्वघोष दूर-सा भागता है। दोनो ही महाकाव्यो मे शायद ही कोई ऐसा स्थल हो जहाँ वह प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर एक क्षण के लिए रुक गया हो और कालिदास या भवभूति की भाँति प्रकृति के नित्य नवीन लगने वाले चित्र उकेर सका हो। मानव सौन्दर्य का—विशेष रूप से तरुण रमणियों का—कवि ने अनेक वार वर्णन अवश्य किया है, पर वह पूर्वपक्ष के रूप मे ही है, अश्वघोष का सौन्दर्य वर्णन बहाना मात्र है, उनका मूल उद्देश्य वही है, जो एक उपदेशक का होता है। उनका कवि-हृदय एक मखमली आवरण के समान है, उपदेशक के सूखे ढाचे पर चढा दिया गया है। इसलिए उन सभी वर्णनो मे जहा संसार का सुखदुख चित्रित हुआ है, अश्वघोष तटस्थ और निर्लिप्त होकर अलग ही नही खडे है, अपितु अपने मन के भीतर उसको अर्थहीन भी समझते हैं। वे यशोधरा और सुन्दरी के दुःख पर अपने अन्तस्तल से नही रोते, क्योकि उनकी दृष्टि मे वह दुःख केवल व्यामोह है।

इसीलिए अश्वघोष की प्रकृति उनके घोर शृंगारिक वर्णनो मे भी अशृंगारिक ही है। उनमे व्यंग्य और विनोद की प्रवृत्ति अवश्य थोडीसी मात्रा में थी इसकी एक झलक सौन्दरनन्द के उस प्रसंग मे मिलती है, जब बुद्ध एक कानी बन्दरिया को दिखाकर नन्द से पूछते है कि उसकी पत्नी अधिक सुन्दर है या वह बन्दरिया और उसके पश्चात् वे उसे स्वर्ग की अप्सराओ को दिखाकर पूछते है कि वे अप्सराएँ अधिक सुन्दर है या नन्द की पत्नी और तब नन्द को पहली बार अपनी पत्नी साधारण सी लगती है। पर वस्तुतः अश्वघोष का स्वभाव तो वैसा ही रहा होगा, जैसा उन्होने बुद्ध के सम्बन्ध मे वर्णन किया है—

प्रतिपूजया न जहर्ष न च शुचमवज्ञयागमत्।
निश्चितमतिरसिचन्दनयोर्न जगाम सुखदुःखयोश्च विक्रियाम्॥
सौन्दरनन्द, ३।३९।

अपनी वैराग्यवृत्ति और निःसंगता के कारण अश्वघोष मे किसी प्रकार की चाटुकारिता की प्रवृत्ति जन्म ले ही नही सकती थी। कनिष्क के राज्याश्रम में रहकर भी (?) कनिष्क के नाम तक का उल्लेख कवि ने अपने काव्यो मे नही किया। शारिपुत्रप्रकरण के भरतवाक्य मे तो कम से कम कनिष्क का उल्लेख किया ही जा सकता था, पर अश्वघोष की सधुक्कड़ी वृत्ति ने उसे भी अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया।

बुद्ध के प्रति असीम श्रद्धा अश्वघोष के मन मे थी। यही उनके व्यक्तित्व की एक ऐसी विशेषता है, जो उन्हे हीनयानियो के सम्प्रदाय मे होते हुए भी, उनसे अलग कर देती है। बुद्ध के प्रति भावमयी भक्ति से उद्रिक्त उनका काव्य स्वत: ही उत्कृष्ट बन गया है, उसके लिये कवि को अलंकरण की आवश्यकता नही पडी। परन्तु बुद्ध के प्रति भक्ति के अतिरेक मे कवि की विश्लेषाणात्मक बुद्धि और विवेक कभी कुण्ठित नही हुए और न इस कारण से कवि ने कभी अन्य धर्मो की अवज्ञा ही की। सभी धर्मो का आदर करना और किसी पर अपने विचार बलपूर्वक न थोपना, अश्वघोष का आदर्श था[1] और इसी के कारण उनका व्यक्तित्व बौद्ध कवियो मे सर्वाधिक उदात्त है। बौद्ध धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करने में अश्वघोष ने ब्राह्मण धर्म के ज्ञान का उन्मुक्त प्रयोग किया है। यही नही वे ब्राह्मण तथा बौद्ध सिद्धान्तो के विभेद को कम करने के लिए भी प्रयत्नशील रहते थे।[2]

पाण्डित्य

अश्वघोष ने स्थान-स्थान पर वैदिक और पौराणिक साहित्य तथा रामायण महाभारत के साथ बौद्ध ग्रन्थो से भी सहायता ली है। ऋग्वेद, शतपथब्राह्मण, श्वेताश्वतरउपनिषद्, रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, नीतिशास्त्र, दिव्यावदान आदि का कवि ने गहन अनुशीलन किया था।[3] सौन्दरनन्द, १।१५, ११।३६ मे उल्लिखित सोम को नापने के उल्लेख शतपथ ब्राह्मण से प्रभावित हैं। बुद्धचरित के १३ वें सर्ग मे अराड के मुख से साख्य दर्शन के प्रतिपादन मे महाभारत के मोक्षधर्म पर्व का प्रभाव है।

व्याकरण मे अश्वघोष निष्णात थे। अग्नि के लिए द्विज (बु० च०, ११।७१) तथा उष्णता के लिए श्री (सौन्दर०, १।२) जैसे शब्दो के प्रयोग इस बात के सूचक हैं। लुङ् और लिट् लकारो के प्रयोग मे तो अश्वघोष सस्कृत के सभी कवियो से आगे बढ़े हुए है।

डा० जान्स्टन ने अश्वघोष के काव्यो से विभिन्न स्थल उद्धृत करते हुए इस बात को प्रमाणित किया है कि अश्वघोष उपनिषद, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, कामशास्त्र आदि कलाओ मे पारंगत थे।[4] पौराणिक मिथको का तो अश्वघोष को आश्चर्यजनक ज्ञान

---

१. प्रजा नादीदपच्चैव सर्वधर्मव्यवस्थया। – सौन्दरनन्द, २।३४।
नैवोन्मार्गगतान् परान् परिभवन् नात्मानमुत्कर्षयन् ॥ वही, १८।६२ आदि।

2. Early Samkhya : Johnston, p 37.

3. Asvaghosa—B. C. Law, p.17.

4. Asvaghosa—Buddhacarita-Ed. E. H. Johnston Pt. II Introduction, p. XIV.

था।[1] तथा दर्शनो मे चार्वाक और सांख्य का पूर्वपक्ष के रूप मे विशद विवेचन उन्होने किया है।[2] श्वेताश्वतर उपनिषद मे दुःख की मीमासा 'कालः स्वभावो प्रकृतिर्यदृच्छा' इत्यादि शब्दो मे की गयी है। अश्वघोष ने सौन्दरनन्द (१६।१७) मे इन्ही शब्दो को दुहराया है। भगवद्गीता ने भी अश्वघोष के दार्शनिक विचारो को प्रभावित किया है।[3]

पर्यवेक्षण

मानव मनोविज्ञान का अश्वघोष ने गहन अध्ययन किया था। कालिदास के महाकाव्यो को छोड़ देने पर चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अन्य कोई महाकाव्य अश्वघोष के दोनो काव्यो के समक्ष टिक नही सकता। पुत्र के लिए पिता का हृदय किस प्रकार उत्कण्ठित या आशंकाकुल हो सकता है, यह सूक्ष्म रूप से शुद्धोदन के कथनो मे चित्रित है।[4] बुद्धचरित के चौथे सर्ग मे स्त्रियो की कामुक चेष्टाओ तथा पंचम सर्ग मे सोती हुई स्त्रियो का वर्णन भी सूक्ष्म तथा स्वाभाविक है। स्त्रियो के कौतूहल की प्रवृत्ति,[5] वृद्ध पुरुष,[6] रोगी,[7] राजमहल,[8] अश्व,[9] आश्रम,[10] रोते हुए छन्दक की करुण चेष्टाएँ और प्रलाप,[11] विभिन्न प्रकार के तपस्वी,[12] आदि का जो चित्रण अश्वघोष ने किया है, वह उनके स्वयं के पर्यवेक्षण से प्रसूत लगता है तथा उससे अश्वघोष के सासारिक ज्ञान और अध्ययन की दाद देनी पड़ती है। स्वयं विरागी होते हुए भी प्रणय और दाम्पत्य प्रेम की भावनाओ के चित्रण मे वे संस्कृत के किसी कवि से पीछे नही है। सौन्दरनन्द मे नन्द की सासारिक आसक्ति तथा सुन्दरी का काममय विरह—दोनो का ही बेजोड चित्रण अश्वघोष ने किया है।[13] नन्द के अन्तर्द्वन्द्व का जिस मानवीय दृष्टि से अश्वघोष ने चित्रण किया है, वह इस बात का प्रमाण है कि वे मानव-हृदय के एक बहुत बड़े सहृदय पारखी थे।

काव्य प्रतिभा

अश्वघोष की कल्पना की परिधि संकुचित नही है, पर एक उद्देश्य सामने रखकर ।व्य रचना मे प्रवृत्त होने के कारण उनकी कल्पना खुलकर उड़ान नही भर पाती। भय, क्रोध या उत्साह जैसे स्थायी भावो को उद्रिक्त करने वाले चित्र, उनकी इस सीमा

---

१. वही। २ बुद्धचरित, ६।५४-६७।

३. महाकवि अश्वघोष और उनका काव्य—हरिदत्त शास्त्री, द्वितीय अध्याय।

४. बुद्धचरित, १।६३-६६, ५।२६-३३। ५. वही, ३।१३-१८। ६. वही, १३।४।

७. वही, ३।२८। ८. वही, ३।४४। ६. वही, ५।७२, ७३। १०. बुद्धचरित, ६।२।

११. वही, ६।२६-४१, ६६ ६८ ८।२। १२. वही, ७।१५-१८, ३३।

१३. सौन्दरनन्द, ६।१-१०, २७-३४, १०।३६-४१,५२।

के कारण अश्वघोष मे प्रायः नही मिलते। परन्तु अश्वघोष की कल्पना मे वर्ण्य को सम्पूर्ण रूप में सामने रखने की, उपयुक्त बिम्बो तथा सटीक उपमायो और रूपको के सर्जन की अच्छी शक्ति है, यह बात दूसरी है कि उनकी कल्पना इतनी सुकुमार और लालित्यमय नही है, जितनी कालिदास की।

अश्वघोष प्रायः दूर की उडानें भर कर पाठक को चमत्कृत करने के चक्कर मे नही पडते। वाल्मीकि की भाँति सीधे-सादे उपमानो के द्वारा भी उदार अर्थ को हृदयंगम कराने की क्षमता उनकी कल्पना मे है। उदाहरण के लिये शिशु सिद्धार्थ का यह वर्णन —

दीप्त्या च धैर्येण च यो रराज बालो रवेर्भूमिमिवावतीर्णः।
तथातिदीप्तोऽपि निरीक्ष्यमाणो जहार चक्षूंषि यथा शशाङ्कः॥
स हि स्वगात्रप्रभया ज्वलन्त्या दीपप्रभा भास्करवन्मुमोच।
महार्हजाम्बूनदचारुवर्णो विद्योतयामास दिशश्च सर्वाः॥
बुद्धचरित १।१२-१३।

सूर्य के समान उस कुमार ने अपने शरीर की कान्ति से प्रसूति-गृह मे जलते हुए दीपो की प्रभा को हर लिया। दीप्ति और धीरता मे वह बालक भूतल पर अवतीर्ण बालरवि के समान सुशोभित हुआ। पर अत्यन्त दीप्तिमान होने पर भी देखे जाने पर वह चन्द्रमा के समान नयन हर लेता था।

विषय को हृदयंगम बनाने के लिए अश्वघोष रूपक का सहारा लेते हैं। ऐसे स्थलो पर उनकी कल्पना दूर की उडान भर कर भी अपभ्रष्ट नही हुई है। सिद्धार्थ के सम्बन्ध मे असित ऋषिकी भविष्यवाणी का निम्नलिखित अंश उदाहरणीय है —
दुःखरूपी सागर से, व्याधि जिसका फैला हुआ फेन है, वृद्धावस्था जिसकी तरंग है और मरण जिसका प्रचण्ड वेग है, यह सिद्धार्थ बहते हुए आर्त्त जन को पार उतारेगा।[1]

कही कही अश्वघोष की कल्पना चिरपरिचित उपमानो को नयी स्थितियो और सन्दर्भों मे प्रयोग करके एकदम नया प्रभाव उत्पन्न करती है। सारथि के बचन सुनकर 'कुमार विषण्णचित हो गया तथा जलतरंगो मे पडे हुए चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान काँपने लगा। या सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण के समय दीपक का कार्य करनेवाली चमकीली मणि को मुकुट से निकाल कर, जिसके ऊपर सूर्य चमक रहा हो ऐसे मन्दराचल के समान शोभित होते हुए, सिद्धार्थ ने ये बचन कहे—(बु० च०,६।१३)। दोनो ही स्थलों में सिद्धार्थ को चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब तथा मन्दराचल से दो गयी

१. बुद्धचरित, १।७०।

उपमाएँ सारी परिस्थिति को तथा उनकी मानसिक चंचलता और अविचलता को क्रमशः विशद करती है। इसी प्रकार एक ओर बुद्ध के गौरव तथा दूसरी ओर भार्यानुराग से खीचे जाते हुए नन्द को 'तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः' कहकर कवि ने ऐसी ही सूझबूझ का परिचय दिया है। वाल्मीकि और कालिदास की भाँति औचित्य अश्वघोष की कल्पना की श्लाघ्य विशेषता है।

अश्वघोष की कल्पना जहाँ दृष्टान्त के रूप मे किसी उपमान को उपस्थित करती है, वहाँ वह पुराने ऋषियो की कल्पना जैसी लगती है—एकदम सहज अकृत्रिम पर तथ्य को विशद करने मे पूर्णतः समर्थ। जैसे कि—

वासवृक्षे समागम्य विगच्छन्ति यथाण्डजाः।
नियतं विप्रयोगान्तस्तथा भूतसमागमः॥ बुद्धचरित ६।४६

'जिस प्रकार वासवृक्ष पर समागम होने के पश्चात् पक्षी पृथक्-पृथक् दिशा मे चले जाते है, उसी प्रकार सब प्राणियो के मिलन का पर्यवसान भी अन्ततोगत्वा वियोग मे होता है।' इसी प्रकार 'जैसे अन्दर से रस निकाल कर खोखली बनाई गयी ईख आग मे जलाने के लिये सुखाई जाती है, उसी प्रकार वृद्धावस्था रूपी यन्त्र से निःशुष्क और निःसार बनाया गया शरीर मृत्यु के लिये छोड़ दिया जाता है (सौन्दरनन्द, ९।३१)। 'जिस प्रकार सूत्र से बाँधा गया पक्षी दूर तक उड़कर भी वापिस आ जाता है, उसी प्रकार अज्ञान-सूत्र से बंधा हुआ भी जीव दूर जाकर फिर संसार मे वापिस लौट आता है।' (सौन्दरनन्द, ११।५९)।

अश्वघोष की कल्पना जब यथार्थवादी रंग लेकर आती है, तब वह अपनी सशक्तता और कथ्य की प्रभावपूर्णता के कारण अतिशय मार्मिक बन जाती है। बुद्धचरित के तृतीय सर्ग मे सिद्धार्थ द्वारा देखे गये तीनो दृश्यो का वर्णन, सौन्दरनन्द मे सुन्दरी और नन्द के प्रणयविलास और उनकी विरहदशा—ऐसे ही प्रसंग है। मानवीकरण का वह भव्य तथा हृदयस्पर्शी रूप अश्वघोष की कल्पना मे नही मिलेगा, जो हम कालिदास मे पाते है। केवल दो चार स्थलो पर अश्वघोष की मानवीकरणात्मक कल्पनाएँ प्रगाढ अनुभूति से सम्पृक्त है, जैसे—सिद्धार्थ के प्रयाण के पश्चात्—'कपोतपालिका रूपी भुजाएँ फैलाये हुए ये प्रासाद पंक्तियाँ, जो आसक्त कपोतो से लम्बी साँसें ले रही है, रनिवास के साथ मानो सिद्धार्थ के वियोग मे अत्यधिक रो रही है।' (बु० च०, ८।३७)।

सौन्दर्यबोध

अश्वघोष के वीतरागी मन की प्रस्तरशिला मे कही मानवीय संवेदना का स्रोत भी प्रच्छन्न रूप से बह रहा है। मनुष्य के मन की सच्ची और गहरी समझ तथा

उसका सहानुभूतिपूर्ण चित्रण सर्वत्र ही उनके काव्य मे मिलता है। यह अश्वघोष की गहन संवेदनशीलता ही है, जिसने उनके काव्यो को नीरस बोझिल उपदेशमात्र होने से बचा लिया है तथा उनमे प्राणप्रतिष्ठा की है। अपनी संवेदनशक्ति के कारण वे भोलेभाले निरीह छन्दक के हृदय मे पैठ कर उसकी भावनाओ को उसी के शब्दो मे खोल सके है। बुद्ध के घोडे कन्थक मे भी उन्हे मानवीय भावनाओ की प्रतिच्छवि दीख पडी है, सिद्धार्थ भी अपने स्वजनो को छोडते समय कवि को भावाकुल लगते है।[१] कुमार फिर लौट आये है यह सोचकर खिडकियो के सामने आकर और फिर घोडे की खाली पीठ देखकर खिडकियो को बन्द करके रोती हुई पौरागनाओ, सिद्धार्थ आ गये—इस भ्रम से हर्षपूर्वक उत्कण्ठित होने वाली, अस्तव्यस्त अलको वाली, मलिन वस्त्रधारिणी अंजनविहीन अश्रुव्याकुल - नयना अन्तःपुर की अंगनाओ तथा उनके सिद्धार्थ के न आने की पूर्णतः पुष्टि होने पर कारुणिक रुदन के मार्मिक चित्र अश्वघोष की मानवीय सवेदना को उजागर करते है। सौन्दरनन्द मे तो सुन्दरी और नन्द के भावाकुल उद्गारो मे हृदय हाहाकार कर उठता है, यहाँ पहुँच कर लगता है, कवि अपने इन दोनो पात्रो के हृदयो से तदाकार हो गया है—सारी की सारी भावाभिव्यजना इतनी करुण तथा हृदयस्पर्शी है कि लगता है कवि ने सुन्दरी और नन्द की सारी व्यथा को स्वयं भोग कर शब्दो मे उँडेला है।

अश्वघोष शारीरिक सौष्ठव व अंगविन्यास की मनोहरता पर प्रायः आकर्षित होते प्रतीत होते है। गौतम बुद्ध के मनोहर सात्विक आगिक सौन्दर्य का वर्णन करने का उन्हे चाव है।[२] ऐसे प्रसंगो मे स्थूल सौन्दर्य के प्रति उनका लगाव स्पष्ट प्रतीत होता है। सिद्धार्थ वर्णन के कुछ स्थल द्रष्टव्य है—'तब सुवर्ण गिरि शिखर के समान कान्तिमान् शरीर वाला, मेघ की सी ध्वनि वाला, वृषभ की सी आँखो वाला तथा सिंह के समान पराक्रमी कुमार, महल मे गया (बु० च०, ५।२३)। तथा—'स्पष्ट और ऊँची नासिका वाला, बड़ी व लम्बी आँखो वाला, लाल ओष्ठ तथा श्वेत दन्तपंक्ति वाला यह कुमार (वही, ७।५६) आदि। गौतम को सूर्य, सिंह, मेरुगिरि या काचन पर्वत से अनेक स्थानो पर उपमित किया गया है।[३] कमल अश्वघोष का प्रिय उपमान है, जिसका उपयोग उन्होने अनेक प्रसंगो मे किया है।[४] नन्द के वर्णन मे भी कवि का ध्यान शारीरिक सौष्ठव की ओर जाता है—

---

१. बुद्धचरित, ७।४७।

२. बुद्धचरित, १।३८, ५।४२।

३. वही, ६।१३, ५।३७, ४२, ४३, २६, १०।१७, सोन्दरनन्द, ३।१६।

४. वही, ३।१६, २१ आदि।

दीर्घबाहुर्महावक्षाः सिंहास्यो वृषभेक्षणः ।
वपुषाग्र्येण यो नाम सुन्दरीपपदं दधे ।।
मधुमास इव प्राप्तश्चन्द्रो नव इवोदितः ।
अनङ्गवानिव चानङ्गः स बभौ कान्तया श्रिया ।। सौन्दरनन्द,२।५८-५६।

मानवीय सौन्दर्य मे कवि की दृष्टि कृत्रिम अलंकरणो को दूर कर सहज नैसर्गिक सौन्दर्य को ही ढूँढती है। तभी तो सुन्दरी के विषय मे उसने कहा—'स्वेनैव रूपेण विभूषिता सा विभूषणानामपि भूषणं सा ।(सौन्दरनन्द, ४।१२) ।

चतुर्थ अध्याय

कालिदास

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

रामायणकाल से लेकर कालिदास के युग तक इस देश के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक ढाँचे मे कोई जबरदस्त क्रान्तिकारी परिवर्तन तो नही हुआ, पर इन सभी क्षेत्रो मे काफी उथल-पुथल अवश्य हुई थी। बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हो चुका था। हिन्दू धर्म के परम्परागत रूप में भी परिपर्तन हुआ था। नूतन विज्ञानो और दर्शन की शाखाओ का उदय हो रहा था। साथ ही, जिस परिवेश मे कालिदास ने काव्यरचना की वह निश्चय ही व्यास और वाल्मीकि के समकालीन परिवेश से भिन्न था।

सामाजिक स्तर पर वर्ण व्यवस्था मे वैदिक युग के जैसा लचीलापन नही रह गया था। स्मृतिकारो ने सामाजिक व्यवस्था को अपने विधानो मे जकड दिया था और समाज को मनु आदि के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से रेखा मात्र भी क्षुण्ण होने की स्वतंत्रता नही थी।[१] एक ओर तो धर्मशास्त्रकारो की संकुचित दृष्टि सामाजिक और वैयक्तिक विकसनशील धारा को नियमो के बांध मे अवरुद्ध कर लेना चाहती थी, व दूसरी ओर समाज और व्यक्ति की चेतना इस बाध के कमजोर स्थानो को तोड़कर स्वतः ही बाहर निकल पडती थी। वैयक्तिक स्वातंत्र्य को कोई महत्व न देकर समाज को स्थिर और अपरिवर्तनशील बनाने का प्रयत्न करती हुई व्यवस्थाओ के इस वातावरण मे कालिदास का व्यक्तित्व पनपा था। फिर भी जिस वातावरण मे कवि का व्यक्तित्व विकसित हुआ, उसमे निशीथ में राजमार्गों पर प्रियतम के समीप जाती हुई अभिसारिकाओ,[२] पर्वत के शिलावेश्मो पर पण्यस्त्रियो के साथ उन्मुक्त यौनाचार मे रत नागरिको[३] या उपपति की कामना करती हुई कुलवधुओ का पाया ज ना असामान्य

१. रघुवंश, १।१७। २ वही, १६।१२, मेघदूत, ३७। ३. मेघदूत, २५।

नही था। स्मृतिकारो द्वारा आरोपित नियमो की सीमा को स्वीकार करके और उसके भीतर रहते हुए भी उस युग की विलासप्रिय नागरिक चेतना ने अपनी उन्मुक्त ऐन्द्रिय वृत्तियो को सन्तुष्ट करने के लिए उपाय खोज निकाले थे। स्मृतिकारो के विधानो मे विवाह एक सामाजिक उत्तरदायित्व तथा धार्मिक आवश्यकता मात्र रह गया था, अन्तर मे उच्छ्‌वसित युवामन की प्रणयभावना का उल्लास उसमे नही रह गया था, इसीलिए उन्मुक्त प्रेम की, विकृत रूप से ही सही, सन्तुष्टि के लिए समाज मे गणिकाओ और वेश्याओ की उपस्थिति सामान्य और अनिवार्य बन गयी थी। राजा के अन्तःपुर मे नृत्य, गायन और सहवास के द्वारा उसका मनोरंजन करने के लिये ही नही,[1] अपितु महाकाल के मन्दिर मे चामर डुलाने के लिए भी वेश्याओ की उपस्थिति अनिवार्य थी।[2] सभी वर्गों मे स्त्री पुरुष दोनो मे सुरापान प्रचलित था।

नागरक की मधुकरी प्रणयक्रीड़ा मे[3] स्त्री की स्थिति शोचनीय हो गयी थी। दूसरी ओर शास्त्रकारो के विधानो ने भी स्त्री की दशा हीनतर बनाने मे कसर नही छोडी थी। ऐसी स्थित मे पुरुष के द्वारा प्रतारित होने पर स्त्री की वही दुर्दशा हो जाती थी जो हम शाकुन्तल के पंचमांक मे शकुन्तला की देखते है। शकुन्तला के प्रत्याख्यान के अवसर पर —'यह तुम्हारी पत्नी है, चाहे स्वीकार करो चाहे अस्वीकार, स्त्री पर पुरुष का सर्वतोमुखी प्रभुता तो सिद्ध ही है'।[4] यह कहकर शारद्वत और उसके साथ के तपस्वी जाने लगते है और उनका अनुगमन करती हुई शकुन्तला को यह सुनना पड़ता है कि —'पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्'।[5] फिर भी समस्त धर्म्य क्रियाओ का मूल होने के कारण[6] पत्नी का भी समाज मे कुछ स्थान था। स्त्रियाँ नम्रता या लज्जा के कारण अवगुण्ठन का व्यवहार करती थी, पर्दे की प्रथा के रूप में वह नही था।[7] माता के रूप में नारी सर्वोच्च सम्मान की अधिकारिणी थी। पितृ ऋण से अनृण होने तथा वंश चलाने मे नारी ही परम सहयोगिनी थी तथा एक शूरवीर की जननी का पति अपने को धन्य मानकर कहता था :—

भर्त्तासि वीरपत्नीना श्लाघ्याना स्थापिता धुरि।
वीरसूरसि शब्दोऽयं तनयात्वामुपस्थितः॥

मालविकाग्निमित्र, ५।१६।

---

१ रघु०, १९।१४–४६। २. मेघदूत ३५। ३. शाकुन्तल, ५।१।

४. शाकु०, ५।२६ –'उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी'। ५. शाकु०, ५।२७।

६. कुमारसम्भव, ६।१३।

७. कालिदास का भारत –भगवतशरण उपाध्याय, भाग– १, पृ०, २९५–९७।

राजनीतिक दशा

राजपद जो वैदिक युग मे निर्वाचनजन्य था और जिसमे प्रजातंत्र के इतने सारे तत्व कार्य कर रहे थे, कालिदास के काल मे वंश-परम्परागत ही नही रहा था प्रत्युत ईश्वरीय समझा जाने लगा था।[1] राजा को असामान्य गुणो से सम्पन्न तथा दिव्य शक्तियो से युक्त समझा जाता था, परन्तु राजा स्वतंत्र या उच्छृंखल नही था, वह भारी उत्तरदायित्वो से लदा था। प्रकृति का रंजन करने वाला होने के कारण ही उसे राजा कहा जाता था।[2] अर्थशास्त्र मे निर्दिष्ट राजा की दिनचर्या से उसके व्यस्त जीवन और कार्यगुरुता का अनुमान किया जा सकता है। कालिदास के अनुसार राजा सूर्य, वायु और पृथ्वी की भाँति अविश्रात शासन के उत्तरदायित्वो को उठाये रहता है।[3] उन्होने स्थान-स्थान पर राजा की चिन्ताओ और अथक परिश्रम की चर्चा की है।

राजा को राजसिंहासन पर आसीन करने मे पौरो और प्रकृतिमुख्यो का भी वैधानिक हाथ रहता था और राजा की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रखने मे अमात्य-परिषद के साथ उनका प्रभाव भी स्पष्ट था[4]। राजा की मृत्यु होने पर नये राजा का सिंहासन पर आसीन होने तथा उस स्थिति मे राज्य को अराजकता तथा अव्यवस्था से बचाने का उत्तरदायित्व मन्त्रियो पर था। रघुवंश के उन्नीसवे सर्ग मे गर्भवती रानी के अभिषेक या अग्निवर्ण के गुप्तरूप से दाहसंस्कार के प्रसंगो मे हम मन्त्रियो को इस प्रकार के दायित्वो को वहन करते देख सकते है।

आर्थिक स्थिति

कालिदास के ग्रन्थो से उनके युग के जनसामान्य की स्थिति पर विशेष प्रकाश नही पड़ता परन्तु सम्पन्न और उच्च वर्ग के लोगो का जो चित्रण कवि ने किया है, उसको देखते हुए तत्कालीन धनिक वर्ग की समृद्धि और वैभव ,पर आश्चर्यचकित रह जाना पडता है। राजपथ के दोनो पार्श्वो पर अवस्थित बहुत ऊंची छते, तल्म, अलिन्द और कगूरे वाले विशाल भवन चारो ओर देखने मे आते थे। इनमे प्रायः सभी भवनो के साथ खूब हरे-भरे उद्यान थे, जहाँ भारतीय मिट्टी की मनोरम क्यारियो मे हर ऋतु के पौधे उपजाये जाते थे। बहुमूल्य पत्थरो का धन राज्य की आय का ही स्रोत नही था, बल्कि बहुत से अंश मे वह विलास-प्रिय धनपतियो की रुचि को भी सन्तुष्ट करता था, जो इसको विभिन्न प्रकार से प्रयोग मे लाते थे। स्वादिष्ठ भोजन तथा भाँति-भाँति के मद्यो का प्राचुर्य था और मद्यपो की भरमार। व्यापार फलफूल रहा था और स्थल मार्ग से बनजारो के दल तथा जलमार्ग से सार्थवाह वाणिज्य द्वारा प्राप्त अतुल सम्पत्ति को उडेल

१. कालिदास का भारत, १, पृ०, ११४। २. रघु०, ४।१२, ६।२१।

३. शाकु०, ५।२४। ४. कालिदास का भारत, १, पृ०, १९४।

देते थे। राजपथ के दोनों किनारो पर दूकानें पंक्तिबद्ध थी और भीडभाड वाले स्थानो मे धनी बिक्रेता खरीद करने इधर उधर घूमते थे जहाँ उन देशो के छोटे-बडे सामानो के आयात के ढेर पड़े रहते थे, जिनके साथ भारत का व्यापार खूब चल रहा था।[1]

धार्मिक स्थिति

कालिदास के युग के लोग देवताओ से डरने वाले और धार्मिक थे। देश मे ब्राह्मण सिद्धान्त के देवदेवियो की भरमार थी और वैदिक यज्ञ-याग की वेदी पर पौराणिक पूजा अर्चा ने पैर जमा लिये थे। शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायो का उदय हो चुका था। पूर्वकाल के देवताओ पर नये नाम तथा गुण आरोपित कर दिये गये थे और उनकी नामावली भी बढते-बढते विशाल हो गयी थी।

कालिदास से कुछ शताब्दियो पूर्व बौद्ध और जैन धर्मों का उदय हो चुका था। परन्तु जिस समय और जिस वातावरण मे कालिदास विद्यमान थे, उसमे इन दोनो धर्मों का विशेष प्रभाव प्रतीत नही होता था। अशोक के समय बौद्ध धर्म का व्यापक प्रसार हुआ था, किन्तु शुंग काल मे ब्राह्मण धर्म की मर्यादा पुनः प्रतिष्ठित हुई। इसके फलस्वरूप यज्ञ यागादि हवन-पूजन इत्यादि को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ और जातीय व्यवस्था मे पुनः ब्राह्मणो को शीर्षस्थ गौरव दिलाने का प्रयास किया गया। वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस काल मे सामाजिक नियम कठोर बना दिये गये और चारो वर्णों के कर्त्तव्य निश्चित कर दिये गये, आश्रम प्रणाली को अपनाने की चेष्टा की गयी तथा गृहस्थ धर्म की महानता पर विशेष बल दिया गया। विहारो और मठो मे फैले अनाचार ने ब्राह्मण धर्म के अनुयायियो को बौद्ध धर्म की खिल्ली उडाने तथा दमन करने का अवसर दिया।[४] शुंगो के पश्चात् काण्व तथा काण्वो के पश्चात् सातवाहन राजा भी सब ब्राह्मण थे तथा उन्होने ब्राह्मण धर्म को सबल बनाया।[3] सम्भवत: इसी युग मे कालिदास हुए थे और इसीलिए वे अपने समय के राजाश्रित लोकप्रिय धर्म से विशेष प्रभावित हुए थे।

कालिदास के ग्रन्थो मे साख्य, वेदान्त, मीमासा, वैशेषिक, न्याय और योग के दार्शनिक सिद्धान्तो का अनेक स्थानो पर उल्लेख किया गया है।[५] उनके युग मे ये सभी दर्शन प्रायः विकास की अवस्था मे थे। श्रीमद्भगवद्गीता तथा उपनिषदो के दर्शन का जनमानस पर व्यापक प्रभाव था।

---

१. कालिदास का भारत, द्वितीय भाग पृ०, ५९-६०।

२. वही, पृ०, १२०। ३. भारतीय संस्कृति, पाठक, पृ०, २७।

४. महाकवि कालिदास, रामाशंकर तिवारी, पृ०, ५७।

५. कालिदास का भारत, भा० - २, पृ०, १८५। २. वही, पृ०, ११४-११८।

कालिदास के समय मे ज्योतिष, औषधविज्ञान, अर्थशास्त्र तथा कामशास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये तथा उपरोक्त विषयो के साथ राजशास्त्र नाट्यशास्त्र आदि विषयो का अध्ययन प्रचलित रहा ।

अध्ययन के प्रमुख विषयो मे कालिदास ने एक स्थान पर चार प्रकार की विद्याओ,[1] अन्यत्र तीन विद्याओ[2] तथा एक अन्य स्थान पर चतुर्दश विद्याओ की विद्यमानता का[3] उल्लेख किया है। कामन्दक के अनुसार अध्ययन के चार विषय इस प्रकार थे—१ आन्वीक्षिकी—तर्कशास्त्र, दर्शन और अध्यात्मविद्या। २ त्रयी—तीन वेद, उनके अग, उपांग आदि। ३ वार्त्ता —कृषि, वाणिज्य आदि। ४ दण्डनीति। चतुर्दश विद्याओ मे चार वेद, ६ वेदांग, मीमासा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र आते है। कालिदास के समय मे इनका पठन-पाठन प्रचलित था। इनके अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, रामायण, महाभारत, नृत्य, संगीत आदि का भी शिक्षण होता था। चित्रकला, मूर्तिकला तथा अन्य उपयोगी कलाओ को भी सिखाने की व्यवस्था थी।[4]

शिल्प तथा कला

समृद्ध नागरिको की सौन्दर्य भावना अत्यन्त ही परिपक्व थी। स्त्री और पुरुष दोनो ही को अलंकार और प्रसाधन से बड़ा प्रेम था। चित्रकला और पृष्ठभूमि, चित्रण तथा भित्तिचित्रो के बहुसंख्यक उल्लेख कालिदास मे उपलब्ध होते है, जिनसे ज्ञात होता है कि कवि के युग मे इन कलाओ मे आश्चर्यजनक उन्नति हुई थी।[5] चित्रकला का प्रसार कालिदास के समाज मे इतना व्यापक था कि इसका प्रसार वानप्रस्थो के तपोवनो तक हो गया था। चित्रकला के ज्ञान की सहायता से ही शकुन्तला को उसकी सखियाँ आभूषण यथास्थान पहना सकी थी। कालिदास के द्वारा मूर्तियो के अनेक उल्लेखो से उस युग मे मूर्तिकला के प्रसार का भी परिचय मिलता है। स्थापत्य कला ने भी पर्याप्त उन्नति की थी। नगर की निर्माण-योजना सुनियोजित थी। राजधानियो तथा समृद्ध नगरियों के राजमार्ग उच्च अट्टालिकाओ वाले अभ्रंकष धवल प्रासादो से भरे पड़े थे। सार्वजनिक उपवन और मनोहर सोपानो से युक्त स्नानागार, सैकड़ो यज्ञस्तम्भ, तोरण, कृत्रिम शैल प्राकार और परिखा —ये सभी नगर मे यथा-स्थान निर्मित्त किये जाते थे।

साहित्यिक परम्परा तथा प्रेरणास्रोत

कालिदास के पूर्व निश्चय ही संस्कृत-साहित्य की एक समृद्ध परम्परा विद्यमान थी। नाटककारो मे भास अत्यन्त प्रतिष्ठित हुए थे। सौमिल्ल और कविपुत्र आदि प्रसिद्ध कवि

---

१. रघुवंश, ३।३०। २. वही, १८।५ ३. वही, ५।२१।
४. कालिदास का भारत, भाग २, पृ०, ८७–८८,। ५. रघुवंश, १८।५।

कालिदास के पूर्व हो चुके थे, पर वाल्मीकि ने कवि को सर्वाधिक प्रभावित किया था। वाल्मीकि कालिदास की कविचेतना मे रम से गये है।

भरत का नाट्यशास्त्र नाट्यजगत मे प्रतिष्ठित हो चुका था। कालिदास ने विक्रमोर्वशीय मे भरत को नाटक के महान् आचार्य और सूत्रधार के रूप मे अत्यन्त श्रद्धा से स्मरण किया है। नाट्य सिद्धान्तो को भी सुव्यवस्थित रूप मिल चुका था। काव्यशास्त्रीय चिन्तन का समारम्भ हो चुका था, और जैसा कि भास वाले अध्याय मे कहा गया है, इस समय तक अनेक प्रतिष्ठित काव्यशास्त्री हो चुके थे।

नाट्यसमालोचना के क्षेत्र मे रससिद्धान्त प्रतिष्ठित हो चुका था जिसके आद्याचार्य नन्दिकेश्वर थे, जिनका उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र तथा उसकी टीका अभिनवभारती, शारदातनय के भावप्रकाशन और संगीतरत्नाकर मे भी प्राप्त है।[1] साथ ही विक्रमोर्वशीय (२।८) के उल्लेख के आधार पर यह भी असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि अष्ट रसो के प्रतिपादक तथा रससिद्धान्त के प्रतिष्ठापक के रूप मे भरत भी सर्वमान्य हो चुके थे। कालिदास मालविकाग्निमित्र मे 'नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्'—कहकर भरत की नाट्यशास्त्रीय मान्यताओ की स्मृति दिलाते हैं।

आर्ष कवियो का युग समाप्त हो चुका था और सामन्तीय वातावरण के बीच अलंकृत कविता पनपने लगी थी, कवियो को राज्याश्रय मिलने लगा था और राजसभा मे वैभव-विलास और राजकीय गरिमा के बीच रहकर लिखी जाने वाली कविता का विकास पर्याप्त मात्रा मे हो रहा था। प्रथम शती ई० मे शकारि विक्रमादित्य (?) दूसरी शती मे रुद्रदामन् तथा उसके पश्चात् गुप्तकाल मे समुद्रगुप्त जैसे राजा कवियो के आश्रयदाता और काव्य के अच्छे पारखी थे। समुद्रगुप्त स्वयं अपने युग का श्रेष्ठ कवि था। राजसभा के वातावरण के प्रभाव से काव्य मे अलंकृत शैली विकसित हो रही थी। दूसरी शती ई० पू० मे विरचित पातंजल महाभाष्य की सरल प्रवाहपूर्ण प्रासादिक शैली धीरे-धीरे प्रौढ दीर्घ समासबन्धो मे युक्त अपेक्षाकृत जटिल गद्य शैली मे ढलती जा रही थी, जिसका नमूना रुद्रदामन् के शिलालेख (१५० ई०) मे देखा जा सकता है। रुद्रदामन् के शिलालेख के अतिरिक्त भास और अश्वघोष के पश्चात् लिखी जाने वाली कविता का क्रमिक विकास समुद्रगुप्त की प्रशस्ति (चौथी शती), प्रभावती गुप्ता के पूना के ताम्रलेख (चौथी शती), मेहरौली लौहस्तम्भ के अभिलेख (पाँचवी शती) तथा वत्सभट्टि की प्रशस्ति में देखा जा सकता है। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति का चतुर्थ पद्य अपनी कलात्मकता और भावाभिव्यंजना मे अद्वितीय है और कालिदास से टक्कर लेता है। वत्सभट्टि भी कालिदास से अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होता है।

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, काणे, पृ०, २–३।

रामायणीय युग के पश्चात् से साहित्य, कला और संस्कृति का केन्द्र नागरक बनता जा रहा था। नागरक की जीवनचर्या और अभिरुचि से कविता प्रभावित हो रही थी। कामसूत्र (प्रथम शती ई० पू०) मे वर्णित नागरक की जीवन विधि से अभिजात वर्ग में पनपने वाले काव्य की पृष्ठभूमि अच्छी तरह जानी जा सकती है। उसका घर सुन्दर, अनेक उद्यान, अनेक प्रकोष्ठ तथा दो शयन गृहो से युक्त होता था। वह सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करता था। शयनगृह मे नागदन्त पर अवलम्बित वीणा, चित्रफलक, वर्तिका-समुद्गक (कूंची आदि), पुस्तक तथा सुगन्धित मालाएं उसके परिष्कृत और कलात्मक अभिनिवेश की परिचायक थी। मनोरंजनार्थ आर्षफलक, द्यूतफलक, शकुनिपंजर भी उसके घर मे रहते थे, तथा वाटिका मे प्रेंखादोला (झूला) रहा करता था।[1] भोजन के पश्चात् नागरक सुकसारिकाओ के प्रलाप, लावक, कुक्कुट और मेषो के युद्ध, पीठमर्द, विदूषक आदि के व्यापार और बातचीत तथा विभिन्न कलाक्रीडाओ से मनोविनोद करता था। अपराह्‌ण मे प्रसाधन करके वह गोष्ठी तथा प्रदोष मे संगीत का आनन्द उठाता था। रात्रि को वह प्रसाधित और धूप की सुगन्धि से सुवासित वासगृह मे अभिसारिका की प्रतीक्षा करता था, उसके पास दूती भेजता था, या स्वयं जाता था।

नागरक समय समय पर सरस्वती-भवन मे होने वाली साहित्यिक गोष्ठियो व अभिनय आदि का आनन्द लेता था।[2] कालिदास के युग से काव्य की दिशाओ और प्रवृत्तियो का मानक और निर्देशक यह नागरक बन गया था और तदनुरूप ही अलंकृत किन्तु जीवन की सहज धारा से किंचित् विच्छिन्न कविता की सृष्टि इस युग में होने लगी थी। नागरक द्वारा प्रवर्तित गोष्ठियो में युग की काव्य-कला-संबंधी मान्यताएँ और मानक निर्धारित तो होते ही थे, इन गोष्ठियो मे उन्मुक्त भाव से रसिक जन शृंगारिक चर्चा करने का अवसर भी पाते थे। रसिक सहृदय नागरको की ऐसी गोष्ठियो मे ही जब काव्यकला की परीक्षा होने लगे, तो शृंगार की रसराज के रूप मे स्वीकृति स्वाभाविक ही है, इसीलिए इस युग की कविता रस और आनन्द की भावना से सराबोर है और इसीलिए वह बडी सुघडता और सजधज के साथ ही प्रस्तुत होती है। नये कवियों की परीक्षा के लिये एक सहृदय किन्तु पण्डित आलोचको का समाज हुआ करता था, जिसके लिए ही सम्भवतः कालिदास ने 'अभिरूपभूयिष्ठा परिषद्' शब्द का व्यवहार किया है। नाटक को समाज मे अतिशय प्रतिष्ठा मिली थी, क्योकि अलंकृत काव्य तक केवल सहृदय पण्डितो की ही पहुँच थी, जब कि नाटक जनता के लिये था। पण्डित गोष्ठियो का काव्यरचना से अत्यन्त निकट का सबंध था। इन गोष्ठियो मे केवल काव्यपाठ ही नहीं, उसकी आलोचना भी होती थी, तथा कला, साहित्य और संगीत पर चर्चा की जाती थी।

---

१. कामसूत्र, प्रथमाधिकरण, ४।४–१५।

२. वही, अधिकरण–१,४।२१–२८।

काव्यरचना मे प्रगति के लिये कुछ विशेष प्रकार के अभ्यास पण्डितो ने निर्दिष्ट किये थे। वात्स्यायन ने बालिकाओ के अभ्यास के लिए जिन ६४ कलाओ का उल्लेख किया है, उनमे से प्रहेलिका (२८), प्रतिमाला (२९), दुर्वाचक योग (३०), काव्य-समस्यापूरण (३३), काव्यक्रिया (५४), क्रियाकल्प (५६), मानसी काव्यक्रिया (५७), और अभिधानकोष (५५) का सम्बन्ध कवि शिक्षा से है। ललित विस्तर मे भी ६४ कलाएँ परिगणित हैं, जिनमें से काव्य व्याकरण (काव्य की व्याख्या करना), ग्रन्थ-रचना, छन्द, क्रियाकल्प, गीत (गायन) और पठित (काव्यपाठ) कवि से संबंध रखती है।

कालिदास अपने समय के इस साहित्यिक वातावरण से प्रभावित हुए थे, पर उनकी स्वतंत्र-कवि चेतना ने अपने दर्शन को रूपायित करने के लिए पुरातन पौराणिक सन्दर्भो मिथको और इतिहास कथानको का अन्वेषण किया तथा उन्हे नया रूप प्रदान किया। विक्रमोर्वशीयम् का प्रेरणास्रोत जहाँ ऋग्वेद का पुरूरवा और उर्वशी संवाद प्रतीत होता है, वहाँ शाकुन्तलम् की कथा महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान से और कुमारसम्भव की कथा महाभारत और रामायण से [1] तथा रघुवंश का कथानक रामायण से प्रभावित है।

परिवेश-संग्रहण

कालिदास के समय बौद्ध-धर्म का सूर्य अस्त हो रहा था और ब्राह्मण-धर्म का पुन-रुन्मेष हो चुका था। अशोक के पश्चात् १८० ई० पू० मे पुष्यमित्र ने अन्तिम बौद्ध सम्राट बृहद्रथ को मार कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया और ब्राह्मण-धर्म को पूर्ण प्रोत्साहन दिया, तो बौद्धधर्म एकदम लड़खड़ा गया। ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के इस काल मे नवीन सामाजिक व्यवस्थाओ और नियमो की सृष्टि हुई जिन्हे स्मृति ग्रन्थो मे संगृहीत किया गया। बौद्ध धर्म के अभ्युदय से वैदिक धर्म की व्यवस्था को जो धक्का लगा था, उसकी पुनरावृत्ति को रोकने के लिए यह भी आवश्यक समझा गया कि राजा समाज से इन नियमो का पालन कठोरता से करवाये। इस प्रकार की कठोर धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था से प्रभावित होकर ही कालिदास ने दिलीप के लिये लिखा — 'रेखामात्रमपि क्षुण्णमामनोर्वर्त्मनः परम्' मनुनिर्दिष्ट मार्ग से वह दिलीप एक लीक भी इधर से उधर नही होता था। राजा ही समाज मे तत्परता के साथ वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा करा सकता था, अतः उसे धर्म का रक्षक और ईश्वर का प्रतिनिधि कहा गया। मनुस्मृति में कहा गया है कि संसार की अराजकता को समाप्त करने के लिए ब्रह्मा ने अनेक देवताओ के अंशो से राजा की सृष्टि की। राजा का अपमान कभी भी नही

१. द्रष्टव्य—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामजी उपाध्याय, पृ० १९१–१९३।

करना चाहिये, चाहे वह बालक ही क्यो न हो, क्योकि राजा के रूप में महान् देवता ही स्थित रहते है '(मनु० ७।८) । अपने युग की इस विचारधारा का कालिदास पर स्पष्ट प्रभाव है, इसीलिए रघुवंश मे छः वर्ष के शिशु राजा सुदर्शन के लिए कवि ने कहा—'राजवीथी मे हाथी पर बैठकर चलते हुए उस छः वर्ष के राजा को भी, प्रजा जन पिता के समान मानते हुए आदर भाव से देखते थे, (रघु०, १८।३९) । अपने युग के इस नये स्मार्त या पौराणिक धर्म से कालिदास बहुत प्रभावित हुए हैं । अभिज्ञान शाकुन्तलम् मे भी उन्होने राजा के लिये स्मार्त्त विधान का उल्लेख किया है, तथा –पशुमारणकर्मदारुणोऽप्यनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः' (शाकु०, ६।१) कहकर यज्ञयाग के अपने समय मे प्रचलित विधानो मे आस्था प्रकट की है ।[1]

कालिदास का व्यक्तित्व नागरक-संस्कृति के बीच विकसित हुआ था और तदनुरूप ही उसमे आभिजात्य और वैभव की गरिमा भी पनपी । कालिदास एक ऐसे युग के प्रारम्भ मे हुए थे जब भारतवर्ष उपनिषदो से पुराणो की ओर, वेदान्त और सांख्य की ऊँची चोटियो से उतर कर संन्यासमूलक योग की शारीरिक प्रक्रियाओ तथा तत्त्व-शास्त्रीय तर्क के शुष्क बुद्धिवाद अथवा रागात्मक धर्म की ऐन्द्रिय ऊष्मा की ओर उन्मुख होकर अपने दर्शनो को व्यवस्थित रूप प्रदान कर रहा था और अपनी कलाओ और विज्ञानो को विकसित कर रहा था । कालिदास इन सम्पूर्ण प्रवृत्तियो, अपने युग की सम्पूर्ण विद्याओ तथा ज्ञान विज्ञान, दार्शनिक एवं आचारशास्त्रीय मान्यताओ तथा अपने समय की वैभवशाली राजधानी को जीवनचर्या से पूर्णतः परिचित थे और उससे प्रभावित भी हुए थे । प्रकृतिगत सौन्दर्य, वन एवं पर्वतो की भव्यता, वापी एवं सरिता की सुषमा, पशु-पक्षियो के जीवन का आकर्षण—इन सब की अभिशंसा सामयिक संस्कृति का अंश बन गयी । इसके अतिरिक्त वीरुधो, वृक्षो और पर्वतो मे सजीवता का आरोप, बौद्ध धर्म के प्रभाव एवं प्रोत्साहन से पशुवर्ग के साथ भातृत्व की रागात्मक भावना और पुराणो के रोमाण्टिक संस्तर के प्रति लोक समुदाय का आकर्षण —ये सभी वस्तुएँ तत्कालिन वातावरण मे व्याप्त हो गयी थी, जिनसे कालिदास को नितान्त मनोरम एवं भव्य पृष्ठभूमि तथा वैविध्यपूर्ण दृश्य-सन्दोह प्राप्त हुए । श्रीअरविन्द के शब्दो मे —इस समय भारतवर्ष आध्यात्मिक अनुभव की सीमाओ को समाप्त कर इन्द्रियो के विषयो की अधिकाधिक खोज कर रहा था, द्रव्य (पदार्थ) मे आत्मिक सम्भावनाओ के अनुमान एवं अन्वेषण में संलग्न था तथा इन्द्रियो के माध्यम से भगवान् को भी खोज लेने का उपक्रम कर रहा था । वैष्णव पुराणो का रागात्मक धर्म जो मानवात्मा को

---

१. श्री वागीश्वर विद्यालंकार ने इस पद्य का व्यंग्यपरक अर्थ करते हुए कालिदास को यज्ञीय हिंसा का विरोधी बताया है, जो उचित प्रतीत नही होता ।
(द्रष्टव्य –कालिदास और उसकी काव्यकला, विद्यालंकार, पृ० १०२–१०३) ।

परमात्मा मे नारी को अपने प्रणयी के प्रति आसक्ति वाला सबंध रखना चाहता है, पहले ही विकसित होने लग गया था। शैवो के तान्त्रिक धम का विकास अभी कदाचित् नही हो पाया था। लेकिन पुरुष एवं प्रकृति, ईश्वर और शक्ति के मिलन व संयोग की भावना की अभिव्यति पौराणिक कथाओ मे पहले से ही वर्तमान थी। कालिदास के महाकाव्य कुमारसम्भव मे शिव और पार्वती के परिणय का जो वर्णन हुआ है, उसकी पृष्ठभूमि मे पुरुष प्रकृति संयोग की भावना मुखरित है।

जीवन

कालिदास चाहे काश्मीर मे हुए हो चाहे बंगाल या गढवाल मे —इतना निश्चित है कि ऋतुसंहार की रचना करते समय वे मध्यदेश मे विन्ध्यपर्वत के निकट निवास कर रहे थे। ऋतुसंहार का ग्रीष्मवर्णन ऐसे स्थान मे ही लिखा जा सकता था सम्भवतः कवि ने उज्जयिनी-राजसभा को सुशोभित किया था, परन्तु वह किसी तपोवन या आश्रम मे भी दीर्घकाल तक रहा था। रघुवंश और शाकुन्तल में इसीलिये कवि का मन बार बार नगर और अन्तःपुर से भाग कर तपोवनो मे लौट-लौट पड़ता है। आश्रमो मे रहकर कवि ने सम्भवतः विधिवत् शास्त्रो का अवगाहन किया था। स्नातक बनने के पश्चात् उसका स्वच्छन्दता और वैविध्य का प्रेमी मन आलान तोड कर भागने को उत्सुक गज सा पर्यटन के लिये उत्सुक हो उठा होगा और सम्भव है, अपनी युवावस्था के इन दिनो मे कवि ने बाणभट्ट की भाति विविध प्रदेशो का अटन किया हो और अनुभव तथा ज्ञान का समृद्ध भण्डार इसी प्रकार संचित किया हो। इसी समय कवि ने संगीत, चित्र आदि ललित कलाओ का भी ज्ञान प्राप्त किया होगा। अपने यौवन के उन दिनो मे कवि सम्भवतः अत्यधिक ऐश्वर्य विलास और रागरंग के बीच रहा था। सम्भव है, उसने उद्दाम यौवन के इन दिनो मे किसी मुग्धागना के हृदय को प्रतारित किया और फिर दुष्यन्त की मनोव्यथा के रूप मे अपनी ही पश्चात्ताप भावना को प्रकट करना चाहा हो। ऐसा लगता है कि कालिदास ने अनपत्यता का कष्ट भोगा था। सन्तानप्राप्ति की जो उत्कट अभिलाषा उनके काव्यो मे यत्र-तत्र[1] प्रकट हुई है, उसेमे स्वयं की अनुभूति भी छाया है। रघुवंश के तीसरे सर्ग के प्रथम ६ पद्यो मे गर्भदशा का वर्णन भी यही सूचित करता है।

---

१. कष्टं खलु अनपत्यता, मूलपुरुषावसाने सम्पदः पदमुपतिष्ठन्ति,
नूनं प्रसूति-विकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुसेकमुदकं पितरः पिबन्ति।

शाकु० ६।२५, आदि।

मान्यताएँ

काव्य और कला के संबंध में

कालिदास ने काव्य और कला के संबंध मे अपनी मान्यताओ को अप्रत्यक्ष रूप से यत्र-तत्र प्रकट किया है। वे संस्कारवती वाणी को वरेण्य मानते हैं। मनीषी व्यक्ति ही ऐसी वाणी से विभूषित होते है। कालिदास के अनुसार काव्य या कला मे प्रकृति अथवा वस्तु जगत का अन्यथाकरण किया जाता है।[1] जो वस्तु जैसी दिखाई देती है, वह उसी रूप मे कला मे प्रतिबिम्बित नही होती। कलाकार सर्वप्रथम उपादान सामग्री का संचयन करता है और उसके अनन्तर उस संचित सामग्री का यथोचित सन्निवेश। इस समय सौन्दर्य को घनीभूत रूप मे देखने की इच्छा से वह उपादान सामग्री को अनुकूल बनाता है।[2] यही संचित सामग्री का यथोचित सन्निवेश है। सन्निवेश के समय प्रकृति का अन्यथाकरण कर दिया जाता है, और इस प्रक्रिया मे उत्तम कोटि का कलाकार उसमे कुछ और जोड देता है।[3]

कालिदास वस्तुजगत के यथातथ्य अनुकरण को अच्छा नही मानते। वियोगी दुष्यन्त ने शकुन्तला का जो चित्र बनाया था, वह एकदम हूबहू था। वह चित्र इतना वास्तविक था कि सानुमती को कहना पड़ा—'लगता है शकुन्तला ही मेरे समक्ष उपस्थित है।[4] पर दुष्यन्त को इस चित्र से सन्तोष नही था। बार-बार उसे लगता था कि कही कुछ त्रुटि रह गयी है। अन्त मे उसने उसमे सुधार किया और उस चित्र मे कुछ ऐसा जोड़ना चाहा, जिसमे उसकी आन्तरिक वेदना और पश्चात्ताप की अभिव्यक्ति थी और जिससे वस्तु जगत के यथातथ्य चित्र का सौन्दर्य किंचिदन्वित होता है।[5]

कला और साहित्य की सर्जना के लिये कलाकार को पूर्ण समाधिस्थ होना चाहिए। कालिदास के मत मे विधाता भी एक कलाकार है, और जब वह सचमुच कोई सुन्दर रचना करता है तो समाधिस्थ होता है।

---

१. कालिदास की लालित्ययोजना—पृ० ७८।

२ सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥—कुमारसम्भव, १।४९

३ यद्यद् साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्॥ अभि० ६।१४

४. शाकुन्तल, षष्ठ अंक।

५. कालिदास की लालित्ययोजना, पृ० ८३—८४।

इसीलिये दिलीप के लिये कवि ने कहा—"तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना"[१] अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला के विषय मे दुष्यन्त ने कहा है—"ब्रह्मा ने पहले शकुन्तला के रूप की मानस-कल्पना की होगी। उस समय उसके चित्र मे सौन्दर्य का उफान रहा होगा। उसने चित्र को पूर्ण सत्वस्थ या समाहित किया होगा। तभी शकुन्तला जैसे स्त्री-रत्न की सृष्टि हुई होगी।"[२]

कालिदास का मत था कि भावानुप्रवेश से कला प्राणवन्त बन जाती है। दुष्यन्त ने शकुन्तला का जीवन्त और वास्तविक चित्र बनाया था, पर कवि की दृष्टि मे उस चित्र मे प्राणो का स्पन्दन नही था क्योकि दुष्यन्त का हृदय उसमे नही उतर पाया था। परिव्राजिका कौशिकी के मुख से मालविका के नृत्य की प्रशंसा करवाते हुए कवि ने कलासृजन के सम्बन्ध में अपने इस मन्तव्य को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है—

अंगैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसस्य।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव ॥२।७

"मालविका गीत के रस मे तन्मय हो गयी थी।—जो भाव अन्य विषयो से मन को विरत करें और नर्तकी दिखाये जाने वाले भाव मे स्वयं प्रवेश कर जाय, वही रागबन्ध उत्तम होता है।" उर्वशी लक्ष्मी का अभिनय करते समय लक्ष्मी को भावनाओ में तन्मय नही हो सकी तो उसे स्वर्ग के श्रेष्ठ कलाकार के पद से च्युत होना पडा।

कलाकृति के अवलोकन मे भी सहृदय मे इसी प्रकार का तन्मयत्व उत्पन्न हो जाता है। दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बना कर उसे देखने लगा हो वह यह एकदम भूल गया कि वह चित्र देख रहा है। कालिदास ने इस अवस्था को 'यथालिखितानुभाविता' कहा है। मालविका की भी इरावती की ओर दृष्टिपात करते अग्निमित्र का चित्र देखकर ऐसी अवस्था हो गयी थी।"[3] काव्यास्वाद से यही स्थिति होती है। शाकुन्तल की प्रस्तावना मे 'अहो रागबद्धचित्तवृत्तिरिव आलिखितः सर्वतो रंगः' कह कर कवि ने इसी की ओर सकेत किया है। काव्यश्रवण से मन मे राग या आनन्द उमड पडता है। दुष्यन्त इसीलिये कहता है—'अहो रागपरिवाहिणी गीतिः' (शाकु० पंचमाङ्क)। 'यद्यपि गीत शब्द भी सरस, गेय, भावपूर्ण तथा प्रभावान्विति वाली रचना के लिये प्रयुक्त होता है, जिसे अंग्रेजी मे 'लिरिक' कहते है, तथापि कवि ने गीत शब्द के प्रयोग से ही सन्तुष्ट न

१. रघुवंश १।२९। २. शाकु० २।९, मालविकाग्निमित्र मे भी मालविका का चित्र बनाने वाले कलाकार को अग्निमित्र शिथिलसमाधि कहा है।—माल० २।२

३. कालिदास की लालित्ययोजना पृ० ९-४१५९।

रहकर प्रस्तुत प्रसंग की भावपूर्णता और सरसता की अतिशयता को व्यंजित करने के लिये स्त्रीलिंग शब्द गीति का प्रयोग किया है।'

रघुवंश मे विलाप करती सीता के निकट जाते हुए करुणाविगलित वाल्मीकि का चित्र अंकित करते समय कालिदास ने शोक की श्लोक मे सहज परिणति दिखाते हुए अनुभूति की तीव्रता को ही कविता का मूल माना है। विक्रमोर्वशीय (२।१८) में कवि ने रससिद्धान्त के आद्याचार्य भरत के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हुए नाटक के आठो रसों पर आश्रित होने का उल्लेख करने स्वयं को रसवाद का पोषक सिद्ध किया है।

उपरिलिखित रागपरिवाहिणी गीति में ही कवि का काव्यादर्श परिलक्षित होता है। काव्य का श्रवण मन मे दबे हुए न जाने कितने सुप्त प्रस्तुत संस्कारो की परतो को उधेड़ देता है। हंसपदिका की गीति के श्रवण से दुष्यन्त की यही स्थिति हो गयी। तभी वह कहता है—'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्—स्मरति हि जननान्तर-सौहृदानि (शाकु० ५।२) श्री रमाशंकर तिवारी ने उचित ही दुष्यन्तको कालिदास का काव्यात्मक प्रवक्ता कहा है।'[1]

काव्यश्रवण से सहृदय विभाव के साथ तन्मय हो जाता है, इस बात को कवि ने कुमारसम्भव मे इस प्रसंग के द्वारा स्पष्ट किया है—'पार्वती ने शंकर के चरित-गायन के प्रारम्भ होने पर भरे गले से निकलने वाले पदो के द्वारा वन के प्रान्त भागों मे होने वाले संगीत मे सहभागिनी किन्नरकुमारियो को अनेक बार रुलाया।'[2]

विवाह के संबंध में

कालिदास ने विवाह के सामाजिक पक्ष पर बल दिया है। विवाह समाज के कल्याण तथा वंशवृद्धि के लिये है। शंकर अपने लिये विवाह नही करते—

अरिविप्रकृतैर्देवैः प्रसूतिं प्रति याचितः।
अत आहर्त्तुमिच्छामि पार्वतीमात्मजन्मने॥—कु० ६।२७,२८

इसीलिये कालिदास की दृष्टि मे विवाह भी यज्ञ है[3] तथा सभी धर्म्यक्रियाओ का मूल साधन है।[4]

नारी के सम्बन्ध में

यौवन के प्रथम दिनों मे कवि की दृष्टि प्रायः नारी के मांसल सौन्दर्य से मुग्ध थी। मालविकाग्निमित्र मे भी कवि अग्निमित्र के रूप मे स्वयं मासलता और ऐन्द्रिय भावना

१. महाकवि कालिदास; पृ० ३३१।
२. कुमारसम्भव ५।५६। ३. कुमारसम्भव ७।४७, ६।१३। ४. वही, ६।११।

मे पगा हुआ है। पर मालविकाग्निमित्र की रचना के समय कवि के भीतर एक दूसरी चेतना भी जन्म ले चुकी थी, और उसे अपनी क्षुद्र संकुचित वृत्ति का बोध सालने लगा था। मेघदूत और कुमारसम्भव के रचना काल मे कवि की दृष्टि मे व्यापक रूप से परिवर्तन हुआ। उसे स्त्रीत्व की महिमा का बोध हुआ, इसीलिये कवि को अरुधती साक्षात् तपःसिद्धि सी लगी।[१] और उसने शंकर के द्वारा अरुधती को वही सम्मान दिलवाया, जो सप्तर्षियो को।[२] जैसे जैसे कवि की दृष्टि विकसित होकर व्यापक बनी, नारी उसके लिये मात्र विलास क्रीडा की वस्तु न रह कर 'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ'[३] बनती गयी।

दार्शनिक और धार्मिक मान्यताएँ

कालिदास को सृष्टि के प्रारम्भ और अन्त मे भी विद्यमान रहने वाली सर्वात्मक सत्ता पर विश्वास था जिसे गीता मे परब्रह्म कहा गया है। यह ब्रह्म सृष्टि का निमित्त कारण भी है और समवायि कारण भी।[४] वह अपने से ही अपने को उत्पन्न करता है, अपने से ही अपना सृजन करता है तथा अपने द्वारा अपने मे ही लीन हो जाता है।[५] साख्य की शब्दावली मे कालिदास सत्कार्यवादी है, परन्तु सृष्टि के उद्भव के सम्बन्ध में उनकी विचारधारा साख्यमत से भिन्न है, क्यो कि उन्होने एक ब्रह्म मे ही पुरुष और प्रकृति दोनो की सत्ता मानी है।[६] साख्य में पुरुष-बहुत्व का उद्घोष है पर कालिदास एक ही पुरुष (ईश्वर) को स्वीकृति देते है। कालिदास के मत मे यह प्रकृति परब्रह्म की अध्यक्षता मे सृष्टि का संचालन करती हैं।[७] यद्यपि परब्रह्म मे कोई विक्रिया नही होती,[८] फिर भी वह सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणो के अनुरूप तीन रूपों को धारण करता है।[९]

कालिदास की दृष्टि मे यह जगत रज्जु मे प्रतिभासित सर्प या शुक्ति मे प्रतिभासित रजत के समान मिथ्या नही है। वेदान्तियो की माया सम्बन्धी धारणा का भी कोई आभास उनकी रचनाओ मे नही है। कालिदास सम्भवतः यह मानते थे कि इस सृष्टि के विभिन्न पदार्थ भगवान् के ही रूप है और इसलिये वे वास्तविक है। इस संसार को पूर्णतः छाड कर या कर्म का त्याग करके मुक्ति पाने या प्रयत्न भी कवि की दृष्टि में समीचीन नही, इसीलिये सम्भवतः कालिदास ने कही भी संन्यास का स्पष्ट उल्लेख

---

१. कुमारसम्भव[illegible]।१२

२. कुमारसम्भव। ३. रघुवंश, ७।६७। ४. कुमारसम्भव, २।५-६। ५. वही, २।१०। ६. वही, २।१३। ७ वही, ६।८० ८. रघुवंश, १०।१७।

९ वही, १०।१६।

या सन्यासाश्रम की धारणा का प्रतिपादन नही किया। रघु को उन्होने वानप्रस्थाश्रम मे ही शरीर का परित्याग करते हुए दिखाया है। यही नही, कवि ने वानप्रस्थ को ही अन्त्य आश्रम की सज्ञा दे दी है।[१]

यज्ञ मे कालिदास की दृढ आस्था थी।[२] वे समग्र जीवन को ही यज्ञ बनाना चाहते थे। विवाह को उन्होने यज्ञ कहा है[३] तथा गृहस्थाश्रम उनकी दृष्टि मे समस्त धार्मिक कृत्यो का मूल साधन है। यज्ञ से कालिदास का तात्पर्य मात्र कर्मकाण्डीय यज्ञ से नही, अपितु गीता के व्यापक अर्थ वाले यज्ञ से है, जिसकी परिधि मे सभी कर्त्तव्य कर्म समा जाते है। वैसे वैदिक यज्ञो मे भी उनकी आस्था थी, तथा यज्ञ मे पशुहिंसा उन्हे सम्मत थी।[४] पर कालिदास की दृष्टि मे यज्ञ शाश्वत समाचरणीय कर्म है क्योकि वह ब्रह्म द्वारा आविर्भूत वेदों में निर्दिष्ट है।[५]

मूर्तिपूजा मे कवि का विश्वस था।[६] अन्य धार्मिक विधान सपर्या,[७] विधि,[८] अंजलि,[९] सन्ध्याविधि,[१०] आदि को वे आवश्यक समझते थे। मन को संयमित रखने के लिये कालिदास कुछ व्रतो का पालन करना उचित मानते थे। उपवास इस प्रकार के व्रतो मे से एक है। व्रत के[११] समय मन संयम मे रखना आवश्यक है।[१२] व्रत का उद्देश्य ही मन को दृढ और संमयी बनाना है। मन की वासनाओ से ऊपर उठने की प्रक्रिया असिधारा व्रत मे चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जिसमे युवा पत्नी के साथ एक शय्या पर शयन करते हुए भी ब्रह्मचर्य से रहना आवश्यक है।[१३] व्रत के समय कुछ बाह्य उपकरणो—विशेष प्रकार के वस्त्रो आदि की आवश्यकता होती है।[१४]

ज्योतिष,[१५] परलोक,[१६] पुनर्जन्म आदि मे कालिदास का विश्वास था। भाग्य के कर्त्तृत्व और प्रभाव से भी वे अभिभूत थे।[१७] राम और कृष्ण को वे विष्णु का अवतार मानते थे।[१८] योग में कालिदास का विश्वास था। उन्होने राजा के लिये सैद्धान्तिक

---

१. रघुवंश, ८।१४। मल्लिनाथ ने इसे सांन्यासाश्रम ही माना है। प्रश्न नाम का नहीं, रघु के आचरण का है। रघु को कवि ने कुटी बना कर रहते हुए दिखाया है, अतः कवि को ससार का सर्वथा परित्याग अभीष्ट नही है।

२. रघुवंश ४।४६, ३।४४, १।२६, ७।३४,। ३. कुमारसम्भव ७।४७।

४ द्रष्टव्य रघुवंश १।४४ तथा ६।३८ मे यूप शब्द, रघु० १३।६१ तथा शाकु०६।१ भी

५ कुमारसम्भव २।१२।

६. रघुवश १०।७,६० १८।२४। ७ वही ५।२२। ८. वही १।३४।

९. वही, ५।७ कुमारसम्भव ८।४७। १०. कुमारसम्पव ८।४८,५०।

११ वही, ५।२२। १२ विक्रमोर्वशीय ३।१२। १३ रघुवंश १३।६७।

१४. विक्रमोर्वशीय ३।१२ १५. शाकुन्तल ७।१६। १६. रघुवंश १५।६६; ८।४५, ७।१५, शाकुन्तल ५।२। १७ मेघदूत-५२, रघुवंश ८।४६।

१८. रघुवंश १३।१,८ मेघदूत १५।

और व्यावहारिक दोनो ही दृष्टियो से 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' का आदर्श प्रतिष्ठित किया। उन्होने अनेक राजाओ के द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की बार-बार चर्चा की है।

कालिदास ने अपने युग की दार्शनिक और धार्मिक मानन्यताओ को प्रायः जैसे का तैसा स्वीकार कर लिया था, पर उनके प्रति कट्टर दुर्निवार आग्रह उनमे नही था। यही नही, जहाँ कही उनकी कविचेतना रूढिबद्धता से तालमेल नही बैठा पायी, वहाँ भवभूति की भाँति विद्रोही स्वर में तो नही पर विनम्रतापूर्वक उन्होने उसके विरुद्ध लेखनी उठाई थी। 'स्त्रीपुमानित्यनास्थैषा वृत्तं हि महितं सताम्' कहकर कवि ने रूढिगत मान्यताओ की अपेक्षा व्यक्ति के आचरण को ही अधिक महत्व दिया है। 'पदं हि सर्वत्र गुणैर्निधीयते' मे भी कालिदास अपनी प्रिय व्यंजना प्रणाली द्वारा जाति और वर्गगत ऊंचनीच की भावना की हेयता की ओर संकेत करते है।

आदर्श

कालिदास की कविचेतना आदर्शोन्मुखी थी। ऋतुसंसहार से लेकर रघुवंश और शाकुन्तल तक की काव्य-यात्रा मे कवि संस्कृति के उन सभी मानदण्डो को आत्मसात् करता चला था, जो उसके पूर्ववर्ती या समकालीन विचारको ने स्थापित किये थे। उसने अपने समय में प्रचलित विभिन्न विचारधाराओ मे गोता लगाकर आदर्शरत्नो का अन्वेषण किया था। जीवन के उच्चतर मूल्यो के इस सार्थक अन्वेषण मे कालिदास को जो सबसे बहुमूल्यरत्न दिखाई दिये, वे थे त्याग और तप। कवि ने इन दोनो ही जीवन मूल्यो मे बार-बार अपनी आस्था व्यक्त की है। काव्य के द्वारा वे मानव-समुदाय को त्याग और तप के मार्ग पर प्रवर्तित करना चाहते हैं।[१] त्याग के साथ-साथ परोपकार मे भी कवि ने आस्था व्यक्त की है।[२] इसके अतिरिक्त कवि को सबसे बडा आदर्श लगा वह था वर्णाश्रम धर्म।[3] मनु के द्वारा प्रतिपादित धर्म मे कालिदास की दृढ आस्था थी। और वे चाहते थे कि समाज मनु के धर्म को पत्थर की लकीर मान कर चले।[४] अपने समय के धार्मिक परिवेश से कालिदास इतने अधिक प्रभावित थे कि लीक से हट कर स्वतंत्र चेत बनने की प्रवृति उनमे सम्भव ही नही थी, इसीलीए वे राम के द्वारा शम्बूक के वध को उचित ठहराते है।[५] परन्तु अश्वघोष की तरह कालिदास का व्यक्तित्व

---

१. द्रष्टव्य—साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये। रघु० १४।६६ त्यागाय सम्भृतार्थानाम्—रघु० १।७, तथा रघु० १३।४१-४३, १५।४२, शाकु० ७।११ कुमारसम्भव १।५८, रघु० ५।४६, कुमार० ५।८-२६,४८।

२. रघु० ८।३१।

३ द्रष्टव्य रघु०१।८,नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत् स एव धर्मो मनुना प्रणीतः—रघु०१४।६७। ४. रघुवंश १।१७। ५. रघु० १५।५१।

कही पर भी धार्मिक या साम्प्रदायिक भावना से आविष्ट नही हुआ है। उन्होने अपन समय की मान्यताओ को स्वीकार कर लिया था। क्योकि धर्म के सम्बन्ध मे गहरा चिन्तन और मनन करना उनके भीतर के कवि को स्वीकार नही था। उनके लिये तो सबसे बड़ा धर्म कवि का धर्म था, जिसने उन्हे जीवन का अपने ही ढंग से देखने की प्रवृत्ति दी थी। वेदान्त या साख्य के सिद्धान्तो या स्मृतिकारो के नियमो को तो उन्होंने वैसे ही स्वीकार कर लिया था, जैसे वे पहनने के हल्के–फुल्के वस्त्र हो, जिन्हे कभी भी उतारा जा सकता है।

वर्णाश्रम धर्म के विधिविधानो की अपेक्षा कालिदास को यश और पराक्रम अधिक वरेण्य प्रतीत होते थे। महान् पराक्रमी इन्द्र कवि का आदर्श था, जिसकी उसने पुनः पुनः अपने काव्य मे चर्चा की है।[१] अपने प्रबल विक्रम से इन्द्र के भी दाँत खट्टे कर देने वाला रघु[२] या परशुराम को अपने शौर्य से नतमस्तक कर देने वाले राम कवि के प्रिय पात्र हैं। अपने नायकों की बलिष्ठता की भी कवि ने बार-बार आशंसा की है।[३] कवि का आदर्श था कि यश की रक्षा हर कीमत पर करना ही चाहिये। इन्द्र ने यश की रक्षा के लिये दिलीप का यज्ञीयाश्व चुराना तक उचित समझा। क्योकि–यशस्तु रक्ष्यं परतो यशोधनैः (रघु० ३।४८)। रघु के विषय मे कवि ने कहा है कि वह यश से प्रकाशमान था।[४] दिलीप अपने यशःशरीर की की रक्षा के लिये अपनी भौतिक देह का परित्याग करने को उत्सुक है।[५] रघु कीर्ति के भय से किसी याचक को अपने द्वार से लौटा ही नही सकता और स्वयं के पास उसे देने के लिये कुछ न होने पर अर्थप्राप्ति के लिये कुबेर पर अक्रमण करने को तैयार हो जाता है।[६] दशरथ का यश दसों दिशाओं में विश्रुत है।[७] कालिदास कई स्थानो पर अपने प्रिय नायको की यशस्विता की चर्चा छेड़ कर यश के प्रति अपने मोह और आकर्षण को प्रकट करते है। मेघदूत जैसे विप्रलम्भप्रधान काव्य मे भी कवि भृगुपति के यशोवर्त्म क्रौंच रन्ध्र को भूलता नहीं।[८] वस्तुतः उसका यह सिद्धान्त है कि यश व्यक्ति को अपने शरीर से भी प्रिय होना चाहिये 'अपि स्वदेहात् किमुतेन्द्रियार्थात् यशोधनानां हि यशो गरीयः'–(रघु० १४।३५)।

---

१. द्रष्टव्य—संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास–पृ० २२७-२२८।

२ रघुवंश ३।४४-६३। ३. वही १।१३-१४, १६ ३।३७,५२, २।१८।

४. रघुवंश, ५।२। ५. वही, पृ० २।५७। ६. वही, ८।३६।

७. वही, ७।३३ कुमारसम्भव २।४७, रघुवंश १५।७४, १४।४४, १८।२८, ६।७०

८. मेघदूत, ५७।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

कालिदास सन्तुलित जीवन के पक्ष मे थे। अत्यधिक भोगवाद और अत्यधिक तपश्चर्या दोनो से ही दूर रहना चाहिये—ऐसा उनके अनुभवो और संस्कारो ने उन्हे सिखाया था वे सभी प्रकार की अतियो से दूर रह कर जीवन को स्वस्थ रूप मे सहजता के साथ विकसित होने देना चाहते थे। उनकी कविचेतना ने अपना स्वयं का धर्म खोज निकाला था। वह धर्म जीवन मे समन्वय और सन्तुलन की खोज से उपजा था। अपने इस दृष्टिकोण के कारण कालिदास प्रेम के स्वभाविक पक्ष को उसकी समग्रता मे स्वीकार सके थे। वे जैसे संकुचित प्रवृत्तियो से ऊपर उठे वैसे वैसे उनका वीतरागी मन उन प्रवृत्तियो को सहजता से स्वीकार करता गया। प्रेम के शारीरिक पक्ष के प्रति उनके मन मे नीतिवादियो के जैसी घृणा नही पनप सकी और इसीलिये वे प्रेम के इस पक्ष को नि.सग भाव से अनावृत कर सके। पार्वती और प्रेम को अनन्य निष्ठा के साथ जगत् के माता पिता मानने वाले कवि को उनके सम्भोग का वर्णन करने मे कोई हिचकिचाहट नही हुई। एक ओर प्रकृति और पुरुष के रूपक द्वारा उच्चदर्शन का प्रतिपादन तथा दूसरी ओर नग्न शृंगार इन दोनो को कालिदास एक साथ अंगीकार कर सके है। वे एक ही पद्य मे (रघु० १३।४०) अंगनाओ के पयोधर और अत्यक्त से उत्पन्न होने वाली बुद्धि की निरपेक्ष भाव से चर्चा कर सकते हे।

जीवन मे बाह्य सौन्दर्य ने उन्हे मुग्ध किया था, पर आन्तरिक सौन्दर्य भी उन्हे अभीष्ट था। उनकी सोन्दर्य चेतना न केवल स्वस्थ बलिष्ठ ऊर्जस्विल नीरोगी काया को अपितु मृदुल हृदय को भी वरेण्य मानती थी, इसीलिये तो कवि ने रघु के सम्बन्ध मे कहा—"जुए के समान विस्तृत भुजाओ, कपाट के समान वक्ष तथा पुष्ट कन्धो वाला रघु अपने बूढे पिता दिलीप से भी ऊँचा और तगडा लगता था, पर विनय के कारण वह अपने को छोटा ही प्रदर्शित करता था।[1]" चौडे वृक्ष, साँड के से ऊँचे और भारी कन्धो शाल के वृक्ष जैसी लम्बी भुजाओ तथा क्षत्रिय धर्म के साक्षत् अवतार से लगने वाले और बल और तेज से युक्त अपने शरीर से सबको नीचा दिखाकर सारी पृथिवी को अपनी मुट्ठी मे करने वाला[2] दिलीप के विषय मे भी कवि ने लिखा "जैसा सुन्दर उसका रूप था, वैसी ही तीखी उसकी बुद्धि थी, जैसी-तीखी बुद्धि थी, वैसी ही शीघ्रता से उसने सब शास्त्र पढ डाले थे। इसलिये अपने शास्त्रज्ञान के अनुरूप वह किसी काम मे हाथ डालता तो उसके अनुकूलता भी उसे तुरन्त मिलती थी।[3]

कालिदास जीवन मे धर्म, अर्थ, का–सभी का समन्वय चाहते थे। रघुवंश के प्ररम्भ मे रघुवंशीय राजाओ के चारिश्र्योत्कर्ष का विवरण इसका साक्षी है।[4] दिलीप

---

१. रघुवंश ३।३४। २. वही, १।१३-१४। ३. रघुवंश १।१५।
४. वही, १५-९।

के विषय मे तो स्पष्ट ही कवि ने लिखा—'अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषणः।' कालिदास के राम भी—'धर्मार्थकामेषु समा प्रपेदे तथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्-' (रघु० १४।२)।

प्रारम्भ मे कवि ने जोवन को यौवन की चंचल आखो से देखा था। उसकी दृष्टि मे वासना की लोलुपता थी—पृथुजघनभारार्त्ता, आनम्रमध्या तथा स्तनभार से मन्द-मन्द चलती हुई[1] तरुणिया उसके मन को मोह लेती थी। सम्भव है अपने यौवन की चंचल मादकता के इन दिनो में कवि ने दुष्यन्त की भाँति किसी शकुन्तला के सुकुमार अकलुष हृदय की प्रतारणा की हो। इसके बाद ही जैसे कवि के जीवन मे मोड आया। एक ओर वह जीवन की क्षणभंगुरता से विषादग्रस्त हुआ तो दूसरी ओर जीवन के उच्चतर मूल्यो ने उसे आकर्षित किया। तब विनाशधर्मा विषयों से निःस्पृहता और भोगतृष्णा से नही, अपितु कर्त्तव्य भावना से संसारिक ऐश्वर्य और दायित्वो के बीच रहने का आदर्श कवि की चेतना पर छाने लगा। वह रति और निर्वेद, शृंगार और शान्त, भक्ति और वैराग्य—इन सब द्वन्द्वो के बीच अपने जीवन में तालमेल बैठाने मे समर्थ हुआ।

कालिदास का जीवन-दर्शन यह है कि जीवन की सहज प्रवृत्तियो का दमन नही करता है, अपितु उनके और उच्च प्रवृत्तियो के बीच तालमेल बैठाते हुए उनको ऊर्ध्वमुख और परिष्कृत बनाता है। इस बोध के साथ कालिदास मे मर्यादा और शील की भावना जागती है। ऋतुसंहार के जिस कवि को उद्दाम वासना ने अभिभूत कर दिया था, वही कुमारसम्भव मे आकर संयत हो गया है। वह वसन्त ऋतु की मादकता मे अपना प्रभाव फैलाते हुए काम को एक क्षण में भस्म कराने मे और शंकर की ओर तिरछी चितवन से देखती हुई पार्वती की आकांक्षाओ पर निर्ममतापूर्वक तुषारपात करने मे कालिदास एक क्षण के लिये भी नही हिचकता और कोई कवि होता तो इतनी बड़ी दुःखान्तिका पर जार-जार आँसू बहाता, पर कालिदास ने पार्वती के लिये संवेदना का एक शब्द भी नही कहा—चुपचाप उसे तप करने मे लगा दिया। आगे चल कर दुष्यन्त के कामुकतापूर्ण प्रेम और शकुन्तला के मुग्ध व्यामोह के जाल को दुर्वासा के शाप से कालिदास ने एक क्षण मे छिन्न-भिन्न कर दिया है अग्निवर्ण के प्रणयविकास का नग्न चित्र अंकित करने के बाद कवि ने कितने साहस, निर्ममता और ईमानदारी के साथ कह दिया है कि अग्निमित्र क्षयरोग से मर गया। ऐसे कवि के ऊपर यह लांछन लगाना कि अग्निवर्ण के ऐन्द्रियविलास का वर्णन—'कवि की रुझान की अस्वस्थ दिशा की ओर संकेत देता है। अग्निवर्ण की विलासिता मे वे अपनी विलासिता को छिपाने का प्रयत्न कर रहे है।'[2] कालिदास को पूरी तरह से न समझ पाने के कारण है।

---

१. ऋतुसंहार, ५।१४। २. काशीनाथ द्विवेदी—अभिज्ञानशाकुन्तल : एक अध्ययन, पृ० ५२।

जीवन की विषमताओ और विकृतियो के बीच कवि का राग और आनन्द बना रहा। चाहे कितनी ही विभीषण दु:खान्तिका क्यो न हो, कालिदास उसके बीच निर्लिप्त और सानन्द बना रहता है। वैभव और विलास के सामन्तीय वातावरण के भीतर अनुस्यूत विडम्बना और दु:स्थिति को कवि ने देखा और भोगा था। कालिदास ने न जाने कितने सकृत्कृत प्रणया हंसपदिकाओ, धारणियो, ईर्ष्या की आग मे झुलसती हुई इरावतियो की वेदना को जाना था। उन्होने जनसामान्य को सामन्तवादी राजपदाधिकारियो से सन्त्रस्त और सताया जाते देखा था, शाकुन्तल के षष्ठाक मे मछुहारे के साथ राजश्याल आदि का संवाद इसका साक्षी है पर अपने युग की समस्त विभीषिका और विकृति के बीच कालिदास निर्लिप्त और निर्द्वन्द्व बने रहे। वे विक्रमोर्वशीयम् के अपने उस विदूषक की भाँति है, जो अपने हृदय पर पत्थर रखकर पति को अन्य स्त्री से प्रेम करने की छूट देकर धार्मिक व्रत मे अपने आपको भुलाने की चेष्टा करती रानी पर फब्ती कसता है–'रानी जी का यह व्रत वैसा ही है जैसे काँटे मे से मछली के छूट कर निकल जाने पर मछुहारा कहे–जाओ, मैने छोडा, मेरा धर्म होगा।' पर कालिदास अपने परिवेश से तटस्थ होकर सौन्दर्य और प्रेम के किसी अपने ही काल्पनिक लोक मे खोये रहते हो, ऐसा नही था। उन्होने अपने अपने समय के राजनीतिक और सामाजिक यथार्थ को देखा था, देखा ही नही, सम्भवत: पूरी तरह से भोगा भी था और उसने कवि के संवेदन को झकझोरा भी था। पर वह अपने युग के कठोर यथार्थ के बोच रहकर भी अविचलित और नि:संग बना रहा—वह उसकी भयावहता से भाग कर सौन्दर्य के किसी छायावादी लोक मे नही जा छिपा वरन् उसे भोगते हुए भी वह उसके थपेडो को सहता रहा, भवभूति की भाँति क्रुद्ध नही हुआ और न आज के बीसवी शती के कवि की भाँति उसने आक्रोश और कुण्ठा का राग ही अलापा। उसके नि.सग और उदार हृदय ने उन सभी चोटो को सह लिया, जो समाज की विकृत परम्पराओ ने उसे दी थी। तभी तो रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी कविता मे कालिदास से पूछा—"हे अमर कवि कालिदास, क्या तुम्हारे सुख दुख और आशा-निराशा के द्वद्व हम लोगो की भाँति नही थे। क्या तुम्हारे समय मे राजनीतिक षड्यन्त्रो और गुप्त आघात-प्रतिघात का चक्र प्रायश. नही चलता रहता था? क्या तुम्हे हम लोगो की भाँति अपमान, अन्याय और अनादर नही सहना पड़ा? क्या तुम यथार्थ जीवन के क्रूर कठोर अभावो से पीडित नही रहे? और क्या तुम्हे उस पीडा के करण निद्रा-रहित राते नही बितानी पडी? तुम्हे भी जीवन के कठोर यथार्थ के अनुभव अवश्य हुए होगे, किन्तु यह सब होने पर, उन सब के ऊपर तुम्हारा सौन्दर्य कमल आनन्द के सौन्दर्य की ओर उन्मुख होकर निर्लिप्त और निर्भय रूप मे खिला। उसमे कही दुख, दैन्य और दुर्दिन के अनुभवो का कोई चिह्न नही है। जीवन के मन्थन से उत्पन्न विष का तुमने स्वयं पान किया है और उस मन्थन के फलस्वरूप जो अमृत निकला, उसका हमको

दान कर गये हो।"[1]

कालिदास जीवन मे अनवरत विनोद, स्मित और विविध कलाओ के सौन्दर्य-विलास के बीच रहना चाहते थे, पर जीवन की वास्तविकता से भी वे भागना नही चाहते थे। यही नही, उनके बीच रह कर भी उनका सामना करते हुए भी, वे आनन्दमय रह सकते थे। 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणा विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः' कह कर कवि ने कितने भयावह यथार्थ को सहजता से स्वीकार कर लिया है। पर यही पर वह रुक नही जाता। उस यथार्थ को स्वीकार कर लेने के बाद कवि के लिये जीवन अर्थहीन नही बन जाता। तभी तो वह आगे कहता है—'क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन् यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।' (रघु० ८।८७) कालिदास का यह क्षणवाद—एक-एक क्षण को आनन्दपूर्वक जी लेने की लालसा—भूत और भविष्य की चिन्ताओ को छोडकर जीवन मे पलायन से उत्पन्न नही हुआ था—बल्कि जीवन के समग्र यथार्थ के बीच साहसपूर्वक रहने को एक कविदृष्टि थी। उनकी सौन्दर्यचेतना मे ऐन्द्रियप्रवृत्ति का अतिशय सम्मिश्रण है, पर जो वस्तु कालिदास को सभी परवर्ती कवियो से पृथक् कर देती है–वह उनकी उदात्तता और निःसंगता है—ऐन्द्रियप्रवृत्ति के प्रभाव से अछूते न रह कर भी, उसे स्वीकार करके भी–कालिदास ने उसी मे इति नही मानी और न उसके समक्ष घुटने ही टेके।

कालिदास की दृष्टि सीमित क्षेत्र मे विचरण नही करती थी। उसने जीवन को व्यापक परिप्रेक्ष्य मे और विभिन्न सन्दर्भो मे देखा-परखा था। प्रारम्भ मे कवि की चेतना पर भोगवाद छाया हुआ था। मालविकाग्निमित्र की रचना तक व्यामोह पूर्णतः टूट नही पाया। मालविकाग्निमित्र के भरतवाक्य मे कवि की भौतिकवादी दृष्टि ही प्रतिबिम्बित है। पर उसके बाद कवि की दृष्टि व्यापक बनती है और उसके समक्ष जीवन के नये आयाम उद्घाटित होते है। विक्रमोर्वशीय के भरतवाक्य मे कवि श्री के साथ सरस्वती के समागम की भी अभिलाषा करता है। धीरे-धीरे कवि भौतिक द्वन्द्वो के बीच उन्मुक्त होकर जीना सीखता है और अन्त मे जाकर उसकी यही अभिलाषा हो जाती है–

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

—अभिज्ञानशाकुन्तल भरतवाक्य।

कवि की यह अभिलाषा जीवन को उसकी समग्रता मे जी लेने के बाद उपजी है। यह भर्तृहरि का श्मशान वैराग्य नही, यह श्रेय और प्रेय के सार्थक समन्वय को जीवन में उतारने वाले कवि की वाणी है। कालिदास प्रवृत्ति के दुरन्त दावानल से भागकर निवृत्ति की शून्य स्थली मे शरण नही लेते, अपितु उन्होने प्रवृत्ति और निवृत्ति, योग और भोग मे समन्वय स्थापित किया है।

---

१. प्राचीन साहित्य पृ० १७१।

रुचि

संगीत, कला, काव्य-नाटक आदि मे कवि कालिदास की अतिशय रुचि थी। मालविकाग्निमित्र मे गणदास के कथन–(१।४) से प्रतीत होता है कि नाटक के अभिनय करवाने मे भी कामिदास रुचि लेते रहे होगे। संगीत और चित्रकला का महाकवि ने अनेकशः अपने काव्यो मे उल्लेख किया है। सम्भव है वे स्वयं अच्छे गायक तथा चित्रकार रहे हो। काव्य के पाठ से कालिदास को अनुराग था। अपने पूर्ववर्त्ती साहित्यकारो मे उन्हे भास और वाल्मीकि विशेष प्रिय थे। वाल्मीकि तो जैसे कवि के रोम-रोम मे बस गये थे।

कविता मे शृंगार, सुकुमारता, तथा मृदुल भावो के प्रति कालिदास का झुकाव था। भवभूति की भाँति कवि को जीवन के दारूण और दुःखान्त पक्षो ने इतना अभिभूत नही किया। जीवन मे सम्भवतः उसने भी अनेको सघर्षो का सामना किया था, पर उसका आनन्दमय चेतना ने उसे लालित्य और मार्दव के प्रपि उन्मुख बनाये रखा।

स्वभाव

रघुवंशी राजा अतिथि के विषय मे कवि के निम्नलिखित कथन मे—

प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम्।
मूर्त्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनाम् ॥—रघु० १७।३१

लगता है कवि की स्वयं की प्रकृति प्रतिबिम्बित हो उठी है (रघुवंश। १८।१३) में महाराज देवानीक की अजातशत्रुता और स्वभाव का माधुर्य कालिदास ने स्वयं भी अपनाया होगा। वे स्वभावतः विनयी तो थे ही।"[1] भवभूति या पण्डितराज जगन्नाथ की भाँति अपनी उपलब्धियो का बखान करना उन्हे नही आता था। अपने स्वभाव-माधुर्य के कारण कवि बडा ही मिलनसार और लोकप्रिय रहा होगा। वह मानव-मानव के बीच मधुर सम्बन्ध पनपाने पर बल देता है।'[2] भवभूति की भाँति उसकी प्रवृत्ति मे एकागिता और संकोचीपन नही है। अपनी मान्यताओ और आदर्शो के अनुरूप कवि परोपकारी, उदार, और त्यागी भी रहा होगा।

अपने सरल, मधुर और निश्छल स्वभाव के कारण कवि को प्रकृति से प्रेम था। जहाँ कही प्रकृति का उल्लेख आता है, वहाँ जैसे कवि की लेखनी थम जाती है और वह स्वयं उसकी कुमारता और सौन्दर्य मे तल्लीन हो जाता है। ठीक उसी प्रकार

---

१. द्रष्टव्य रघुवंश १।२–४।

२. यतः सता सन्नतगात्रि संगतं मनीषिभिः साप्तपदीनमुच्यते।—कुमारसम्भव ५।३९; सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः—रघुवंश २।५८

जैसे रघुवश मे वशिष्ठ के आश्रम की ओर अग्रसर होते हुए रथारूढ दिलीप और सुदक्षिणा साल के गौद की गध मे बसे हुए, फूलो के पराग को उडाने वाले तथा वृक्षो की पातो को कपित करने वाले पवन, मेघगर्जन के भ्रम से कूजते हुए मोर और रथ की ओर एकटक देखते हुए हरिणो के जोडे पर मुग्ध हो कर सब कुछ भूल जाते है। सस्कृत के किसी कवि को हरिणो से इतना प्रेम नही है, जितना कालिदास को। कारण यही है कि कालिदास स्वय उतने ही सरल और निश्छल प्रकृति के है जितने कि निसर्गपुत्र हरिण। हरिण का कोई प्रसग आते ही कवि का हृदय मानो उसके भोलेपन पर उमड पडता है।[1] कालिदास के वात्सल्यमय हृदय मे शिशुओ के लिये भी उतना ही आकर्षण था। शाकुन्तल मे नाटकीय शिल्प को भूल कर भरत की बाल्य चेष्टाओ पर मुग्ध होकर कवि दुष्यन्त के मुख से ५ श्लोको मे उसका वर्णन कराता है। दुष्यन्त की ही तरह अनिमित्त हास से अलक्षित होने वाले दन्तमुकुलो से युक्त तुतलाते हुए शिशुओ को देख कर कालिदास का हृदय भी उन्हे गोद मे लेने के लिये हुमग उठता होगा।[2] रघुवश मे शिशु राजा सुदर्शन का प्रसग आते ही कवि की लेखनी थम गई। सुदर्शन का १३ श्लोको मे जो वर्णन कालिदास ने किया, उसमे उनका वात्सल्यमय स्वभाव टपका पडता है।[3] रघुवश के तृतीय सर्ग मे रघु, पचम मे अज, तथा अष्टम मे दशरथ और दशम मे रामादि के जन्म के प्रसगो मे भी कवि की यही प्रकृति प्रकट हुई है। विक्रमोर्वशीय मे आयुष् कुमार का प्रसग आते ही कवि का हृदय फिर वात्सल्य से परिपूरित हो उठता है। उस समय पुरूरवा, उर्वशी और आयुष् तीनो के हृदय मे जो भावना उच्छलित होने लगती है, वह निश्चय ही कालिदास के अन्तस्तल से उठी हुई है। आयुष् के वचनो और उसकी बाल चेष्टाओ के चित्रण में कवि स्वयं रोमाचित और तल्लीन सा लगता है।[4]

शृगार, प्रेम और वात्सल्य के साथ कवि कालिदास के स्वभाव की दूसरी बडी विशेषता उनकी विनोदप्रियता है। उनका हास्य-सयम, सन्तुलन और सुरुचि की सुगन्ध से सुवासित है। चाहे अनसूया की मधुर व्यग्यमय उक्तियाँ हो, चाहे विदूषक का हास्यरस प्रवाहित करने वाली या पैना व्यगप्रहार करने वाली वाणी—सभी मे कालिदास के शिष्ट हास्य की प्रवृत्ति परिव्याप्त है।

---

१. रघुवश १।५०–५२, ९।५६–५८, शाकुन्तल ४।१२, १४।
२. अभिज्ञाशाकुन्तल, ७।१७।
३. रघुवश १८।३७–५०।
४. विक्रमोर्वशीय ५।९–१४।

बौद्धिक व्यक्तित्व

कालिदास ने अपने युग के परम्परागत शास्त्रो और विज्ञानो का अध्ययन किया था, पर उनका अध्ययन और पाण्डित्य उनकी कवि चेतना पर कभी हावी नही हुआ। वह हल्के-फुल्के वस्त्रो की तरह कभी भी उतारा और पहना जा सकता था, भारी भरकम राजसी पोशाक की तरह वह नही था, जिसे पहनने मे आयास करना पडे।

कालिदास ने नाट्यशास्त्र,[१] चिकित्सा,[२] दर्शन,[३] व्याकरण,[४] पुराणोतिहास, ज्योतिष,[५] गान्धर्व,[६] आदि का भलीभाँति अध्ययन किया था। मानवमनोविज्ञान मे तो वे पारगत थे ही। राजनीतिशास्त्र मे उनकी व्यावहारिक दृष्टि से गहरी पैठ थी। रघुवश का १७वाँ सर्ग इसका प्रमाण है। इस देश के भूगोल का कालिदास ने (सम्भवत स्वय के पर्यटन से) अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था।

बौद्धिक दृष्टि से कालिदास के व्यक्तित्व का सबमे महत्वपूर्ण पक्ष उनका सूक्ष्म पर्यवेक्षण है। समाज, प्रकृति, मानव आदि के विभिन्न परिस्थितियो मे व्यवहार का अत्यन्त ही सूक्ष्म ज्ञान कवि ने अपने परिवेश के अवलोकन से प्राप्त किया था। नारियो के सौन्दर्य-प्रसाधन,[७] पशुपक्षियो की विविध चेष्टाएँ,[८] प्रकृति के विभिन्न दृश्य[९] इन सबको सूक्ष्म और विशद अकन से महाकवि की पर्यवेक्षण-शक्ति की गहराई का द्योतक है।

काव्य-प्रतिभा

कालिदास की कल्पना अतिशय समृद्ध और सौन्दर्यमयी है। वर्ण्य के स्वरूप को अपनी समग्र विशेषता के साथ साकार करा देने की सामर्थ्य उसमे भरपूर है। परवर्ती कवियो का अतिशयोक्ति और फूहडपन से वह रहित है। कालिदास की कल्पना बहुत थोडे मे बिम्बो के द्वारा न जाने कितनी बाते कही जाती है। रघुवश मे स्वयवर मे इन्दुमती को सचारिणी दीपशिखा के समान और राजाओ को नरेन्द्रमार्गाट्ट कहकर कवि ने सारी परिस्थिति का एक विशद चित्र तो अकित कर ही दिया, इसके अतिरिक्त भी न जाने कितने भाव उसमे भर दिये। क्रमश होश मे आती हुई उर्वशी कवि को चन्द्र के

---

१. रघुवश १०।३६, कुमारसम्भव ७।९१। २ मालबिकाग्निमित्र ४।४।

३ कुमारसम्भव २।१३–२७। ४. कुमारसम्भव २।४८, रघुवंश ३।२१।

५ कुमारसम्भव ३।४३, ७।१, ७।६ रघुवश ३।१३, १४।४०।

६. रघुवश १।२९।

७. कुमारसभव ७।८–२५, ऋतुसंहार ४।१५–१७, ५।८–९, ६।५–८।

८. रघुवंश १।५०–५२, ९।५६–५८। ९ शाकुन्तल १।१४–१५।

उदित होने पर तम से मुक्त होती हुई रात्रि, सायकालीन छिन्नभूयिष्ठधूमा अग्नि-शिखा के समान तथा तट पर बहने से मलिन किन्तु निर्मल होती गगा के समान लगती है (विक्रमोर्वशीय, १।७) । तीनो उपमाएँ एक के बाद एक रखी जाकर इस बात को द्योतित करती है कि उर्वशी क्रमश चैतन्यलाभ कर रही है ।

कालिदास की कल्पना प्राय प्रकृति से, खेतखलिहानो मे, और गाँवो से बडी ही सटीक उपमाएँ या सुन्दर बिम्ब खोज लाती है । दशरथ को श्रवणकुमार के पिता से शाप मिला है कि तुम पुत्र वियोग मे मरोगे । पुत्र-विहीन दशरथ को वह शाप अनुग्रह के समान लगा, क्योकि अग्नि पृथ्वी को भले ही जला दे पर उसमे उत्पादन शक्ति का आविर्भाव करती है (रघुवश ९।८०) । कैकेयी ने दशरथ से दो वर माँगे, जैसे वर्षा मे भीगी हुई पृथ्वी के छेदो मे से दो सर्प निकल पडे हो (रघुवश १२।५) । चन्द्रमा की निखरती हुई नयी किरणे नये और कोमल जो के अँखुओ के समान कोमल है, पार्वती चाहे तो कर्णफूल बनाने के लिये उन्हे अपने नखो की नोक से तोड सकती है (कुमारसम्भव ८।६२) । जिस कवि को कल्पना खेतखलिहानो मे चक्कर ही नही काटती, अपितु उनमे बसी और रमी हुई है, वही चन्द्रमा की शुभ्रधवल किरणो को जो के अंखुओं से उपमा दे सकता है ।

वैदिक कवियो की कल्पना प्राय उसी जगत मे घूमती है, जिसमे कि वे न रहते है । वाल्मीकि की कल्पना भी प्रकृति, वन और नगरो की परिधि के बाहर नही निकलती । कालिदास की कल्पना औचित्यपूर्ण बिम्बो या कथाशों की सृष्टि के लिये पाताल से लेकर स्वर्ग तक का चक्कर काट सकती है, फिर भी वाल्मीकि की भाँति औचित्य कभी उसका साथ नही छोडता । परवर्ती कवियो मे कल्पना परिधिहीन किसी जगत् मे उडती हुई, सन्तुलन और समजन खो बैठती है, जब कि कालिदास मे ऐसा कही भी नही होता । नाटकीय घटनाओ के शिल्पविन्यास मे, प्रकृति या वस्तु के चित्रण मे या भावोद्बोधन मे सर्वत्र उनकी कल्पना उपयुक्त है ।

कालिदास की कल्पना यथार्थ, आदर्श, अतिरजित और मानवीकरणात्मक सभी रूपों में अत्यन्त ही भव्य परिधान से अलकृत हो कर मजधज के साथ आती है । दिलीप और रघुवशी राजाओ के वर्णन मे कवि ने आदर्शो की गगन-चुम्बी अट्टालिका खडी कर दी है । अग्निवर्ण और अग्निमित्र के चित्र यथार्थ के गहरे और चटकीले रंगो से अकित है । दुष्यन्त की कामुकता और तीनो नाटको मे अन्त पुर की महिलाओ की दु स्थिति आदि के यथार्थ चित्रो मे कवि की नि स्पृह सच्चाई ने आकर्षण उत्पन्न कर दिया है । कालिदास की कल्पना मे जहाँ कही अतिरजन है, वहाँ वह अपनी प्रतीकात्मकता और व्यजना के कारण अस्वाभाविक और अनुचित नही लगती, प्रत्युत विषय को एक नया

अर्थ देती है। दुष्यन्त और शकुन्तला का स्वर्ग और पृथ्वी के सीमा क्षेत्र—मारीच के आश्रम मे मिलन, शकुन्तला की दिव्य उत्पत्ति आदि कुछ ऐसी घटनाएँ है, जिन्होंने शाकुन्तल के कथानक को नये अर्थो से जोड दिया है।

कालिदास की कल्पना का भव्यतम रूप मानवीकरण मे मिलता है, जिसका कुछ विवरण सवेदना-पक्ष पर चर्चा करते समय हमने दिया है। शाकुन्तल के चतुर्थ अक, सीतापरित्याग आदि कुछ कथाशो मे जहाँ कवि की कल्पना मे प्रकृति को भावुकता, सौहाद और स्नेह की तरलता मे डुबो दिया है, वहाँ अन्य स्थानो पर उसे शृगार की भावनाओ के द्वारा भी सजीव बनाया है। मेघदूत मे नदियाँ मानिनी नायिकाओ की भाति भौहे तान लेती है और तटरूपी नितम्बो से जलरूपी वस्त्र को खिसकने देती है। अलका कवि को हिमालय की गोद मे बैठी हुई प्रणयिनी की भाँति लगती है, जिसके शरीर से गगा रूपी दुकूल खिसक गया है। प्रकृति को मानवीय भावनाओ के रगो मे रग कर आकर्षक रूप मे प्रस्तुत करने मे कालिदास की कल्पना सर्वाधिक सफल हुई है।

संवेदना

भवभूति की भाँति कालिदास भावना के प्रवाह मे डूबते उतराते नही, वे तो निःस्पृह होकर उसका उतार-चढाव देखते रहते है। जैसे सागर के तट पर खडा मनुष्य सागर की लहरो के उतार-चढ़ाव को देखता रहता है। सागर तट पर अवस्थित मनुष्य की भाँति कालिदास भावतरगो के उद्दाम प्रवाह से आर्द्र भले ही हो उठे, पर वे स्वय उसमे अवगाहन नही करते। अपनी इस नि सगता के कारण कालिदास सृजन के क्षणो मे उस मनोदशा मे ही रहा करते है, जहाँ से विशुद्ध कला का सर्जन होता है। भवभूति की भाँति हम उनके काव्य मे भावो का उफान भले ही न पाये परन्तु उनमे प्रशान्त गम्भीर आनन्द सर्वत्र है।

कवि को मानव-जीवन से गहरा लगाव था और समस्त विश्व के साथ सच्ची सहानुभूति। उनकी सवेदना गहन और व्यापक थी, जिसके कारण वह मानवमात्र की भावनाओ को सचाई से समझ सका। शाकुन्तल मे पुत्री से बिछुडते हुए कण्व की व्यथा को कालिदास ने कितनी सहजता के साथ मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। अनुसूया और प्रियवदा का दु ख कुछ ही वाक्यो मे प्रकट होकर भी उनके सौहार्दमय हृदय को सच्ची झाँकी प्रस्तुत करता है। मेघदूत मे विरही यक्ष और यक्षिणी के चित्रो को कवि का सवेदना ने इतना मार्मिक बनाया है।

कालिदास की सवेदना मानव के ही नही, अपितु चराचर जगत के लिये परिव्यास

थी। उनकी निसर्गकन्या शकुन्तला के पशुपक्षियो और वृक्ष-लताओ गहरे लगाव का ही कारण है। रघुवश मे दशरथ के मृगया का प्रसग उादहरणी है। दशरथ मृगया करते समय मृग पर बाण छोडने ही वाले है कि उस मृग की सहचरी मृगी अपने प्रिय को बचाने के लिये उसे आड मे करके स्वयं दशरथ के सामने आ जाती है। यह देखकर दशरथ का हृदय द्रवित हो उठता है और वे अपना बाण वापस ले लेते हैं—

लक्ष्यीकृतस्य हरिणस्य हरिप्रभावः प्रेक्ष्य स्थिता सहचरी व्यवधाय देहम्।
आकर्णकृष्टमपि कामितया स धन्वी बाणं कृपामृदुमनाः प्रतिसंजहार॥
रघुवश ९।५७

दिलीप के अपनी गाय की रक्षा के लिये प्राणार्पण करने के लिये उद्यत होने के पीछे उनकी कर्त्तव्य-भावना के अतिरिक्त मानवीय संवेदना भी एक प्रेरक है। इसलिए नन्दिनी पर आक्रमण करने को उत्सुक सिंह से वे कहते हैं—"दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यता धेनुरियं महर्षे" (रघुवश २।४५)—साँझ का समय हो गय है; इसका बछडा इसके लिए उत्सुक हो रहा होगा। तुम मुझे मार कर अपनी भूख शान्त करो और गाय को छोड दो। वे सिंह के बहुत समझाने पर भी अपने इस निश्चय पर अटल हैं क्योकि गाय बार-बार अपनी कातर आँखो से देखकर उनकी संवेदना जगा रही है (धेन्वा तदध्यासितकातराक्ष्या निरक्षमाण सुतरा दयालुः—रघुवंश २।५५) अपनी सम्वेदनशीलता के कारण कवि को वस्तु उदार, स्नेहमयी और त्याग और समर्पण लेने के लिए उत्सुक प्रतीत हुई। शकुन्तला की विदाई का दृश्य है। इस समय पशु भी अपनी सवेदनशक्ति से अपनी प्रिय सहचरी के भावी वियोग को जानकर व्यथित हो गये है मृगियो ने अपने मुख मे लिए हुए घास को उगल दिया है, मयूरियो ने नृत्य बन्द कर दिया है, पीले और सूखे पत्तो के बहाने मानो लताएँ आँसू बहा रही है।[1] यही स्थिति रघुवश मे राम के द्वारा सीता को निर्वासित कर दिए जाने पर भी हो गयी है।

नृत्यं मयूरा कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।
तस्या प्रपन्ने समदुःखभावं अत्यन्तमासीद्रुदितं वनेऽपि॥ रघुवश १४ ६९

कालीदास के काव्य मे प्रकृति इतनी सहानुभूतिमय बन गयी है कि रावण के द्वारा अपहृत सीता के वियोग मे राम को दुखी देखकर बोलने मे असमर्थ गूँगी लताएँ अपनी शाखाओ को हिला-हिला कर ही सीता के अपहरण का मार्ग बताने लगती हैं

१. अभिज्ञानशाकुन्तल ४।१४

और मृगियाँ भी घास छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर अपने बडे-बडे नेत्रो से संकेत करती है।[1]

केवल मृगियाँ और लताएँ ही नही, स्वयं भागीरथी गगा भी कवि को दयार्द्र और स्नेहमय प्रतीत होती है। लक्ष्मण जब सीता को वन मे छोडने जा रहे है तो गगा मानों अपने लहरो रूपी हाथो को उठा-उठा कर उन्हे रोक रही है—

अवार्यतेवोत्थितवीचिहस्तैर्जह्नोर्दुहित्रा स्थितया पुरस्तात्।

मेघदूत मे मेघ पर करुणा और स्नेह जैसी भावनाओ का आरोपण भी कालिदास की सवेदना की देन है।

सौन्दर्यबोध

कालिदास सौन्दर्य के कवि है और उनकी अवचेतना मे सौन्दर्य-सम्बन्धी धारणा अत्यन्त ही व्यापक है, जो जीवन को विस्तृत और उच्च धरातल पर देखती है। सौन्दर्य के प्रति कवि का उत्कट आकर्षण है और उसका सौन्दर्यबोध आनन्द की भावना से सवलित है। जिस प्रकार रामायण और महाभारत मे एक सर्वातिशायी बौद्धिक आवेग अथवा नैतिक या अनैतिक उत्तेजन की गत्यात्मक शक्ति उनके पात्रो को अप्रमाणित करती रहती है, उसी प्रकार कालिदास के काव्यो मे एक उत्कट आनन्दवादी भावना वाणी एव व्यापार को स्पन्दित अथवा उन्मेषित करती रही है।[2]

कवि के सौन्दर्यबोध मे मार्दव तथा कोमलता के लिए विशेष स्थान है। भवभूति की भाँति भयानक दृश्यो मे निहित सौन्दर्य के प्रति कालिदास की रुझान नही है। कवि जब हिमालय का वर्णन करने लगता है, तो वह उसके सुन्दर-सुन्दर दृश्यो को टुकडे-टुकड़े करके सामने रखता जाता है, सम्पूर्ण हिमालय के विराट् विभीषिकामय सत्रस्त-सा कर देने वाले सौन्दर्य पर कवि की दृष्टि जाती नही। भवभूति ने जिस प्रकार दण्डकारण्य के निबिड़ भयावह सौन्दर्य को अनावृत किया ह, उस प्रकार हिमालय के उस सौन्दर्य को कालिदास चित्रित नही कर सके। कालिदास की सौन्दर्य-चेतना मे मार्दव और सुकुमारता के लिए आग्रह सदैव ही बना रहता है, जो कभी-कभी खटकता भी है।

कवि को मानवीय सौन्दर्य की अपेक्षा प्रकृति का सहज अकृत्रिम सौन्दर्य अधिक अच्छा लगता था। सहज रूप से सुन्दर वस्तु किसी बाह्य अलकरण की अपेक्षा नही रखती—यह कवि का अभिमत था (किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम्—शाकुन्तल

१. रघुवश १३।२४–२५।

२. Kālidāsa—Aurobindo, p. 22.

२।१०)। कालिदास को निसर्गकन्या शकुन्तला वन के पत्र-पुष्पो से ही अतिशय सुन्दर दिखाई दी। दुष्यन्त को अपने द्वारा बनाया हुआ शकुन्तला का चित्र भी आश्रम के नैसर्गिक दृश्यपट को अंकित किये बिना अपूर्ण-सा लगा। दुष्यन्त की भाँति कालिदास के लिए भी मालिनी नदी, उसके रेतीले तट पर बैठे हुए हंस-मिथुन, हिमालय की विराट् चोटियाँ, और शाखालम्बितवल्कल वृक्ष के नीचे कृष्णमृग की आँखो को सीग से खुजलाती हुई मृगी—इन सबके बिना शकुन्तला की परिकल्पना अधूरी थी।

ऋतुसहार, मेघदूत और कुमारसम्भव का सृजनपथ तय करने के बाद कालिदास कवि-चेतना के उस स्तर तक पहुँच चुके थे, जहाँ से इन्हे हर वस्तु स्नेहमय, सौहार्दमय, आनन्दमय तथा सौन्दर्यमय लगती थी। जिस किसी भी वस्तु को महाकवि की लेखनी ने छुआ, वही शतगुणित सौन्दर्य से मण्डित हो गयी। कालिदास की कविदृष्टि ने अन्तर्जगत् मे विद्यमान अपने सौन्दर्य से बाह्य जगत को अभिषिंचित किया। उसकी दृष्टि मे पार्वती को विधाता ने घनीभूत सौन्दर्य को देखने की इच्छा से सभी उपमानो के यथ-स्थान सन्निवेश से बनाया था।[1] यौवन के आगमन पर पार्वती का शरीर उसी प्रकार खिल उठा, जैसे रेखाओ से बनाये हुए किसी खाके मे कुशल चित्रकार ने रग भर दिये हो या सूर्य-रश्मियो का स्पर्श पाकर कमल खिल उठा हो।[2] इसीलिए श्री अरविन्द ने भी कहा है—"उनकी (कालिदास की) काव्य दृष्टि रूप, शब्द, रस, प्राण और स्पर्श, स्वाद, एव कल्पना के ताने-बाने से बनी हुई है। इसमे उन्होने भाव तथा बौद्धिक अथवा रसात्मक आदर्श के अत्यन्त मनोज्ञ कुसुम उगा दिये है। उनकी काव्यजगत् सुन्दर वस्तुओ का एक विशाल स्वर्ग है। उनमे सभी के ऊपर पार्थिव प्रेम के केवल एक अधिनियम का शासन है। नैतिकता रस से आर्द्र बना दी गयी है, बुद्धि सौन्दर्य भावना मे ओतप्रोत एव शासित हो गयी है और फिर भी यह कविता मन के दुबल द्रव मे सन्तरण नही करती, ऐन्द्रिय विवशता मे घुलमिल कर अपनी सत्ता का विलय नही कर देती। इन्द्रियो की सामान्य कविता के समान, अपने ही माधुर्य से छक कर यह कविताकामिनी निद्रालस पलको और घुँघराले केशो के भार से बोझिल नही है। कालिदास अपनी शैली के परिमार्जन, पदावली की सटीकता एव शक्तिमत्ता तथा अपनी सतर्क कलात्मक जागरूकता के कारण इस दुर्बलता से बच गये है।"

उपसहार

कालिदास एक परम्परावादी कवि है, पर उन्होने परम्परा को अपने आप पर लादा

---

१ कुमारसम्भव १।४९।

२. वही, १।३०।

नही, अपितु उन्हे अपनी उन्मुक्त कविचेतना के आलोक मे नये प्रकाश से प्रोद्भासित किया है। उनकी कविदृष्टि बहुत व्यापक और उदार है। वह अपने भीतर विभिन्न प्रस्थानो का, विभिन्न धाराओ का समाहार और समजन करती चलती है। वाल्मीकि की भाँति वे निसर्ग के बीच कविता करने वाले सन्त नही है, पर उनमे वाल्मीकि के आर्ष-सस्कार और निसर्ग को उन्मीलित करने वाली दृष्टि मौजूद है। व्यास की भाँति अनासक्त दार्शनिक भी कालिदास नही, पर उनमे वह नि सगता है जो उदात्त काव्य के सृजन की भूमिका निर्माण करती है। माघ और भारवि की भाँति ही कालिदास भी अभिजात और नागरिक वर्ग के कवि है, पर वे अपनी उदात्त और स्वतत्र कविचेतना के द्वारा सामन्तीय सस्कृति के छिछले वातावरण और तज्जन्य बुराइयो से उबर गये है।

द्वितीय खण्ड

मध्ययुग के कवि

●

प्रथम अध्याय

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

अशोक की मृत्यु के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत पर बैक्ट्रियन, हूण, शक आदि जातियों के आक्रमण होते रहे। चौथी शती मे उत्तर भारत मे गुप्त साम्राज्य की स्थापना हुई, जिससे वैदेशिको से आक्रान्त भारत धरा ने एक बार चैन की साँस ली। किन्तु छठी शती मे मिहिरकुल ने गुप्त साम्राज्य को छिन्नभिन्न कर दिया। छठी शती मे गुप्त साम्राज्य का क्षय हुआ और बारहवी शती के अन्त तक उत्तरी भूभाग पर मुस्लिम आक्रान्ताओ का शासन स्थापित हो गया। सातवी से बारहवी शताब्दी तक के छः शताब्दियो के अन्तराल को भारतीय इतिहास का मध्ययुग कहा जा सकता है।

राजनीतिक दशा

मध्य युग मे राजनीतिक अस्थिरता प्राय बनी ही रही। गुप्त साम्राज्य कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के समय मे ही ढहने लगा था। स्कन्दगुप्त की शक्ति पुष्यमित्रो व हूणों को परास्त करने मे खर्च हुई। स्कन्दगुप्त के पश्चात् पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, बालादित्य प्रथम, कुमारगुप्त द्वितीय तथा बुधगुप्त ने एक बडे साम्राज्य पर शासन किया। बुधगुप्त के अधीन कम से कम बगाल से पूर्वी मालवा तक का प्रदेश था। उसकी मृत्यु के पश्चात् ५०० ई० के लगभग गुप्त साम्राज्य का ह्रास होना प्रारम्भ हुआ।[1]

हूणो ने ४८४ ई० मे ईरान को जीत लिया और काबुल के कुशान राज्य को नष्ट कर दिया। वहाँ से व भारत के मैदान मे घुस आये। उनके नेता तोरमाण ने ५०० ई० मे अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। किन्तु नरसिहगुप्त के पुत्र बालादित्य के प्रयत्न से वे मध्यभारत से निकाल दिये गये। तोरमाण की मृत्यु ५१२ ई० मे हुई। उसके पुत्र मिहिरकुल को यशोवमन् ने ५३३ ई० के पूर्व हराया।

मौखरिवश के लोग पहले यशोवमन् के अधीन थे बाद मे वे स्वतन्त्र हुए और ईशानवर्मन् के समय उत्तरी भारत के सम्राट् बन गये। यशोवर्मन् की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत का आधिपत्य मौखरियो के हाथ मे चला गया। इन्ही मौखरियो मे

---

१. हर्षवर्धन—गौरीशकर चटर्जी, पृ० २।

अवन्तिवर्मन् हुआ, जिसने पुष्यभूति वंश के राजाओ के साथ मैत्री की। अवन्तिवर्मन् के पश्चात् ग्रहवर्मान् सिंहासन पर बैठा, जिसका विवाह राज्यश्री से हुआ।

यशोवर्मन् तथा हर्ष जैसे शासको ने मध्ययुग मे राजनीतिक स्थिरता लाने का प्रयास किया। यशोवर्मन् ने मिहिरकुल के छक्के छुडा कर उत्तरी भारत को उसके क्रूर पजो से मुक्त कर दिया। पाँच शताब्दियो के लिए भारत वैदेशिकों के आक्रमण से मुक्त हो गया। परिणामस्वरूप सामाजिक स्तर पर एक शान्त और स्थिरता का वातावरण पनपा, जो कला और साहित्य के अभ्युदय के लिए परम उपयोगी था।

हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत अनेक छोटे-छोटे टुकडो मे बँट गया और प्रत्येक छोटा-मोटा राजा चक्रवर्ती बनने के स्वप्न देखने लगा। मध्ययुग की राजनीतिक दशा मे सबसे बडी विशेषता सामन्त व्यवस्था कही जा सकती है। एक राजा के अधीन कई सामन्त हुआ करते थे, जो राजा के निर्बल होते ही स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करते थे। इस प्रकार पारस्परिक कलह और फूट का वातावरण बनता था। राजनीतिक दृष्टि से इस समय गुजरात, राजस्थान और वलभी—ये तीन प्रमुख शक्तियाँ थी। वलभी के श्रीधरसेन के आश्रय मे सुप्रसिद्ध भट्टिकाव्य की रचना हुई। वलभी के राजाओ के राज्य मे ही भीनमाल था, जहाँ महाकवि माघ हुए।

धार्मिक दार्शनिक प्रवृत्तियाँ

राजनीतिक स्थिति मे इस परिवर्तन के साथ धार्मिक स्थिति भी परिवर्तित हुई। वैदिक देवता अपने प्राकृतिक रूप को छोडकर नये रूप मे ढल गये। वैदिक ऋषियो के स्थान पर समाज ने तपस्वी मुनियो को सम्मानित किया। वैदिक परम्परा मे यज्ञ का महत्व बढा पर उसके साथ ही यज्ञ के स्थान पर पूजा पाठ, जप, ध्यान, कीर्त्तन, श्रवण, तीर्थ यात्रा आदि के रूप मे जनसामान्य का एक लोकप्रिय धर्म भी विकसित हुआ। इस प्रकार धर्म जनता के अधिक निकट आया और उसके माध्यम स जनता मे एकता एव सद्भावना विकसित हुई। सबसे बडी बात तो यह हुई कि बौद्धधर्म के कारण जो निराशावाद तथा गृहस्थाश्रम को छोडकर भिक्षु या सन्यासी बन जाने की प्रवृत्ति फैली थी, वह क्षीण होने लगी और जनता मे हिन्दू धर्म के नये परिवर्तनो के साथ आशा और उत्साह का सचार हुआ, शुष्क मोक्षवाद के स्थान पर धर्म के साथ अर्थ और काम को भी स्थान मिला। धर्म ने सासारिक प्रवृत्ति को बहिष्कृत नही किया, इसलिए एक ओर जीवन मे पूजा-पाठ व भक्ति तथा दूसरी ओर ऐश्वर्य, भोग और वैभवविलास की धाराएँ समानान्तर बहती रही। ऐसी स्थिति का प्रभाव कवियो पर भी पडा और प्रेम ही काव्य का मुख्य विषय बन गया—वैदिक युग की वीरता का स्थान गौण हो गया।

देवताओं की पूजा भी युगल रूप मे होने लगी और ब्रह्मा जैसे अयुग्मचारी देवताओ की पूजा का प्रचार सम्भवत इसीलिए कम हो गया।

वैष्णव धर्म के पुराने रूप मे मध्य युग मे परिवर्तन हुआ। भागवत धर्म की सरल भक्ति आडम्बर युक्त हो गयी। मन्दिरो मे स्थापित मूर्तियो मे साज श्रृगार को बहुत अधिक महत्व दिया जाने लगा, और उपास्य देव को सतुष्ट करने के लिए नाचने और गाने की प्रथा भी शुरू हुई। पहले मन्दिरो मे स्थापित मूर्तियाँ उपलक्षण या प्रतीक मात्र ही थी, पर अब उन्हे जीवित जागृत देवता मानकर उनको स्नान, भोज, श्रृगार प्रसाधन आदि से सन्तुष्ट करने की परम्परा चल पडी। कृष्ण की विभिन्न लीलाओ व गोपियो के साथ उनकी क्रीडाओ तथा राधा के साथ उनके सबंधो को लेकर इसी युग मे कथाएँ प्रचलित हुई। भागवत पुराण (९-१०वी शती) मे वर्णित कृष्ण लीलाएँ महाभारत मे कृष्णोपाख्यान से बहुत भिन्न है।

बौद्ध और जैन धर्मो का इस युग मे ह्रास होता गया। ब्राह्मणो और बौद्धो के बीच वैमनस्य बढता गया, जिसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व हर्ष की धार्मिक नीति पर भी था। हर्ष के शासनकाल के प्रारम्भिक भाग मे तो श्रमण-ब्राह्मण दोनो सन्तुष्ट बने रहे। पर हर्ष द्वारा तटस्थता की बुद्धिमत्तापूर्ण नीति का परित्याग करके बौद्धधर्म के प्रति अत्यधिक पक्षपात करने से ब्राह्मणवर्ग असन्तुष्ट हो गया। कन्नौज की धार्मिक परिषद् मे हर्ष ने अपनी धर्मान्धता का खुल्लमखुल्ला प्रदर्शन किया। जब ब्राह्मणो ने उसकी हत्या का षड्यत्र किया तो हर्ष ने उन्हे न्याय के प्रतिकूल कठोर दण्ड दिया। इन सबका विपरीत प्रभाव पडा और बौद्धधर्म का प्रभाव घटता गया। अन्त मे कुमारिलभट्ट और शकराचार्य ने उसे प्राय विनष्ट ही कर दिया। यो बौद्धधर्म गुप्त-युग से ही पतन के गर्त मे डूबता चला जा रहा था। वज्रयान की गुह्य साधनाओ का प्रभाव इसमे बढ़ता जा रहा था, जिसके परिणाम-स्वरूप जनसामान्य की आस्था इससे हटती जा रही थी। दशकुमारचरित तथा मालतीमाधव मे हम बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियो को अनेक अनुचित कार्यो मे भाग लेते देखते है। हिन्दूधर्म मे भी वेतालसाधना, महा-मास-विक्रय तथा अन्य तान्त्रिक क्रियाओ का प्रचार बढ रहा था।[1]

वैष्णव सन्तो के भक्ति आन्दोलन तथा बौद्धधर्म दोनो को ही दो प्रबलविरोधियो का सामना करना पडा। कुमारिल भट्ट ने याज्ञिक कर्मकाण्ड का पक्ष प्रबलता के साथ प्रचारित किया। शकराचार्य ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य सत्ता माना। ब्रह्म और जीव मे अभेद है, अत भक्ति के लिए शकर

१. हर्ष चरित : एक सास्कृतिक अध्ययन पृ० ५६–५८।

के दर्शन मे कोई स्थान नही। पर शकराचार्य के पश्चात् रामानुज के विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क के द्वैताद्वैत और मध्व के द्वैत सिद्धान्तो ने ब्रह्म और जीव के भेद को स्वीकार कर भक्ति को मुक्ति के लिए अत्यन्त अनिवार्य साधन माना। रामानुज, निम्बार्क और मध्व के साथ ही रगनाथाचार्य (१०वी शती), पुण्डरीकाक्ष, यमुनाचार्य आदि आचार्यों ने दक्षिण मे भक्ति आन्दोलन को बहुत बढावा दिया।

हिन्दूधर्म समन्वय की दिशा मे अग्रसर हो रहा था। विभिन्न सम्प्रदायो के देवताओं को वैष्णव धर्म मे एक ही विष्णु का अवतार मान लिया गया। बुद्ध और महावीर को भी अवतार मान कर हिन्दूधर्म मे स्थान दिया गया।

सामाजिक स्थिति

समाज मे वर्णव्यवस्था के नियम कठोर और स्थिर कर दिये गये थे। रक्त की शुद्धता पर अत्यधिक बल दिया जाने लगा था। इन परिवर्तनो ने कवि के व्यक्तित्व और उसकी कृतियो को प्रभावित किया था। चातुवर्ण्य-व्यवस्था मे ब्राह्मणो को प्रधानता मिली थी, फिर भी ब्राह्मण आचरण की दृष्टि से गिर गये थे, इसलिए उनका उतना आदर स्वभावत नही रह गया था। धनपाल की तिलकमजरी (१०वी शती) तथा वादीभसिह के गद्यचिन्तामणि (१२वी शती) मे ब्राह्मणो की सर्वोच्चता ही स्वीकार नही की गयी है।[१] इस युग की अनेक काव्यकृतियो मे हम ब्राह्मणो को पतनोन्मुख देखते है। दशकुमारचरित मे ब्राह्मण कुक्कुट युद्ध देखने मे या ताम्बूलचर्वण मे रुचि लेते हुए चित्रित किये गये है तथा अपने अच्छे या बुरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए वे किसी भी प्रकार के साधन को अपना सकते है फिर भी समाज मे कुछ ब्राह्मण अवश्य ही तपस्वी वृत्ति के थे, जिन्होने बाणभट्ट को वात्स्यायन[२] कुबेर और उनके पुत्र[३] या जाबालि ऋषि[४] के ऊच्चादर्शानुप्राणित वर्णन करने की प्रेरणा दी थी। कुछ ब्राह्मण पौरोहित्य या अमात्य-पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। कादम्बरी मे तारापीड या शूद्रक के अम ब्राह्मण है। शुक्रनीति के अनुसार तो उपयुक्त क्षत्रिय के अभाव मे ब्राह्मण को सेनापति के पद पर भी नियुक्त किया जा सकता था।[५] जातिभेद के अत्यन्त कठोर हो जाने का परिणाम यह हुआ कि जब तुर्क व अफगान आक्रामको ने भारत मे प्रवेश किया तो हिन्दू जाति उन्हे आत्मसात् नही कर सकी।

१ A Study of Classical Sanskrit Prose Kāvyas, p 23.

२ हर्षचरित-प्रथम उच्छ्वास, पृ ६५। ३. वही, पृ० ६६।

४. कादम्बरी, जावालिवर्णन।

५ A Studay of Sanskrit Prose Kāvyas, p. 33.

दशकुमारचरित आदि के उल्लेखो से ज्ञात होता है कि वैश्य इस युग की सबमे समृद्ध जाति थी। वैश्य व्यापार के लिए भारत के सभी प्रदेशो में ही नही जलमार्ग द्वारा विदेशो मे भी जाते थे। वैश्यो का उनकी समृद्धि के कारण समाज मे अत्यन्त ही सम्मानित स्थान था। वैश्यो की वृत्ति का प्रमुख लक्ष्य अर्थार्जन था और ऐसी स्थिति में सभी व्यापारी ईमानदार ही होते होगे—यह नही कहा जा मकता। शूद्रो की स्थिति सम्मानजनक नही थी, फिर भी वे सन्तोषपूर्वक कृषि या उपयोगी कलाओ द्वारा निर्वाह कर रहे थे। इन चारो वर्णो के अतिरिक्त चाण्डाल जाति के लोग भी समाज मे थे, जो एकदम अस्पृश्य माने गये थे तथा जिनकी बस्ती नगर से दूर हुआ करती थी।[1] स्त्रियों को समाज मे स्वतन्त्रता नही थी। पर्दे का प्रचार यद्यपि समाज मे व्यापक नही था पर राजा की रानियो के लिए वह आवश्यक था।[2] कन्यापितृत्व कष्टप्रद माना जाने लगा था।[3] फिर भी उच्चकुल की स्त्रियो के लिए उनके अनुरूप शिक्षा का प्रबन्ध था। बाण के अनुसार राज्यश्री को नृत्य, संगीत तथा अन्य कलाओ की शिक्षा दी गयी थी। स्त्रियाँ स्वयं अपने को हीन समझने लग गयी थी।[4]

कला

इस युग की कला मे गुप्तयुग की सूक्ष्मता और भावाभिव्यजना नहीं रह गयी थी, पर राज्यश्रय मे मूर्ति और स्थापत्य के अनेक सुन्दर नमूने प्रस्तुत किये गये। अजन्ता की अनेक सुन्दर कलाकृतियाँ इस युग मे बनी। मोजै, गुजरात के भीमदेव तथा दक्षिण के कर्ण मे मन्दिरो और कलात्मक उपादानो के निर्माण की होड लगी रहती थी। कर्ण ने भोज को चुनौती दी थी कि या तो रणक्षेत्र मे, या साहित्य या कला के क्षेत्र में वह उससे प्रतिद्वन्द्विता करे। भोज ने मन्दिर निर्माण के क्षेत्र मे उससे टक्कर लेना स्वीकार किया, जिसमे भोज को परास्त होना पडा। कुमारपाल और वस्तुपाल ने अनेक सुन्दर जैन मन्दिरो का निर्माण कराया। आबू के भव्य मन्दिर इस युग मे बने। बुन्देलखण्ड मे खजुराहो के अप्रतिम सौन्दर्यमण्डित मन्दिर और दक्षिण मे कोणार्क और काची विख्यात कलाकृतियाँ भी सामने आयी। चित्रकला के क्षेत्र मे नयी शैलियाँ विकसित हुई, नृत्य के विभिन्न अंगो तथा सगीत के विभिन्न रागो का आविष्कार भी इस युग मे हुआ।

---

१. द्रष्टव्य, कादम्बरी चाण्डालकन्यावर्णन, पक्कण वर्णन। २. वही पृ० २५१।

३ उद्वेगमहावर्ते पातयति पयोधरोन्नमनकाले।
सरिदिव तटमनुवर्ष विवर्धमाना सुता पितरम्॥ हर्षचरित, पद्य-४, पृ० २३४।

४ हर्षचरित—एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ० ४७।

शिक्षा, पाण्डित्य और अध्ययन

शिक्षा इस युग मे आकर तपोवनो मे मुनियो के आश्रमो तक सीमित नही रह गयी थी, अपितु उसके लिए बडे पैमाने पर विश्वविद्यालयो का सगठन किया गया था, जिन्हे सैकडो गाँवो की आय राजकीय सहायता के रूप मे प्राप्त होती थी। नालन्दा वलभी, तक्षशिला, वाराणसी तथा उज्जयिनी-शिक्षा के प्रसिद्ध केन्द्र थे, जिनमे दूर-दूर से विद्यार्थी आते थे। शकराचार्य ने मठो को शिक्षा केन्द्र बनाने का अनुपम प्रयास किया। हिन्दुओ के विद्यालय मन्दिरो मे चलते थे। व्याकरण, मीमासा, न्याय तथा धर्मशास्त्र ये शिक्षाक्रम के आवश्यक अग थे। ह्वेनसाग के नालन्दा विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम मे इनका उल्लेख किया हैं। राजनीतिशास्त्र का भी इसके बाद उल्लेख है। गुप्तयुग की ज्ञानसाधना मे कौटिल्य, बृहस्पति,शुक्र आदि के प्राचीन राजशास्त्रो का पठन-पाठन होता था। मध्ययुग मे इनके अध्ययन का परपरा प्रचलित रही तथा इनके आधार पर नवीन ग्रन्थो की रचना भी की गयी। कामन्दकनीतिसार लिखा जा चुका था। अधिकाश पुराणो की रचना गुप्तयुग तथा मध्ययुग मे हुई तथा पौराणिक साहित्य को नये प्रसगो से समन्वित किया गया।

यहाँ पाण्डित्य, टीकाओ और शास्त्रीय वादविवाद के प्रकर्ष का युग था। गुप्तयुग मे ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे मौलिक ग्रन्थ लिखे गये और नूतन आविष्कार हुए। इस युग मे मौलिकता की अपेक्षा उपलब्ध सामग्री का सचयन, वर्गीकरण, व्याख्या और क्रमबद्ध अध्ययन अधिक हुआ। गुप्तकाल मे बौद्धो के प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक असग, वसुबन्धु दिङ्नाग, आर्यदेव तथा जैन दार्शनिक समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर आदि हो चुके थे। विज्ञान के क्षेत्र मे दशाश गणना पद्धति के आविष्कार और ज्योतिष, गणित, रसायन, धातुविज्ञान, वैद्यक, खगोलविद्या, गजविद्या आदि पर सैकडो मौलिक ग्रन्थ लिखे गये मध्य युग मे इनकी परम्परा बनी रही।

गुप्तयुग से ही वैदिक और बौद्धदर्शन के आचार्यो मे लेखनी युद्ध चला आ रहा था। दोनो पक्षो के पण्डित प्रतिपक्षी के तर्कों की असारता दिखाने मे तुले हुए थे। तर्क और वाग्जाल मे कोई पीछे नही था। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में बौद्धाचार्य वसुबन्धु के सिद्धान्तों का खण्डन किया, उसका उत्तर दिङ्नाग ने प्रमाण समुच्चय मे उनके न्याय-मतो का खण्डन करके दिया। तब उद्योतकर ने न्यायवार्तिक मे प्रबल पाण्डित्य के साथ दिङ्नाग की निस्सारता बतलाई और इधर बौद्ध धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक मे नैयायिक उद्योतकर तथा मीमासक कुमारिल के तर्कों की धज्जियाँ उडा कर बौद्ध मत को प्रतिष्ठापित किया। शंकराचार्य ने बौद्ध मत का उन्मूलन कर अद्वैत वेदान्त की स्थापना

की। शंकर के पश्चात् वेदान्त के क्षेत्र में रामानुज आदि दार्शनिक हुए। शंकराचार्य ने गीता, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र पर अपने पाण्डित्यपूर्ण भाष्यो के द्वारा वेदान्त दर्शन को सर्वमान्य बनाने का सफल प्रयास किया। साख्य, न्याय, मीमासा आदि दर्शनो के भी महान् आचार्य और चिन्तक इस युग मे हुए। छठी शताब्दी के लगभग दो बहुत बड़े साख्यशास्त्री माठर और गौडपाद हुए। वाचस्पति मिश्र (९वी शती) ने न्याय, वेदान्त, साख्य आदि के मूल ग्रन्थो पर सुलझी हुई तथा तलावगाही टीकाओ की रचना करके अपने व्यापक अध्ययन और मनन का परिचय दिया। न्याय के प्रकाण्ड विद्वान् आचार्य उद्योतकर (६०८-६८८ ई०), उदयनाचार्य (१००० ई०), बरदराज और केशव मिश्र इस युग मे हुए। मीमासको मे प्रभाकर और कुमारिल अद्वितीय आचार्य हुए। जैनदर्शन के सबसे महान् आचार्यों की विशाल परम्परा इस युग मे सन्निविष्ट है जिसमें शिवाचार्य, शाकटाचायन (९०० वि० स०), स्वयम्भू, वादिराज, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, सोमदेव, सेन, अमितगति, अमृतचन्द्र, वसुनन्दि तथा आशाधर आदि के नाम उल्लेखनोय है।

इस युग के पण्डित शास्त्रार्थ मे अपने को प्रतिष्ठापित करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। शास्त्रार्थ मे विजयी होना अत्यन्त गौरव और गर्व का विषय था। इस युग के पण्डितो के वादीभसूरि, वादिजघालभट्ट, वादिराज, वादिघरट्ट, परिवादिमल्ल, वादिकोलाहल आदि नाम शास्त्रार्थ और तार्किकता के महत्व की ओर इंगित करते है।

ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रो मे चूडान्त अध्ययन और ग्रन्थ रचना की परम्परा इस युग मे बनी रही। काशिकावृत्ति, इस युग की प्रथम व्याकरणकृति है, जिसकी रचना जयादित्य और वामन ने ६६२ ई० मे की। इसके अतिरिक्त भर्तृहरि के वाक्यपदीय, महाभाष्यदीपिका, महाभाष्यत्रिपदी, चन्द्रगोमिन् के चान्द्रव्याकरण और हेमचन्द्र के सिद्धहेम आदि ग्रन्थो ने संस्कृत भाषा और व्याकरण के अध्ययन को नयी दिशा दी। कोश-ग्रन्थो मे अपूर्व कृति 'अमरकोश' इसी समय लिखा गया। अमरकोश से अनुप्रमाणित हो कर पुरुषोत्तमदेव का त्रिकाण्डकोश, शाश्वत का अनेकार्थसमुच्चय, हलायुध की अभिधानरत्नमाला, हेमचन्द्र का अभिधानचिन्तामणि, आदि यन्थ लिखे गये। मनुस्मृति पर मेधातिथि, गोविन्दराज और विज्ञानेश्वर की प्रमुख टीकाएँ लिखी गयी। कामसूत्र पर यशोधर की जयमंगला टीका भी निर्माण इसी युग मे हुआ। ज्योतिरीश्वर, कोक्कन, और जयदेव आदि ने कामशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। संगीतशास्त्र पर शार्ङ्गदेव की सुप्रसिद्ध कृति संगीतरत्नाकर का निर्माण इसी युग मे हुआ। आयुर्वेद के क्षेत्र मे वृद्ध-वाग्भट का अष्टागहृदय, वाग्भट की अष्टांगहृदय-संहिता, माधवकर का माधवनिदान, चक्रपाणिदत्त का, चिकित्सासारसंग्रह, आदि ग्रन्थ लिखे गये।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे मौलिक और क्रान्तिकारी चिन्तन हुआ। जिस प्रकार अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्र मे देवियो और देवताओ तथा बाह्य याज्ञिक क्रियाओ के विचार से शनै -शनै भारतीय चिन्तन सूक्ष्म और सर्वव्यापी ब्रह्म की अवधारणा की ओर अग्रसर हुआ, उसी प्रकार काव्यशास्त्रीय चिन्तन का भी प्रारम्भ काव्य के बहिरग विवेचन से प्रारम्भ हुआ। पर शनै -शनै काव्य-मर्मानुसन्धायिनी दृष्टि स्थूल से सूक्ष्म, अवयव से अवयवी और खण्ड से सर्वव्यापी तत्व के विचार से संलग्न हुई। काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के विचार के बाद उनके सौन्दर्याधायक तत्व अलकार पर विचार हुआ, फिर उससे सूक्ष्म तत्व रीति पर और रीति के उपरान्त रस और ध्वनि का अलकारिको की दृष्टि ने उन्मीलन किया। भामह और दण्डी ने काव्यशास्त्रीय चिन्तन की आधार-भूमि का निर्माण किया, वामन और कुन्तक ने सिद्धान्तो के परीक्षण और मौलिक उद्भावना के साथ उसे नयी दिशा दी। आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने अपने प्रबुद्ध प्रौढ चिन्तन से परिनिष्ठित मानदण्डो को सृष्टि और सिद्धान्तो का स्थिरीकरण किया। मम्मट और हेमचन्द्र ने समग्र काव्यशास्त्रीय परम्परा का समाहार करके उसका व्यवस्थित रूप मे एकत्र सन्निवेश किया। काव्य के सूक्ष्म विवेचन मे जहाँ इन काव्यचिन्तको ने वाल्मीकि, भास, कालिदास जैसे समर्थ कवियो की रचनाओ को लक्ष्य ग्रन्थो के रूप मे आधार बनाया, वही काव्यशास्त्र मे अलकारो के सूक्ष्म वर्गीकरण, रीति सम्बन्धी विवेचन तथा नाट्यशास्त्र के सन्धिसन्ध्यङ्ग सम्बन्धी नियमो को कवियो ने स्वीकार किया। इस प्रकार काव्यशास्त्र और काव्यसृजन एक दूसरे को प्रेरित करते हुए समानान्तर चलते रहे।

साहित्यिक परम्परा व साहित्यिक वातावरण

मध्ययुग की साहित्यिक श्रीवृद्धि मे नागरिको और पण्डितो की गोष्ठियो का दाय साविशेष रहा था। इस प्रकार की गोष्ठियो मे जल्पगोष्ठी तथा काव्यगोष्ठी का उल्लेख यहाँ प्रासगिक है, जिसका वर्णन जिनसेनकृत 'महापुराण' तथा बाणभट्ट की रचना मे मिलता है। जल्पगोष्ठियो मे आख्यान, आख्यायिका, इतिहास-पुराण आदि सुने सुनाये जाते थे। हर्ष के मनोविनोदो का वर्णन करते समय बाण ने वीरगोष्ठी का उल्लेख किया है, जिसमे रणभूमि मे वीरगति को प्राप्त होने वाले वीरो के पराक्रम की गाथाएँ सुनी जाती थी।

नागरिको के मनोविनोदो मे काव्यप्रबन्ध की रचना, शास्त्रालाप, आख्यान, आख्यायिका, इतिहास, पुराण आदि का श्रवण, अक्षरच्युतक, मात्राच्युतक, बिन्दुमती, गूढचतुर्थपाद आदि विभिन्न पहेलियो का हल निकालना आदि का उल्लेख बाण ने किया

हैं। इस प्रकार के मनोविनोदो मे बुद्धिविलास-प्रधान भाषा और पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिए लिखे जाने वाले काव्य की भूमि निर्मित हुई। इस काल के साहित्य की पृष्ठभूमि में सहृदय नागरिक और उनकी ये गोष्ठियाँ ही प्रधानतया रही है, इसीलिए समकालीन कवि शिल्प के सायास निखार, दिमागी उठापटक और रूप-विधान की ओर अधिक सावधान है। भाषा का चमत्कार दिखाने की प्रवृत्ति उस पर प्राय हावी हो गयी है। भट्टिकाव्य के पश्चात् 'रावणार्जुनीय', 'राघवपाण्डवीय', 'राघव-पाण्डव-यादवीय' आदि श्लेष-प्रधान, द्व्यर्थक या त्र्यर्थक काव्य चमत्कार प्रदर्शन के लिए ही लिखे जाते रहे।

भारवि के किरातार्जुनीय से लेकर श्रीहर्ष के नैषधीयचरित तक अलकृत महाकाव्यो की परम्परा मे चोटी के महाकाव्य मध्ययुग मे रचे गये। मुक्तक के क्षेत्र मे अमरुशतक, बिल्हण की चौरपचाशिका तथा भर्तृहरिशतक जैसी सरस रचनाओ की सृष्टि हुई। सस्कृत के महनीय गद्यकार बाण, सुबन्धु और दण्डी इस युग मे हुए तथा इनके अनुकरण पर तिलकमजरी, गद्यचिन्तामणि, नलचम्पू, यशस्तिलकचम्पू आदि अनेक गद्य व चम्पू ग्रन्थ लिखे गये। नाटक के क्षेत्र मे विशाखदत्त, भवभूति, भट्टनारायण, मुरारि, राजशेखर आदि चोटी के नाटककार हुए।

प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य रचनाएँ होने लगी थी। प्रवरसेन की अनुपम कृति सेतुबन्धु के बाद वाक्पतिराज ने गौडवहो की रचना की। हेमचन्द्र का द्व्याश्रय-काव्य तथा राजशेखर की कर्पूरमजरी आदि अन्यान्य प्राकृत रचनाएँ भी इस युग मे हुईं। प्राकृत के सर्वोच्च महाकवि पुष्पदन्त इस युग मे हुए।

राजाओं का योगदान

मध्ययुग का अधिकाश उपलब्ध काव्य राज्याश्रय मे रचा गया है। राजाओ की सुरुचि और काव्यप्रेम के कारण दरबारी कवियो द्वारा सस्कृत मे विपुल साहित्य का सृजन सम्भव हो सका। अनेक राजा स्वय भी अच्छे साहित्यकार हुए है, जिनमें हर्ष की सस्कृत नाटकसाहित्य को देन अविस्मरणीय है। भवभूति और भर्तृहरि को छोड़ कर इस युग के सभी प्रमुख कवि राजसभा से सम्बन्धित प्रतीत होते है।

हर्ष के समय से ही वलभी मे साहित्यानुरागी शासक होते रहे है। भट्टि वलभी के राजा श्रीधर सेन के आश्रय मे रहे। दक्षिण मे राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय कवियो और पण्डितो का महान् आश्रयदाता था। उसके समय मे कन्नड भाषा का प्रख्यात जैन कवि पौन्न हुआ, जिसने शान्तिप्रयाण नामक काव्य की रचना की। कृष्ण के दरबार मे उसे उभयभाषा-कवि-चक्रवर्ती की उपाधि मिली। कृष्ण के सामन्त चालुक्य

राजा अरिकेसरी के पुत्र वाद्यराज के आश्रय मे सोमदेवसूरि ने अपनी विख्यात कृति यशस्तिलकचम्पू की रचना की।

'धाराधिपति भोज और उनके पितृव्य मुंज का साहित्यानुराग प्रसिद्ध है। मुंज स्वयं अच्छा कवि और कवियों का आश्रयदाता था। उसके लिखे हुए पद्य मेरुतुगाचार्य की प्रबन्धचिन्तामणि, बल्लाल के भोजप्रबन्ध तथा अलकारशास्त्र के ग्रन्थो मे उद्धृत है। उसके अनेक आश्रित कवियों से संस्कृत के प्रसिद्ध ऐतिहासिक काव्य नवसाहसाकचरित का रचयिता पद्मगुप्त, परिमल, दशरूपककार धनजय, दशरूपावलोककार धनिक, अभिधान-रत्नमाला और मृतसजीवनी के रचयिता हलायुध के नाम उल्लेखनीय है।

भोज बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न विद्वान् और साहित्यिक थे उनके बनाये हुए ३४ ग्रन्थो का निर्देश मिलता है—

ज्योतिष पर	राजमृगाक, राजमार्तण्ड, विद्वज्जनवल्लभ, प्रश्नज्ञान, आदित्य-प्रतापसिद्धान्त, भुजबलनिबन्ध।
अलंकारशास्त्र	सरस्वतीकण्ठाचरण, शृगारप्रकाश।
योग	राजमार्तण्ड योगसूत्रवृत्ति।
राजनीति तथा धर्मशास्त्र	पूतिमार्तण्ड, चाणक्य-नीतिशास्त्र, व्यवहार-समुच्चय, चारुचर्या, विविधविद्याविचारचतुरा, सिद्धान्तसार पद्धति।
शिल्प	समरागणसूत्रधार, युक्तिकल्पतरु।
काव्य	चम्पूरामायण, महाकालीविजय, विद्याविनोद, शृंगारमंजरी कूर्मशतक।
व्याकरण	प्राकृतव्याकरण।
वैद्यक	विश्रान्त विद्याविनोद, आयुर्वेदसर्वस्व, राजमार्तण्डयोगसार-सग्रह।
शैवमत	तत्वप्रकाश, शिवतत्व-रत्नकलिका, सिद्धान्तसग्रह।
संस्कृतकोष	नाममालिका, शब्दानुशासन।
अन्य	शालिहोत्र, सुभाषितप्रबन्ध, राजमार्तण्ड।

भोज के आश्रित कवियो मे तिलकमजरी-कार धनपाल का संस्कृत गद्यकारों में विशिष्ट स्थान है। धनपाल ने प्राकृतकोष पाइअलच्छी नाममाला की भी रचना की थी। भोज के समकालीन शासको मे गुजरात का भीमदेव और दक्षिण मे चेदि गागेयदेव का पुत्र कर्ण न केवल बल में अपितु कला और साहित्य को प्रश्रय देने में भी भोज से होड़ बदते थे।

कन्नौज के प्रतिहार राजाओ मे दसवी शती मे महेन्द्रपाल और उसका पुत्र महिपाल भी काव्यानुरागी थे। महेन्द्रपाल कविराज राजशेखर का शिष्य था।

गुजरात के शासक जयसिंह (वि० स० ११५०-९९) तथा कुमारपाल साहित्य के महान् सरक्षक थे। जयसिह का राजकवि श्रीपाल था—ऐसा बडनगर प्रशस्ति के उल्लेख से ज्ञात होता है। जयसिह ने उसे अपना भाई माना था तथा उसे कविचक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया था। 'वैरोचनपराजय' श्रीपाल की प्रमुख कृति थी। कुमारपाल (वि० स० ११९९-१२३०) के समय मे भी वह अपने पद पर बना रहा। सोमप्रभाचार्य के अनुसार सिद्धपाल भी कुमारपाल की सभा का एक प्रमुख कवि था। कुमारपाल के आश्रम मे अनेक कवि रहे, जिनमे अनेक काव्यो और शास्त्रो के रचयिता हेमचन्द्र, 'कुमारपालप्रतिबोध' (वि० स० १२४१), 'सुमतिनाथचरित' तथा सुप्रसिद्ध 'सूक्तिमुक्तावली' के रचयिता सोमप्रभाचार्य, 'हम्मीर-मद-मर्दन' नाटक के रचयिता जयसिह, 'मोहराजपराजय' नाटक के रचयिता यशपाल, 'प्रबन्धशती' के रचयिता रामचन्द्र आदि उल्लेखनीय है।

इसके अतिरिक्त मध्ययुग मे साहित्य के आश्रयदाता राजवशो मे आयुध-वंश, गहडवाल-वश, पाल-वश सेन-वश, चालुक्य और पल्लव वश प्रमुख है। आठवी शती मे कन्नौज का राजा यशोवर्मन् विद्वत्सेवी और मेधावी शासक था। प्राकृत महाकाव्य 'गौडवहो' के रचयिता वाक्पतिराज को उसने आश्रय दिया था। यशोवर्मन् ने स्वय 'रामाभ्युदय' नाटक की रचना की। गहडवालवश मे जयचन्द स्वय बडा विद्वान् और काव्यमर्मज्ञ तो था ही, श्रीहर्ष जैसे कवि मनीषियो और दिग्गज पण्डितो को भी उसकी सभा मे स्थान मिला था। बगाल मे पालवश के राजा रामपाल की सरक्षकता मे सन्ध्याकरनन्दी ने श्लेष-प्रधान महाकाव्य 'रामचरित' की रचना की। पालवश के पश्चात् सेनवंश के राजाओ मे बल्लालसेन परम विद्यानुरागी था। उसने 'अद्भुत-सागर' और 'दान-सागर' ग्रन्थो का प्रणयन किया। बल्लालसेन का पुत्र लक्ष्मणसेन भी कवियो का आश्रयदाता और स्वयं कविकर्मदक्ष था। उसने अपने पिता के अपूर्ण ग्रन्थ 'अद्भुतसागर' को पूरा किया। उसकी सभा मे 'गीतगोविन्द' के अमर कवि जयदेव तथा 'पवनदूत' के रचयिता धोयी जैसे युग के श्रेष्ठ कवि विद्यमान थे।

चालुक्य-वश में विक्रमादित्य षष्ठ ने दूर-दूर से प्रतिभाशाली विद्वानों और कवियों को अपनी राजसभा मे जुटाया था। 'विक्रमाकदेवचरित' के रचयिता कश्मीरदेशीय कवि बिल्हण और 'मिताक्षरा' के ख्यातिप्राप्त प्रणेता महामना विज्ञानेश्वर उसकी सभा को विभूषित करते थे। विक्रमादित्य षष्ठ के उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय (११२६-११३८ ई०) ने 'मानसोल्लास' की रचना कर अपने साहित्यानुराग को प्रकट किया।

पल्लव वश के काव्य और कला के परम प्रेमी राजाओ ने काची नगरी को सस्कृत विद्या के अध्ययन का महान् केन्द्र बना दिया था। पल्लव वश के प्रथम राजा सिंहविष्णु ने महाकवि माघ को अपनी सभा मे आमन्त्रित किया था। सिंहविष्णु के पुत्र महेन्द्रविक्रम ने संस्कृत के प्रसिद्ध प्रहसन 'मत्तविलास' की रचना की।

राजा के साथ-साथ मध्ययुग मे मन्त्रियो और अमात्यो तथा नगर के सम्पन्न रईसों ने भी काव्य और कवियो को पर्याप्त प्रश्रय दिया। कालिजर के राजा परमार्दिदेव (११६५-१२०३ ई०) के मन्त्री वत्सराज लिखे हुए छ नाटक उल्लेखनीय है। १२-१३ वी शती मे कला और साहित्य के अनन्य प्रेमी गुजरात के मन्त्री वस्तुपाल ने अपने कृतित्व के कारण लघुभोजराज की उपाधि प्राप्त की थी। वस्तुपाल स्वय भी अच्छा कवि था और उसने सरस सुमधुर शैली मे 'नरनारायणानन्द' महाकाव्य का प्रणयन किया। वस्तुपाल ने अपने वर्चस्व और सहृदयता से गुजरात को काव्य रचना, काव्यानुशीलन और कला के उन्नयन मे अपूर्व स्थान प्रदान कराया। अगणित कवि वस्तुपाल के प्रोत्साहन और सहृदयता से कृत्यकृत्य हुए, जिनमे 'सुरथोत्सव', 'उल्लाघराघव', 'रामशतक' तथा 'कीर्तिकौमुदी' आदि काव्यो के रचयिता प्रसिद्ध कवि सोमदेव, 'आरम्भसिद्धि' (ज्योतिष), 'उपदेशमाला', 'धर्माभ्युयमहाकाव्य', आदि ग्रन्थो के लेखक पण्डित उदयप्रभसूरि, 'वसन्तविलासमहाकाव्य' का प्रणेता बालचन्द्रसूरि, 'कविकल्पलता' के रचयिता अमरचन्द्र और अरसिंह, कवि हरिहर, मानक आदि वस्तुपाल के सम्पर्क से प्रभावित और प्रोत्साहित हुए। वस्तुपाल ने गुजरात मे तीन बडे-बडे पुस्तकालय स्थापित किये, जिनमे असख्य हस्तलिखित ग्रन्थ सकलित किये गये। उसने दुर्लभ ग्रन्थो की प्रतियाँ तयार करवा कर इन ग्रन्थालयो मे रखवाई। वस्तुपाल ने अपने समय के कवियो और पण्डितो से मौलिक ग्रन्थ भी लिखवाये। नरेन्द्र प्रभसूरि का 'अलकार-महोदधि' तथा नरचन्द्र का 'कथासरित्सागर' वस्तुपाल की प्रेरणा से ही लिखे गये थे। वस्तुपाल स्वय अनेक शास्त्रो का ज्ञाता था। सोमदेव ने उसे अपनी 'कीर्तिकौमुदी' मे सरस्वती का पुत्र बतलाया है (की० कौ० १।२९)। वस्तुवाल को 'कविकुंजर' तथा 'कविचक्रवर्ती' की उपाधियाँ भी दी गयी थी।

कवियों पर परिवेश का प्रभाव

उपरोक्त परिस्थितियो के रूप ही प्राय. मध्ययुग के कवियो का व्यक्तित्व ढला था। वर्णव्यवस्था और अपने समय के सामाजिक तथा नैतिक प्रतिबन्धो को भारवि, माघ आदि सभी कवियो ने स्वीकार किया है। तीर्थ, गगास्नान, पुजा, उपासना आदि अपने समय की धार्मिक रीतियो से ये कवि उसी प्रकार अभ्यस्त प्रतीत होते है जैसे

वैदिक कवि यज्ञ की प्रक्रियाओ से। मध्ययुग में काम करती हुई धार्मिक समन्वय की भावना को भी इन कवियो ने अगीकार किया है। नाटककार हर्ष ने बुद्ध और शकर तथा गौरी की एक साथ वन्दना की है, क्षेमेन्द्र ने 'दगावतारचरित' महाकाव्य मे बुद्ध का विष्णु के दसवे अवतार के रूप मे वर्णन किया है, कश्मीर के हिन्दू कवि शिवस्वामी ने 'कप्फिणाभ्युदय' लिखकर बुद्ध पर हार्दिक श्रद्धा व्यक्त की है, माघ आदि ने भी महावीर पर श्रद्धा प्रकट की है।

इन कवियो के व्यक्तित्व पर सबसे गहरा प्रभाव राजसभा के वातावरण का पडा है। उनका व्यक्तित्व सामन्तीय वैभव-विलास मे पगा हुआ है। राजाश्रित कवि भव्य प्रासाद मे ठाट-बाट के साथ रहता था और ऐश्वर्य और सुविधा का जीवन जीता था। वह रसिको और पण्डितो की गोष्ठियो मे भाग लेता था, और इन गोष्ठियो मे अपनी धाख जमाने के लिए उसका उक्ति-वैचित्र्य, मानसिक व्यायाम, वाग्जाल तथा पाण्डित्य के प्रदर्शन मे निपुण होना अनिवार्य था।

विदग्ध पण्डित होने तथा कविता मे शास्त्रीय ज्ञान के प्रदर्शन के प्रति आकर्षण एक ग्रन्थि के रूप मे इस युग के कवि-मानस मे घर कर गया था। इसका कारण युग की साहित्यिक गतिविधियो पर पाण्डित्य का बढता हुआ प्रभाव था। इस युग के काव्य-शास्त्रियो मे दण्डी ने व्युत्पत्ति को बहुत महत्व दिया है। भामह (१।९), रुद्रट (१।१८), वामन (१।१०–११) आदि ने भी उन विषयो की लम्बी सूचिया प्रस्तुत की है, जिनका अध्ययन कवि को करना चाहिए। व्युत्पत्ति के साथ-साथ इस युग की साहित्य-गोष्ठियो मे काव्य-रचना के अभ्यास को भी अतिशय महत्व मिला था। काव्य रचना के अभ्यास के लिए अनेक प्रकार की प्रहेलिकाएँ और समस्यापूर्तियाँ इन गोष्ठियो मे प्रस्तुत होती थी। काव्य-मीमासा के अनुसार ऐसे आचार्यो का भी एक सम्प्रदाय था जो एक मात्र अभ्यास को ही काव्यरचना का मूल कारण मानता था। साहित्य के क्षेत्र मे यह धारणा बढती जा रही थी कि भले ही पूर्ववासना गुण से होनेवाली दैवी प्रतिभा किसी व्यक्ति मे न हो, पर यदि वह व्युत्पत्ति के साथ प्रयत्न पूर्वक काव्याभ्यास मे लगा रहे तो कवि बन सकता है। ऐसी स्थिति मे दो कौडी के कवि भी उक्ति-वैचित्र्य और मनोहरवर्ण-विन्यास से युक्त छन्द जोडकर महाकवि के रूप मे पुजते थे। यही नही किसी व्यक्ति को कवि कैसे बनाया जाय—इसके लिए नियम और अभ्यास बताने वाले अनेक ग्रन्थ भी इस युग मे लिखे गये और कविशिक्षा का एक अलग शास्त्र प्रवृत्त हुआ। काव्य के रूप-विधान को निखारने मे अभ्यास और कवि के अनुभव और प्रेरणाओ को समृद्ध बनाने मे विभिन्न शास्त्रो के अध्ययन तथा विभिन्न दृश्यो के पर्यवेक्षण, पर्यटन आदि की उपयोगिता को स्वीकार नही किया जा सकता, पर अभ्यास और व्युत्पत्ति की अनि-

वार्यता के प्रति अत्यधिक आग्रह कवि के व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता को समाप्त करके उसे पंगु बना देता है। यही इस युग के कवियों के साथ हुआ।

वस्तुत इस देश के सास्कृतिक धरातल पर दर्शन, धर्म, कला, साहित्य और कविता ये सभी अपने परिवेश के अनुकूल विभिन्न युगो मे एकरूपता के साथ परिवर्तित होते रहे है। कर्मकाण्ड की दुरूहता को छोडकर दर्शन सर्वात्मिक सूक्ष्म सत्ता के अन्वेषण मे संलग्न हुआ, कला मे भी स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म तत्व के प्रकटीकरण को प्राधान्य मिला, साहित्यचिन्तन मे भी काव्य की आत्मा का आविष्कार होने लगा। दर्शन में एक ओर वेदान्ती एक मात्र ब्रह्म को ही सत्य और जगत को मिथ्या बता कर रुक गया, तो उसकी प्रतिक्रिया मे दूसरे दार्शनिक ने जगत् को भी सत्य माना और ससार की बाहरी क्रियाओ मे सौन्दर्य और सत्य देखा। तब विष्णु या राधा-माधव की उपासना मे भजन-कीर्तन तथा बाह्य उपादानो को भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान मिला। कला के क्षेत्र मे उसी प्रकार आगिक सौन्दर्य निरूपण को सूक्ष्म आध्यात्मिक भावो की अभिव्यंजना के स्थान पर अधिक स्थान दिया जाने लगा। काव्यशास्त्री भी काव्य के बाह्य उपादानो, अलकार, रीति, आदि के सूक्ष्म भेद-प्रभेदो मे उलझ गया और कविता मे उक्ति-वैचित्र्य और अलकारो के विन्यास के लिए कवि भी जागरूक होता गया।

रसिक नागरको की गोष्ठियो मे पाण्डित्य-प्रदर्शन और उक्ति-वैचित्र्य के साथ-साथ सरस काव्य का आदर होता था। काव्य-शास्त्र ने भा रस और व्यजना की प्रतिष्ठा हो चली थी। शृंगार की रसिक सहृदयो और काव्य के आचार्यो मे सर्वोच्च प्रतिष्ठा थी, इसीलिए रसपेशल प्रसगो के उपनिबन्धन की ओर भी इस काल के कवियो का विशेष ध्यान है। इस युग मे जहाँ आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का मौलिक और क्रान्तिकारी काव्यदर्शन सामने आया, वही कवि को नियमो और रूढियो की सीमा में आबद्ध करने का प्रयास भी कम नही हुआ।

राजसभा की सकुचित अभिरुचि वाला समाज, नाट्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के नियमो की सकीर्ण सीमाएँ और ब्राह्मण धर्म की कट्टर नैतिकता—इन सबने इस युग के कवियो के स्वतन्त्र विकास को अवरुद्ध कर दिया था। भवभूति, भर्तृहरि, कल्हण जैसे कुछ अपवादो को छोडकर इस युग के सभी कवि सामन्तीय सस्कृति की सकीर्णता मे रचे-पचे है। धर्मशास्त्र के विधानो तथा अपने समय के समाज के नीतिवादी आग्रह के कारण वे स्वतन्त्र विषय नही चुन सकते थे और महाकाव्य, नाटक जैसी विधाओं के लिए तो इतिहास-पुराणो से ली गयी कथावस्तु ही चुनने का नियम स्थापित कर दिया गया था। प्रतिभा का इन कवियों मे अभाव नही था, पर प्रतिभा के विकास और समुचित उपयोग के लिए उपयुक्त वातावरण उन्हे मिला नही।

धर्म, दर्शन और चिन्तन के क्षेत्र मे भारत ने इस युग मे जो उपलब्धियाँ की, उनसे इस युग के कवि विशेषत प्रभावित हुए। श्रीहर्ष जैसे कवियो ने तो अपने दार्शनिक ज्ञान के प्रतिपादन के लिए अपने महाकाव्यो मे सर्ग के सर्ग लिख डाले। मीमासा का प्रभाव माघ, बाण, भवभूति आदि मे देखा जा सकता है। भवभूति और भर्तृहरि वेदान्त से भी प्रभावित लगते है। श्रीहर्ष तो पक्के वेदान्ती थे। शकराचार्य के अद्वैत दर्शन ने कवियो की विचारधारा पर पर्याप्त प्रभाव डाला था। दसवी शती मे कृष्णमिश्र का प्रख्यात प्रतीकात्मक नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' वेदान्त के प्रतिपादन के लिए ही लिखा गया। भक्ति आन्दोलन की धारा का प्रभाव, माघ, भर्तृहरि, तथा स्तोत्रो की रचना करने वाले असख्य कवियो में स्पष्ट है। जयदेव (गीतगोविन्दकार) पर बंगाल की राधा कृष्ण की मधुर उपासना का प्रभाव पड़ा।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे परिणत मेधा और मौलिक चिन्तन का जो उन्मेष हुआ, उसका कोई सीधा प्रभाव कवियो पर पडा हो ऐसा प्रतीत नही होता। लक्षणो और वर्गीकरण का प्रभाव कवियो पर अवश्य पडा, अलकारो, गुण, रीति और दोषो के निरूपण का प्रभाव भी उन पर देखा जा सकता है, पर रस और ध्वनि के सिद्धान्तों में काव्य-चिन्तन का जो परिपाक हुआ, वह अपने आप मे सैद्धान्तिक इतना अधिक हो गया था, कि व्यावहारिक स्तर पर कवि को उसने कम प्रभावित किया। सस्कृत समीक्षा वैसे भी सैद्धान्तिक अधिक और व्यावहारिक कम रही है। अलकार, रीति और वक्रोक्ति का विवेचन अपेक्षाकृत व्यवहारिक धरातल पर था और नये-नये अलंकारों, रीतियो और शैली के प्रयोग के सन्दर्भ मे कवि उससे प्रभावित हुए। पर कवि और काव्यशास्त्र के बीच स्वस्थ आदान-प्रदान का वातावरण बन नही सका, काव्यशास्त्र का परिणत चिन्तन भी कवि को पाण्डित्य-प्रदर्शन, उक्ति-वैचित्र्य आदि के अतिरेको से बचा कर स्वस्थ दिशा नही दे सका।

भी सम्राट् से मिल कर उनकी मिथ्या धारणा दूर कर दे। दूत के चले जाने पर बाण के मन मे उथल-पुथल मच गई। सोचने लगे कि सम्राट् से मिलने जायँ अथवा न जायँ। अन्त मे जाना ही निश्चित किया। दूसरे दिन प्रात काल वे सम्राट् से मिलने चल दिये। माता के समान स्नेह-भरी हृदय वाली पिता की छोटी बहन मालती ने बाण के प्रस्थान के लिए उचित मगलाचरण किया। पहले दिन वे चण्डिका-वन पार कर के मल्लकूट ग्राम पहुँचे, जहाँ बाण के परम मित्र और भाई जगत्पत्ति ने उनकी आवभगत की और सुखपूर्वक ठहराया। तीसरे दिन बाण अजयवती के किनारे मणिपुर नामक ग्राम में पहुँचे और राजभवन के समीप ठहर गये। एक प्रहर दिन रहने पर हर्ष से मिलने गये। हर्ष ने उन्हे मिलने की अनुमति दे दी, पर जब वे भुक्त्वास्थानमण्डप, जहाँ महाराजाधिराज हर्ष बैठे थे, पहुँचते तो महाराज ने दौवारिक से पूछा—"क्या यही वह बाण है?" दौवारिक के—"देव का कथन सत्य है, ये वही है" ऐसा कहने पर, "मै इसे तब तक नही देखता जब तक यह मिलने-जुलने की योग्यता प्राप्त न कर ले"—यह कह कर सम्राट् ने अपने पीछे बैठे मालवराज के पुत्र से कहा—"यह बडा लम्पट व्यक्ति है।" हर्ष के इस प्रकार के व्यवहार से बाण एक क्षण के लिए तो सन्न रह गये पर तुरन्त ही उनका स्वाभिमान जाग उठा और उन्होने कुछ विनय और कुछ दर्प-भरे स्वर मे कहा—"देव, आप भी कैसे इस प्रकार की बात कह रहे है कि आपको मेरे विषय मे सच्ची बात का पता ही न हो, या मेरा विश्वास न हो, या आपकी बुद्धि दूसरो पर निर्भर रहती हो अथवा आप स्वयं लोक-वृत्तान्त से अनभिज्ञ हो। लोगो के स्वभाव और इस प्रकार से उडाई गयी बाते मनमानी और तरह-तरह की होती है। किन्तु सज्जनो को तो हर समय यथार्थ ही देखना चाहिए। मुझे आप ऐसा-वैसा समझ कर कुछ तो भी कल्पना न करें सोमपायी वात्स्यायन ब्राह्मणो के कुल में मैं जन्मा हूँ। समय से मेरे यज्ञोपवीत आदि संस्कार हुए है। वेद-वेदागो का मैने सम्यक् अध्ययन किया है। यथाशक्ति शास्त्रों का श्रवण भी किया है। विवाह के पश्चात् से मै नियमित गृहस्थ हूँ। मुझ मे कौन-सा लम्पटपना है। नयी उम्र मे मैंने कुछ चपलताएँ अवश्य की थी। उनके लिए मुझे खेद है।"—बाण की इस तेजस्विता से हर्ष प्रभावित हुए और "हमने वैसा सुना था"—यह कह कर चुपचाप हो गये।

बाण अपने निवास-स्थान पर आकर हर्ष के विषय मे सोचने लगे। उन्होने निश्चय किया कि हर्ष निश्चय ही उदारचेता नरपति है और अब मैं ऐसा ही करूँगा, जिससे ये गुणवान् राजा मुझे पहचान लें। दूसरे दिन वे अपने मित्रो और सम्बन्धियो के घर ठहरे। तब तक सम्राट् स्वयं उनके स्वभाव से परिचित हो कर उन पर प्रसन्न हो गये, और बाण राजभवन मे ही निवास करने लगे। थोडे ही दिनो मे राजा हर्ष उन पर

अत्यन्त प्रसन्न हुए और सम्मान, प्रेम, विश्वास, धन-सम्पत्ति, और प्रभाव की पराकाष्ठा पर उन्हे पहुँचा दिया । 'कर्नाटक पचतन्त्र' के लेखक दुर्गसिंह के अनुसार हर्ष बाण को ससम्मान "वश्यवाणी-कवि-चक्रवर्तिन्" की उपाधि दी थी ।

शरद् ऋतु आने पर वे ग्राम प्रीत-कूट वापस आये । तब उनके चचेरे भाइयो ने हर्षचरित सुनाने का अनुरोध किया और बाण ने उनके अनुरोध की रक्षा के लिए हर्षचरित का प्रणयन करना प्रारम्भ किया । बाण का यहाँ तक का जीवनवृत्त हर्षचरित मे वर्णित है । इसके बाद के अपने जीवन के विषय मे बाण ने कोई सूचना नही दी । उनके जीवन के सम्बन्ध मे कुछ अटकले अवश्य अन्य स्रोतो से लगाई जा सकती है । जैसे कि कादम्बरी पूर्ण करने के पूर्व ही कवि की मृत्यु हो गयी होगी या हर्ष से प्रथम भेट के पूर्व ही उनका विवाह हो चुका था । हर्षचरित मे बाण ने अपने पुत्र के विषय मे कोई उल्लेख नही किया, सम्भव है, उनके समय तक कोई पुत्र नही हुआ हो, लोक-कथाएँ उनके एकाधिक पुत्र होने की पुष्टि करती है । इतना तो निश्चित ही है कि कादम्बरी की रचना करने वाला बाण का एक सुयोग्य पुत्र ही था, जिसका अभी तक नाम निश्चित नही है ।[1]

बाण के गुरु का नाम भर्वु था ।[2] भर्वु सम्भवत. अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान थे । मौखरिवशीय क्षत्रिय उनके चरणो मे सिर झुकाते थे । अन्य सामन्त भी सामने नत-मस्तक हुआ करते थे ।[3] भर्वु सम्भवत. एक अच्छे कवि भी थे ।[4]

बाण के सम्बन्धियो मे उनके पितृभ्राताओ का उल्लेख हर्षचरित मे आया है, जिसके नाम—गणपति, अधिपति, तारापति और श्यामल थे । य चारो ही वेदाभ्यासी विद्वान, पुण्यात्मा तथा तृष्णाविहीन थे । वचन, अवस्था, यश और प्रताप, तप, सभा और यन्त्र आदि मे बाण के उल्लेख के अनुसार उनकी गणना पहले होती थी । बाण की एक पितृष्वसा मालती थी, जो बाण पर मातृतुल्य स्नेह रखती थी ।[5]

वेश

श्वेत दुकूल, हाथ मे अक्षमाला, श्वेतचन्दन, श्वेत वस्त्र, गोरोचना लगाकर दूर्वादल मे गुथे हुए श्वेत अपराजिता के फूल—यह बाण का वेश था ।[6]

१. डॉ० बूलर ने बाण के पुत्र का नाम भूषणभट्ट बताया था, परन्तु इधर की खोज से उसका नाम पुलिनभट्ट या पुलिन्दभट्ट सिद्ध होता है । विवरण के लिए द्रष्टव्य—संस्कृत सुकवि समीक्षा, पृ० २६३ ।

२. कादम्बरी मगलाचरण–४ ।

३. कादम्बरी, मंगलाचरण–४ ।

४ द्रष्टव्य, संस्कृतसुकविसमीक्षा, पृ० २७५ ।

५. हर्षचरित, पृ० ९१ ।

६. वही, पृ० ९० ।

मान्यताएँ

काव्य के सम्बन्ध में

बाण काव्य मे नवीनता तथा मौलिकता को अत्यधिक महत्व देते थे। "कुत्ते के समान घर-घर मे जन्म लेने वाले कवि असख्य है, जो स्वरूप मात्र का वर्णन करते है पर नव-निर्माण करने वाले कवि-जगत् मे बहुत नही है।"[1] दूसरो की कविता चुराने वाला कवि सहृदय समाज मे बडी जल्द पकड लिया जाता है।[2] बाण को ऐसे कुकवियो से घृणा है, जो रागद्वेष की भावनाओ से भरे है और असम्बद्ध प्रलाप करते रहते है। बाण काव्य मे अभिनव को प्रमुखता देते हुए बार-बार मौलिकता पर बल देते है।[3] वे उसी गद्य को उत्कृष्ट मानते है, जिसमे सुन्दर वर्णविन्यास के द्वारा अभिनव अर्थ का प्रतिपादन हो। साथ ही वे उत्तम पदशैया और सुनियोजित वर्णक्रम पर भी जोर देते है।[4] परन्तु बाण इस प्रकार का पदगुम्फन नही चाहते, जो बहुत जटिल और दुरूह हो, उनके मत मे पदशैया सुखप्रबोधललिता होना चाहिए।[5] साथ ही वे उस कवि वाणी को उत्कृष्ट मानते है, जो महाभारत की कथा के समान जगत्त्रय मे व्याप्त हो जाय। बाण का यह कथन अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है, ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह मानते थे कि काव्य ऐसा होना चाहिए, जो सारी जनता की समझ मे आ सके और इसलिए जिसका व्यापक प्रचार हो, जो कुछ पण्डितो के बीच ही प्रशंसित होकर मुर्दा न बन जाय। बाण स्वयं अपने गद्य काव्य मे इस मान्यता का पालन नही कर सके।

बाण किसी भी वस्तु को काव्य में सहज अलंकृत रूप मे सम्प्रेषित करने के घोर विरोधी है। वे वक्रता के पक्षपाती है, जिसे कुन्तक ने विचित्र-मार्ग कहा है। कादम्बरी मे स्थान-स्थान पर वक्रोक्ति का प्रसंगान्तर से उल्लेख काव्य मे बाण के वक्रोक्ति के प्रति आग्रह का सूचक है।[6] काव्य मे उन्हे अग्राम्यता भी अभीप्सित है।[7]

---

१. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, पद्य ५। २. वही, ६।

३. कथा जनस्याभिनवा वधूरिव—कादम्बरी पद्य ८।
नवैं पदार्थैरुपपादिता- कथा, वही, ९।
उत्कृष्टकविगद्यमिव विविधवर्णश्रेणीप्रतिपाद्यमानाभिनवार्थसचयम्॥ वही, पृ० १९७।

४. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थिति—हर्षचरित, १।२।

५. सुखप्रबोधललिता सुवर्णघटनोज्ज्वलै.।
शब्दैराख्यायिका भाति शय्येव प्रतिपादकै ॥—हर्षचरित १।२।

६. वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेनाधिष्ठिता—कादम्बरी, पृ० ५०–५१।
एषापि बुद्ध्यत एतावतीर्वक्रोक्तीः।—वही, पृ० १९५।

७. हर्षचरित, प्रथम उच्छ्वास, पद्य–१३।

शिक्षा के सम्बन्ध में

बाण के अनुसार चूडाकरण आदि संस्कार हो जाने के उपरान्त बालक का विद्यारम्भ करवाना चाहिए। क्रीडा-व्यासंग के विघात के लिए बालक को नगर के बाहर किसी नदी के तट पर विद्यामन्दिर मे रखना चाहिए, जिसके बाहर वह नगर आदि में न जा सके। इस विद्यामन्दिर मे सभी विद्याओ के श्रेष्ठ आचार्य बुलाये जायँ। विद्यामन्दिर प्राकार तथा विशाल परिखा (खाई) से घिरा हो और उसके द्वार अत्यन्त सुदृढ हो। वहाँ पर बालक को उसी प्रकार रखा जाय, जैसे सिंहकिशोर को पिंजडे मे बन्द करके रखा जाता है। बालक विद्यामन्दिर में परिजनो के साथ न रहे, परन्तु उसके परिजन जब चाहे उसे देखने आ सकते है।

आदर्श शिष्य वही है, जिसकी अत्यन्त प्रखर बुद्धि मे विद्याएँ उसी प्रकार संक्रान्त हो जायँ जिस प्रकार निर्मल दर्पण मे प्रतिबिम्ब।[1] ऐसे शिष्य को पाकर आचार्य भी उत्साहित होकर शिक्षा प्रदान करते है।[2] ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनो के लिए वेद, इतिहास और पुराणो के साथ विविध कलाओ—नृत्य, गीत, काव्य, नाटक आदि का ज्ञान आवश्यक समझते है।[3] ब्राह्मण के लिए विशेष रूप से वेदाभ्यास, मीमासा, न्याय तथा व्याकरण का अध्ययन अपेक्षित है।[4] क्षत्रियो के लिए पद, वाक्य, प्रमाण, धर्मशास्त्र के अतिरिक्त राजनीति, व्यायामविद्या, धनुष आदि विविध अस्त्रो का संचालन, हस्तविद्या, अश्वविद्या, पुरुषलक्षण, शकुनिरुतज्ञान, ग्रहगणित, रत्नपरीक्षा, दारुकर्म, दन्तव्यापार, वास्तुविद्या, आयुर्वेद, यन्त्रप्रयोग, विषापहरण, सुरंगोपभेद, तरण, लंघन, प्लुति, आरोहण, रतियन्त्र, इन्द्रजाल आदि का ज्ञान आवश्यक है।[5]

षष्ठ वर्ष मे बालक का विद्यारम्भ करवाना चाहिए। तथा षोडश वर्ष मे समावर्त्तन।[6]

नारी के सम्बन्ध में

बाण के मन मे स्त्रीजाति के लिए प्रगाढ सम्मान का भाव था। वे स्त्री को विलास की वस्तु नही समझते थे। और न पुरुष के अधीन रहने वाली सेविका ही। बाणभट्ट की स्वतन्त्र चेतना अपने युग मे स्त्री की दयनीय दशा को देखकर क्षुब्ध थी और इसीलिए कवि ने अपनी कादम्बरी मे एक ऐसे काल्पनिक लोक मे स्त्री पात्रों

१. मतिदर्पण इवातिनिर्मले तत्तस्मिन् सचक्राम सकलकलाकलाप।—कादम्बरी, पृ० ७२।
२. पात्रविशेषादुपजातोत्साहैराचार्यै—वही, पृ० ७५।
३. हर्षचरित, पृ० ६३, कादम्बरी, पृ० ७५।
४. हर्षचरित, पृ० १४२।
५. कादम्बरी, पृ० ७५।
६. वही, पृ० ७७।

की सृष्टि की जो बिना झिझक के मित्रता के भाव मे समानता के स्तर पर पुरुषो से बातचीत कर सकती है। बाणभट्ट की यही स्वतन्त्र चेतना उन्हे बीसवी शती की विचार-धारा से जोड देती है। कवि को स्त्री-पुरुष के सम्बन्धो मे केवल यौन-सम्बन्ध ही इष्ट नही था, उसने स्त्री को माता के रूप मे भी देखकर उसे सर्वोच्च आदर दिया। विलास-वती तथा देवी प्रभावती के वात्सल्य का चित्रण इस बात का प्रमाण है। पर बाणभट्ट की स्त्री के सम्बन्ध मे वैचारिक धारा अपने युग और परिवेश से इतनी पृथक् थी कि वे यही नही रुके, बल्कि उन्होने स्त्री और पुरुष के बीच ऐसे मित्रतापूर्ण सम्बन्धो की भी कल्पना की, जिसमे काम का भाव एकदम शून्य हो। महाश्वेता और चन्द्रापीड के सम्बन्ध ऐसे ही है। पत्रलेखा का चरित्र तो आश्चर्यजनक ही है। पत्रलेखा के द्वारा बाण सम्भवत यह दिखाना चाहते है कि कोई नवयौवना किसी समवयस्क पुरुष के साथ रातदिन उसके संसर्ग मे मित्र की भाँति भी रह सकती है—यह आवश्यक नही कि ऐसी स्थिति में उन दोनो के बीच काम हो ही। बाणभट्ट की यह कल्पना आज के आदमी को भी दूरारूढ लगती है। पर बाण का सरल मन इसकी असम्भाव्यता को स्वीकार कर ही नही सकता था। रवीन्द्रनाथ बाण की इस अद्भुत सृष्टि पर चकित है। वे कहते है—"पत्रलेखा पत्नी नही है, प्रेयसी भी नही है, किंकरी भी नही है, पुरुष की सहचरी है। इस प्रकार का अनोखा सखीत्व दो समुद्रो के बीच एक बालू के तट के समान है। कैसे उसकी रक्षा हो? युवा कुमार-कुमारी के बीच जो अनादि काल से चिरन्तन प्रबल आकर्षण चला आ रहा है, वह दोनो दिशाओ से संकीर्ण इस बाँध को लाँघ क्यो नही जाता?[1] रवीन्द्रनाथ को बाण से शिकायत है कि उन्होने पत्रलेखा की घोर उपेक्षा की है। यह बात सत्य नही, पर इतना अवश्य सत्य है कि स्त्री-पुरुष के बीच इस प्रकार के सम्बन्धो की अवधारणा बाण के भीतर ही जन्म ले सकती थी, क्योकि उन्होने स्वयं अपने जीवन मे सम्भवत ऐसे सम्बन्धो को भोगा था। अपने यायावर जीवन मे वे अनेक नवयौवनाओ के सम्पर्क मे आये थे, जिसमें से कुछ का उल्लेख उन्होने नामत· हर्षचरित मे किया है। इनके बीच रह कर भी बाण का यायावर और निश्छल मन काम-भावना से स्पष्ट नही हो सका होगा, तभी वे इस प्रकार स्त्री और पुरुष के बीच मे वैसे सम्बन्धो की कल्पना कर सके—"जिनमे आशका और संशय के लिए लेशमात्र भी स्थान नही है।" तथा स्त्री और पुरुष के परस्पर पास होने पर जो एक सकोच सभ्रम—यहाँ तक कि छलना का एक काँपता हुआ झीना परदा अपने आप तैयार हो जाता है, इनके बीच वह भी नही है।"[2] पर बाण नारी को सम्भवत समाज में ऐसी ही

---

१. रवीन्द्रनाथ के निबन्ध, पृ० ३८६। २ वही, पृ० २८६।

ऐसी ही स्थिति मे देखना चाहते थे, जहाँ वह पुरुष की सहयोगिनी तो रहे, पर विलास-क्रीडा का साधन नही ।

आदर्श

बाण शारीरिक स्वास्थ्य को जीवन मे वरेण्य मानते है । बलिष्ठ शरीर उनकी दृष्टि मे व्यक्ति की प्रथम अनिवार्य आवश्यकता है । बलिष्ठता के साथ-साथ सौष्ठव के निर्माण और रक्षा के लिए बाण व्यायाम की आवश्यकता पर जोर देते हैं । उन्होने स्थान-स्थान पर अपने नायको को व्यायाम करने के कारण सुदृढ, बलिष्ठ और सुन्दर शरीर वाला कहा है—

अनवरतव्यायामकृतकर्कशशरीरेण—हर्षचरित, पृ० ३३ ।

विशालवक्षस्थलोपलवैदिकोत्तम्भनशिलास्तम्भाभ्या चारुचन्द्रस्थासकस्थूलतरलकान्तिभ्यामूरुदण्डाभ्यामुपहसन्तमिवैरावतकरायामस्—वही पृ० ३२ ।

परिणतवयसमपि व्यायामकठिनकायम्—कादम्बरी, पृ० ३९ ।

व्यायामव्यायतवपुषा—वही पृ० ११२ ।

स्थिरोरुस्तम्भौ पृथुप्रकोष्ठौ दीर्घभुजार्गलौ विकटोर कवाटौ प्राशुसालाभिरामौ महानगरसन्निवेशाविव सर्वलोकाश्रयक्षमौ—हर्षचरित, पृ० २२५ ।

विन्ध्यशिलातलविशालेन वक्षस्थलेनोद्भासमानम्—कादम्बरी, पृ० ३० ।

परन्तु बाण की दृष्टि में बलिष्ठता और शारीरिक सौष्ठव अपने आप में पूर्ण नही है । इसके साथ आन्तरिक सौन्दर्य और अन्तर्मन की उदारता भी होनी चाहिए, जिसके द्वारा इसका सदुपयोग हो सके । उपरिलिखित शारीरिक शक्ति का बाण सर्वलोकाश्रय क्षमता मे सदुपयोग देखना चाहते है । साथ-साथ बाण जीवन मे परोपकार और उदारता को उच्च स्थान देते हैं । अनाथो का परिपालन वे महापुरुषो का धर्म मानते है । उनके अनुसार निरहकार, गुणग्राहिता, दान, परोपकार, धर्माचरण—ये गुण व्यक्ति को महान् बनाते है ।[१]

शारीरिक बलिष्ठता की अपेक्षा बाण इन्द्रियजय और तप पूत तेजस्विता को अवश्य उच्चतर मानते है । जाबालि की क्षीणकाया में पसलियाँ गिनी जा सकती है, पर उनके संयम और साधना के कारण बाण को उन पर अपार श्रद्धा है । वे ऐसे मुनियों का नाम-ग्रहण भी पवित्र मानते है—दर्शन की तो बात ही क्या ?[२]

---

१ हर्षचरित, पृ० ८६–८७ । २. कादम्बरी, पृ० ४०–४३ ।

ब्रह्मचर्य को बाण जीवन का महान् आदर्श मानते है। हर्ष को उन्होने ब्रह्मचर्य-व्रत के कारण राजर्षि कहा है—गृहीतब्रह्मचर्यमालिगित राजलक्ष्म्या, प्रतिपन्नासिधाराव्रतमविसंवादिन राजर्षिम्।[१] बाण स्पष्ट ही अपने युग के सामन्तीय वर्ग मे प्रचलित ऐन्द्रिय विलासिता को हीन समझते है। कालिदास की भाँति उनकी दृष्टि मे वह प्रेम निकृष्ट है, जिसमे शारीरिक वासना की ही प्रधानता हो। उत्कृष्ट प्रेम मे शारीरिक वासना विगलित हो जाती है और व्यक्ति मे एक अपूर्व तेज धैर्य और क्षमता का आविर्भाव होता है। महाश्वेता का आरम्भिक प्रेम यौवन की उद्दाम वासना से उत्पन्न हुआ था, पर वह वासना तप और साधना के द्वारा धीरे-धीरे उसके मन से गल कर बह गयी। तभी तो कादम्बरी मे हम महाश्वेता को एक अत्यन्त ही तेजोमयी सती नारी के रूप मे देखते है। बरसाती नदी के उद्दाम वेग से बहने वाले कामुक प्रेम की प्रबलता को बाण ने समझाया था,[२] पर उन्होने कभी उसके सामने सिर नही झुकाया। बाण उस कामुक प्रेम की शक्ति को व्यर्थ मे गवाँ देना उचित नही समझते थे, वे उसे एक बहुत बडी पूँजी समझते थे, और उसे परिशुद्ध रूप मे जीवन के लिए वरदान बना लेना चाहते थे।

भवभूति की भाँति बाण भी यह मानते थे कि प्रेम एक अज्ञात अचिन्त्य दिव्य शक्ति है, जो अकारण ही दो प्राणियो के हृदय को एक-दूसरे से जोड देती है। यह प्रेम अकारण ही उत्पन्न हो जाया करता है।[३] समय का प्रवाह इसे शिथिल नही बना सकता। बाण के अनुसार वास्तविक प्रेम जन्मजन्मान्तरो तक बना रहता है। महाश्वेता और कादम्बरी इसीलिए अपने प्रेमियो की मृत्यु के उपरान्त भी उनसे मिलन की आकाक्षा में जीवन बिताती रहती है और अन्त में उन प्रेमियो के जन्मों मे उनसे मिलन होता है। शूद्रक के मत में पूर्वजन्म का प्रेम संस्कार के रूप मे बना हुआ है, तभी वह "वनितासम्भोगसुखपराङ्मुख" है।[४] पर बाण काम को अस्वीकार करते हो, ऐसा नही है। उसके अनुसार कर्त्तव्य-पालन के पश्चात् ही कामोपभोग उचित है। कादम्बरी मे उन्होने स्पष्ट कहा है—'प्रमुदितप्रजस्य हि परिसमाप्तसकलमहीप्रयोजनस्य नरपतेर्विषयोपभोगलीला भूषणमितरस्य तु विडम्बना।'—कादम्बरी, पृ० २८।

---

१. हर्षचरित, पृ० ११३।

२ नास्ति असाध्यं नाम मनोभुव —कादम्बरी, पृ० १५०।

३ "त्वयि नु विना कारणेनादृष्टेऽपि प्रत्यासन्ने बन्धाविव बद्धपक्षपात किमपि स्निह्यति मे हृदय दूरस्थेऽपीन्दोरिव कुमुदाकरे।"—हर्षचरित, पृ० ८५।

४. कादम्बरी, पृ० ७।

बाण की दृष्टि मे आदर्श राजा धन मे नि स्नेह, दोषो के लिए अनाश्रयणीय, इन्द्रियो के लिए निग्रहरुचि, काल के लिए दुरुपसर्प, व्यसन के लिए नीरस, अयश के लिए भीरु, काम के लिए दुर्ग्रह-वृत्ति, सरस्वती के लिए स्त्री-परायण, परकलत्र के लिए पण्ढ, यतियो के लिए काष्ठामुनि, वैश्याओ के लिए धूर्त्त, सुहृदो के लिए नेय, विप्रो के लिए भृत्य, शत्रुओ के लिए पर्याप्त सहायको से युक्त होना चाहिए ।[1] वह कल्याण करने मे मेरुमय, लक्ष्मीसग्रह मे मन्दरमय, मर्यादा मे जलनिधिमय, कलासग्रह मे चन्द्रमामय, अकृत्रिमालाप मे वेदमय, ससार को धारण करने मे धरणिमय, तथा वचन मे गुरु, वक्ष मे पृथु, मन मे विशाल, तप मे जनक, तेज मे सुपात्र, रहस्य-रक्षण मे सुमन्त्र, सभा में विद्वान्, यश मे अर्जुन, धनुर्विद्या मे भीष्म, शरीर मे निषध, युद्ध में शत्रुघ्न, प्रजाकार्य मे दक्ष होना चाहिए ।[2] आदर्श क्षत्रिय का यश चन्द्र और सूर्य के तेज के समान भुवनव्यापी होना चाहिए, उसे अग्नि और वायु के समान तेज और बल से युक्त होना चाहिए । ऐसे क्षत्रिय को कार्त्तिकेय के लिए भी स्वामी शब्द का व्यवहार किये जाने पर कष्ट होता है—तथा दर्पण मे अपने प्रतिबिम्ब को ही वह दूसरे का समझ कर क्रुद्ध होने लगता है ।[3] उसकी भ्रूलता आकाश मे चलते हुए तारो को पकडने की इच्छा करती है, तजोदुर्विदग्ध सूर्य किरणो मे भी चँवर पकडाने की उसकी इच्छा होने लगती है । मृगराज से भी राजशब्द के कारण क्रोध से उसका पैर सिंह के मस्तक को अपना पादपीठ बनाना चाहता है ।[4]

बाण जीवन मे उत्साह, उद्योग के साथ सयम और धैर्य का समन्वय चाहते है । महाश्वेता को अनेक वर्षो तक अपने प्रिय से मिलने के लिए तप करना पडा । कवि ने स्वयं जीवन मे पग-पग पर बाधाओ को झेल कर अनुभव किया था कि बाधाओ समक्ष सिर झुका कर निराश होकर आत्मघात कर लेने की आवश्यकता नही है, मनुष्य को धैर्य के साथ निरन्तर युद्ध करते हो जाना है । महाश्वेता को कवि आत्मघात करने से इसीलिए रोकता है क्योकि उसे विश्वास है कि धैर्यपूर्वक आस्था और विश्वास के साथ जीते रहने वाला व्यक्ति एक न एक दिन अपने इष्ट को पायेगा ही । बाण का आज के सन्तप्त मानव के लिए भी यही सन्देश है । उनके हर्ष और चन्द्रापीड इस आदर्श के मूर्तिमान् उदाहरण है, वे अनथक प्रयत्न करते हो चले जाते है—जीवन की यात्रा मे एक क्षण भी रुकने का पीछे मुडकर देखने का अवकाश जैसे उन्हे है ही नही । विपत्तियाँ उन पर एक के बाद एक गिरती ही रहती है, पर वे इससे हताश नही होते ।

---

१. हर्षचरित, पृ० १२३–१२४ ।
२ वही, पृ० १६२–१६३ ।
३. वही, पृ० २२६–२२७ ।
४ वही, पृ० ३३४ ।

आस्था

बाण शंकर के अनन्य आराधक थे। हर्षचरित मे उनकी शकर मे अधिक आस्था दीख पडती है। प्रारम्भ मे ही कवि ने शकर की वन्दना की है। राजा हर्ष से मिलने जाने के पूर्व भी बाण शंकर की वन्दना करते है।[१] चण्डीशतक मे कवि की चण्डी पर भक्ति प्रकट हुई है, जो शकर की ही अर्धांगिनी है। हर्षचरित (१।२) में भी कवि ने उमा को प्रणाम किया है। कादम्बरी मे त्रयीमय त्रिगुणात्मक को नमस्कार कर के कवि शंकर को ही प्रणाम करता है।[२] पर बाण कालिदास की भाँति स्वतन्त्रचेता थे, वे किसी सम्प्रदाय मे प्रतिबद्ध नही थे। विष्णु के प्रति भी उन्हे इतनी श्रद्धा थी, जितनी शकर के प्रति।[3] बौद्धधर्म के प्रति वे सहिष्णु थे, दिवाकर मित्र के प्रति उनकी हार्दिक श्रद्धा इसका प्रमाण है।

अपने गुरु मे भी बाण की बडी श्रद्धा थी।[४] कवियो में उन्हे कालिदास से अनन्य अनुराग था। भास की नाट्यकला से भी वे प्रभावित हुए थे। व्यास को वे कवि-वेधा समझते थे और सुबन्धु की वासवदत्ता (?) का तो वे लोहा मानते थे। भट्टारहरिश्चन्द्र के गद्य ने कवि का मन मोहा था तथा आढ्यराज का भी वह प्रशसक था।[५]

तन्त्रमन्त्र की शक्ति मे बाण का विश्वास था। तान्त्रिक भैरवाचार्य पर उनकी श्रद्धा है।[६] लक्ष्य की प्राप्ति के लिए श्मशानसाधना या वेतालसाधना को भी वे उचित समझते थे[७]। श्रीकण्ठ नाग का प्रकट होना,[८] भैरवाचार्य का विद्याधर बन जाना[९] आदि घटनाओ के चित्रण मे लगता है कि कवि को इस प्रकार की प्राकृतेतर घटनाओ मे तथा शक्तियो मे विश्वास था।

यज्ञ, पूजा, हवन, दक्षिणादान—ये बाण की दृष्टि मे मनुष्य के कर्त्तव्य है। गौ-भक्ति भी कालिदास की भाँति उनमे विद्यमान थी।[१०] शकुन,[११] ज्योतिष,[१२] स्वप्न,[१३] पुनर्जन्म[१४] तथा अगविद्या मे उनका विश्वास था।

---

१ हर्षचरित, १।१। २. हर्षचरित, पद्य—२।
३. कादम्बरी, पद्य—२। ४. कादम्बरी, पद्य—४।
५ हर्षचरित, पद्य—३—१८।
६. हर्षचरित, पृ० १६५—६६। ७ वही, पृ० १७८—७९। ८ वही, पृ० ९८६।
९. वही, पृ० ९१। १० हर्षचरित पृ० ९१, २५१—५४, २११—१२।
११. द्रष्टव्य—कादम्बरी मे चन्द्रापीड का विजययात्रा से पुनरागमन तथा हर्षचरित में प्रभाकरवर्धन की मृत्यु का प्रकरण।
१२. हर्षचरित, पृ० २०४, २१९, कादम्बरी, पृ० ६५, १६२।
१३. कादम्बरी, पृ० ६२। १४. वही, पृ० ७२।

स्वभाव

हर्षचरित मे बाण शिशु की भाँति सरल, भावुक और स्नेहमयी प्रकृति के एक उदारचेता व्यक्ति के रूप मे हमारे सामने आते है। अपनी जन्मभूमि प्रीतिकूट और उसके पास बहने वाली नदी शोण से उन्हे अनुराग है।[१] बाण बडे ही क्षमाशील और उदार प्रकृति के है[२], पर जहाँ उनके स्वाभिमान को ठेस पहुँचती है, वहाँ वे उत्तेजित भी हो जाते है। उन्हे अपने उच्चकुल, विद्या आदि पर गर्व है तथा अपने ऊपर झूठा लाछन वे कदापि नही सह सकते।[३] स्वाभिमान और निर्भीकता बाण की प्रकृति के सबसे बडे गुण है। वे बडे से बडे नरपति से भी सच्ची बात कहने मे नही हिचकिचाते।[४] वे निर्बन्ध और रूढिमुक्त जीवन बिताना चाहते है। किसी राजा की चाटुकारिता या सेवा करने मे उन्हे घृणा है।[५] वे राजा हर्ष से इसलिए मिलना नही चाहते कि उन्हे चाटुकारिता आती ही नही, कैसे वे राजा को प्रसन्न कर सकेगे।[६] बाण को लोक-निन्दा का भय नही था। उनकी स्वतन्त्र दृष्टि के कारण उन पर समाज मे लाछन लगाने वाले अनेक व्यक्ति थे, पर बाण उनकी परवाह नही करते थे। अपनी उदार दृष्टि के कारण वे परम्परागत संकीर्ण विचार-धारा को अपना नही सकते थे। उन्हे अपनी शूद्रा माता से उत्पन्न भाइयो—चन्द्रसेन और मातृपेण पर अपार स्नेह था। बाण की मण्डली मे नर्तकियाँ और गायिकाएँ भी थी, और बाण उनके कारण लोकापवाद से घबराते नही थे।

'बाण के चरित्र की दूसरी विशेषता उनकी गुणग्राहिता है। यह विशेषता उनमे सीमा से अधिक थी। किसी व्यक्ति को देख कर वे उसके तुरन्त प्रशसक बन जाते थे[७] और उसकी प्रशंसा करते थे तो पुल बाँध कर।

बाण का व्यक्तित्व चार प्रकार की प्रवृत्तियो से मिल कर बना था। एक तो उनके स्वभाव मे रईसी का पुट था, दूसरे वशाचित विद्या की प्रवृत्ति थी (वैपश्चितीमात्मवशोचिता प्रवृत्तिमभजत्), तीसरे उन्हे साहित्य और विविध कलाओ से अनुराग था और चौथे उनके मन मे वैदग्ध्य या छैलपन का पुट था। उनका स्वभाव अत्यन्त सरल, सजीव और स्नेही था। भारतीय साहित्यिको के लम्बे इतिहास मे यदि किसी के साथ

---

१ हर्पचरित, पृ० ३०। २ वही, पृ० ११८–१९।
३. वही, पृ० १२९। ४. वही।
५. हर्पचरित के सप्तम उच्छवाद मे हंसवेग के मुख से कहलवाये गये उद्गार बाण की परतन्त्रता तथा नौकरी के प्रति घृणा को मार्मिक ढग से प्रकट करते है।
६ हर्पचरित, पृ० ८९। ७. वही, पृ० १३३।

उनके स्वभाव की पटरी बैठती है तो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के साथ।'[१] शैशव मे माता और कौमार्य मे पिता के वियोग ने बाण को फक्कड बना दिया था, स्नेह और प्रेम की भूख ने उन्हे इधर से उधर भटकाया—और अनेक साथियो और मित्रो की मण्डली बनाने की प्रेरणा दी। अपने साथियो के बीच रह कर बाण मोक्ष सुख का अनुभव करते थे।[२]

अपने युग के नागरिको के बीच रह कर बाण मे जिन्दादिली और शृगार-भावना उत्कृष्ट रूप मे विकसित हुई। मध्ययुग के अन्य कवियो की तरह बाण भी स्त्रियो के अंगो का उल्लेख करने का कोई मौका हाथ से नही जाने देना चाहते। मन्दाकिनी के वर्णन मे—अनेकनाकनायिकानकायकामिनीकुचकलशलुलित-विग्रहाम् (हर्षचरित पृ० २९) या पम्पासरोवर के वर्णन मे—अनवरतमज्जदुन्मदशवरकामिनीकुचकलशलुलितजलाम् (कादम्बरी ५१) जैसे विशेपण बाण की उन प्रवृत्ति को द्योतित करते है, जो उन्हे अपने युग की नागरिक सस्कृति से विरासत मे मिली थी।

बाण के मन मे उत्सुकता और कौतूहल की प्रवृत्ति अत्यधिक थी, जिसने उनको विभिन्न देशो मे भटक-भटक कर नयेपन का आस्वाद लेने को प्रेरित किया था—(देशान्तरावलोकनकौतुकाक्षिप्तहृदय—हर्षचरित, पृ० ६७), इसी अदम्य प्रवृत्ति से प्रेरित होकर बाण ने न जाने कहाँ-कहाँ की खाक छानी थी और न जाने कितने लोगो से परिचय बढाया था। अन्त मे वे जब अपनी जन्मभूमि प्रीतिकूट आये तो उन्हे लगा जैसे वे भूले-भटके बालक की तरह अपनी माँ की गोद मे आ पहुँचे है। बाण का मन सम्भवत इस समय अपनी अश्रान्त यात्राओ से क्लान्त और विभिन्न अनुभवो से परिपूर्ण हो गया था, अब जैसे उसे कुछ विश्राम और एकान्त की आवश्यकता थी। इसीलिए जब ऐसे समय मे हर्ष से भेट करने का प्रस्ताव उनके समक्ष आया तो पहले उनका मन इसके लिए तैयार नही हुआ। वह यात्रा को टालने के लिए दलीले देने लगा—राजसभा मे बड़े खतरे है, मेरे पूर्वजो की न तो इसमे रुचि रही है और न मेरा राजसभा से वशपरम्परागत सम्बन्ध ही रहा है, न पहले से मेरा उनसे मेलजोल ही रहा है, न यह प्रलोभन है कि पाण्डित्य के विपयो मे वहाँ आदान-प्रदान होगा, न यह चाह ही है कि जान-पहचान बढाऊँ।[३]

बाण अत्यन्त ही विनम्र और व्यवहार-कुशल थे। उनके भीतर निरन्तर उच्छलित

---

१. हर्षचरित - एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ० २७।

२. हर्षचरित, पृ० ६९।

३. हर्षचरिय, पृ० ८९।

होने वाला स्नेह उनके वार्तालाप मे छलका पडता था। हर्ष के पास से प्रीतिकूट लौट कर बाण ने प्रीतिगद्गदमन से अपने परिजनो से जो कुशल प्रश्न किये उनमे हम यही बात देखते है।[१] तभी तो बाण को उनके ग्रामवासी और सभी परिचित अत्यधिक चाहते थे। शिशुओ के लिए बाण के मन मे अपार वात्सल्य था। उनका मन बालको की तोतली बाते सुनने और मधुर लीलाएँ देखने के लिए ललक उठता था।[२] बालक हर्ष के वर्णन मे बाण का मन वात्सल्य के उफान से छलका पड रहा है।[३]

शिष्टाचार और विनय के प्रदर्शन मे बाण पक्के है। हर्ष के दरबार मे अपने स्वाभिमान पर चोट लगने पर—उत्तेजना की अवस्था मे भी—वे राजा की मर्यादा को भूले नही है, और कथनो मे उनके आहत गर्व के साथ विनय और शिष्टता का मधुर समन्वय है। इसी प्रकार हर्षचरित सुनाने का आग्रह करते हुए अपने बान्धवो से भी वे कहते है—'आर्य आप स्वय ही देखे, परमाणु की भाँति मेरे जैसे वटु का हृदय कहाँ और सारे ब्रह्माण्ड मे व्याप्त देव हर्ष का चरित कहाँ? कुछ थोडे से अक्षरो वाले मेरे शब्द कहाँ और देव के असख्य गुण कहाँ?[४] आदि। बाण के ये कथन विनय मात्र ही है। उन्हे अपने पाण्डित्य और कवित्व-शक्ति का अहसास न हो, ऐसा नही। पर कादम्बरी मे वे अपने कथा को 'अतिद्वयी कह कर भी अपनी बुद्धि को 'महामनोमोहमलीमसान्धा' तथा अलब्धवैदग्ध्यविलासमुग्धा कहते है।[५] कालिदास की भाँति बाण भी हर्षचरित के प्रारम्भ मे विनय प्रकट करते हुए कहते है—

> तथापि नृपतेर्भक्त्या भीतोनिर्वहणाकुल:।
> करोम्याख्यायिकाम्भोघौ जिह्वाप्लवनचापलम्॥ १९॥

शिष्ट हास्य और व्यंग्यविनोद की प्रवृत्ति बाण मे थी। उनके दोनो ही काव्यो मे ऐसे अनेक स्थल मिलते है, जहाँ उन्होने मधुर हास्य की छटा विखेरी है या अपने युग की किसी विकृति पर व्यग्य किया है। कादम्बरी मे तारापीड का विलासवती से परिहास[६], चन्द्रापीड का कादम्बरी के भवन मे नर्मालाप[७], आदि ऐसे प्रसग है, जहाँ बाण का विनोदी स्वभाव सामने आया है। जरद्द्रविड-धार्मिक के वर्णन मे उनकी व्यंग्य की वृत्ति स्पष्ट है।[८]

पाण्डित्य

विद्वत्ता बाण की पैतृक सम्पत्ति थी। उन्होने वेदवेदागो का सम्यक् स्वाध्याय किया

१ वही, पृ० १३७–३८।
२ कादम्बरी, पृ० ६२।
३ हर्षचरित, पृ० २२२–२३।
४ वही, पृ० १५०।
५ कादम्बरी, पद्य–२०।
६ वही, पृ० ६९।
७ वही, १९५।
८ कादम्बरी, पृ० २२६–२२७।

था तथा यथाशक्ति शास्त्रो का श्रवण भी ।[१] महाभारत तथा पुराणो का विशद अध्ययन बाण ने किया था ।[२] इतिहास पुराणो का अगाध ज्ञान कवि को था, जिनको वह स्थान-स्थान पर अपनी कृतियो मे प्रकट करता चलता है ।[3] कवियो मे वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, प्रवरसेन, भट्टार हरिश्चन्द्र तथा आढ्यराज की कृतियो के साथ बृहत्कथा, सातवाहनके प्राकृतगाथाकोण और वासदत्ता का अध्ययन किया था ।

पर्यवेक्षण

मानवमनोविज्ञान मे बाण की गहन और सूक्ष्म दृष्टि है । शुकशावक की जिजीविषा और तृष्णा के चित्रण मे मानवीय भावनाओ का तलस्पर्शी चित्रण बाण ने किया है ।[४] एक ओर तो शुकशावक चाहता है कि उसकी मृत्यु ही आ जाय, दूसरी ओर वह पानी की एक बून्द के लिए तरसता हुआ सरोवर की ओर जाने का प्रयास करता है । तारापीड़ और विलासवती की पुत्रप्राप्ति की इच्छा का भी अत्यन्त ही स्वाभाविक चित्रण बाण ने किया है, जो उनके स्वय के पर्यवेक्षण से प्रसूत है । तारापीड को पुत्रप्राप्ति का समाचार सुनकर विश्वास ही नही होता और वे समझते है कि कुलवर्धना उनसे झूठ बोल रही है । इस प्रकार के प्रसगो से यह पता चलता है कि बाण ने मनुष्य के मन की अतल गहराइयो की कितनी थाह ली थी । युवा मन की प्रणय भावना मे तो बाण की आश्चर्यजनक सूक्ष्मदृष्टि है । कादम्बरी-चन्द्रापीड और महाश्वेता पुण्डरीक—इनकी भावनाओ का जो यथार्थ चित्रण बाण ने किया है, वह उन्हे युवामन के सर्वोत्तम पारखी के रूप मे प्रतिष्ठित करता है ।

अपने युग की सस्कृति तथा सामयिक परिवेश का सूक्ष्म अध्ययन बाण ने किया था । यह उनका अपना क्षेत्र है, जिसमे सस्कृत का कोई कवि उनसे होड ले ही नही सकता । हर्षचरित के द्वितीय उच्छ्वास मे प्रीतिकूट ग्राम का यथादृष्ट चित्र उन्होने अकित कर दिया है ।[५] कादम्बरी का राजकुलवर्णन बाण की आश्चर्यजनक पर्यवेक्षणशक्ति का उदाहरण है ।[६] हर्षचरित मे राजद्वार[७], मन्दुरा[८], ग्राम[९] जगल[१०] तथा कादम्बरी मे

---

१. हर्षचरित, पृ० १२९ । २. कादम्बरी, पृ० ६१, १७५ ।
३: हर्षचरित, पृ० ३४६–४७, ३७१, ४३९ आदि ।
४. कादम्बरी, पृ० ३४–३६ ।
५. हर्षचरित, पृ० १७२ । ६. कादम्बरी, पृ० ८६ ।
७. हर्षचरित, पृ० ९३ । ८. वही, पृ० १०२–१०३ ।
९. हर्षचरित्र, पृ० ३९७ । १०. वही, पृ० ४१०–४११ ।

कन्यान्त पुर[4], शूलपाणिसिद्धायतन, सूतिकागृह[3], नगरी[2] आश्रम तथा मृगया[1] आदि के वर्णन इस बात के प्रमाण है। अपने युग की कोई भी वस्तु बाण का सूक्ष्म दृष्टि से छूटी नही थी। सन्तान के लिए कौन से व्रतनियमादि करने चाहिए[5], रोगी की परिचर्या कैसे हो[6] गर्भवती या प्रसूता के लिए क्या-क्या आवश्यक है यह सब अत्यन्त चतुर कुल-वृद्धाएँ भी उतने विस्तार से नही बता सकेगी, जितना बाण।[7]

बाण का प्रकृति-पर्यवेक्षण भी उतना ही सूक्ष्म है। जगल, उद्यान, वन, उपवन, सरिता आदि का एक-एक कोना बाण ने छान डाला था। वन मे उगने वाले असख्य पेड पौधो मे से जैसे एक-एक से उन्हे परिचय है।[8] ऋतुओ के चक्र का इतना स्वाभाविक चित्रण भी बहुत कम कवियो मे मिलता है, जितना बाण मे। हर्षचरित मे ग्रीष्म ऋतु का वर्णन[9], कालिदास के ऋतुसहार के ग्रीष्म वर्णन के समक्ष कथमपि हीन नही है। तृतीय उच्छ्वास मे भी शरद्वर्णन मे बाण का ऋतुओ का पर्यवेक्षण द्रष्टव्य है।[10]

बाण ने समाज मे रहकर विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो की प्रवृत्ति और चेष्टाओको गहराई से निरखा-परखा था। इसीलिए बाण जितनी सूक्ष्मता से राजा हर्ष, तारापीड या शूद्रक के व्यक्तित्व का चित्रण कर सके है, उतनी ही सूक्ष्मता से महर्षि जाबालि, तान्त्रिक भैरवाचार्य, शबर सेनापति, चाण्डाल कन्या या कादम्बरी का भी।

काव्य-प्रतिभा

संवेदना

बाण को जीवन और जगत् से गहरा लगाव था। वे बडे ही भाव-प्रवण व्यक्ति थे तथा उन्हे मानव मात्र से गहरी सहानुभूति थी। उनके दोनो गद्यकाव्यो मे करुण स्थितियो के चित्रण मे बाण की प्रगाढ सवेदना उच्चतम स्तर पर दिखाई देती है। पिता की व्याधि पर हर्ष की स्थिति, प्रभाकरवर्धन की मृत्यु पर शोक मे डूबा राजप्रासाद और अन्त पुर—इन सब प्रसगो मे अपनी गहन सवेदनाशीलता के कारण बाण विषाद के वातावरण को मूर्तिमान् करने मे सफल हुए है। ऐसे प्रसगो मे लगता है, जैसे स्वय कवि

---

१. कादम्बरी, पृ० १८२।
२ कादम्बरी, पृ० १२६।
३ वही, पृ० ७०।
४ वही, पृ० ५०।
५ वही, पृ० ३८।
६ वही, पृ० २८।
७ कादम्बरी, इन्द्रापीडजन्म मे।
८ द्रष्टव्य—कादम्बरी, पृ० १९, ३८।
९ हर्षचरित, पृ० ७३–७४।
१० वही, पृ १३५–३६।

का हृदय सहस्रधा विदीर्ण हो रहा हो। बाण मे मनुष्य के मन की सच्ची समझ और उसके प्रति इतनी अपार करुणा है कि वे उसकी गहराइयो मे पैठकर पाठक के सहृदय मन को करुणाप्लावित बना देते है। हर्षचरित मे पिता की मृत्यु के पश्चात् दोनो भाइयो का मिलन करुणा के कितने प्रगाढ रगो से रंगा हुआ है। ऐसे प्रसगो को पढते समय विषाद का गहन अन्धकार आँखो के आगे छाता हुआ-सा लगता है। यह बाण की सच्ची सवेदनशीलता का प्रमाण है। कादम्बरी मे महाश्वेता का वृत्तान्त कितना हृदयद्रावक है। वैशम्पायन के शापग्रस्त होने पर चन्द्रापीड के मन का विषाद जैसे कवि के अपने ही मन का विषाद है। कवि को अपनी सवेदनशीलता के कारण सारी प्रकृति और चराचर जगत् करुणा और स्नेह से पगा हुआ लगा। आज भी पचवटी मे बरसात के समय मेघघोष को सुनकर राम के धनुष की टकार का स्मरण करके निरन्तर अश्रुलुलितदीनदृष्टि मृग घास खाना छोड देते है।[1] बाण के सवेदनाजगत् मे कही बन्दर भी अन्धे वृद्ध तपस्वियो को लाठी पकडाकर मार्ग दिखला रहे है, हरिण ऋषियो के लिए अपने सीगो से कन्दमूल खोद रहे है। तथा ऋषिकुमार जगल के शूकरो की दाढो मे लगे तीक्ष्ण घासो को निकाल रहे है।[2] कही धर्मपीडित सर्प मयूर के बह मे छिपने की चेष्टा कर रहा है, तो कही कुरंगशावक अपनी माँ को छोडकर वात्सल्यमयी सिंही के स्तनो से झरते दूध का पान कर रहा है, हाथी अपने कपोल हिलाते नही, ताकि मद-पान के लिए बैठे भ्रमरो को कष्ट न हो।[3] ये सभी चित्र बाण की सवेदनामय दृष्टि से प्रसूत हुए है।

कल्पना

बाणभट्ट की कल्पनाशक्ति अत्यन्त उर्वर है। नयी-नयी कल्पनाओ का अटूट भण्डार जैसे उनकी कवि-प्रतिभा मे भरा हुआ है। उनकी सूझ-बूझ अद्भुत है। एक के बाद एक नवीन से नवीनतर कल्पना उनके मस्तिष्क मे आती चली जाती है और पाठक कवि की मानसिक शक्ति और सूझ-बूझ पर दग होता रहता रहता है। ब्रह्मा का यज्ञोपवीत कवि को ऐसा लगता है, जैसे उनके कमल से उत्पन्न होते समय उसका मृणाल-सूत्र उसके स्कन्ध मे अटक गया हो।[4] सवेरे के समय क्षितिजपटल पर छायी लालिमा मानो अत्यन्त वेग से दौडते सूर्य के घोडो के मुख से लगाम के घिसने से निकलते हुए रक्त के बिखरने से उन्पन्न हुई है।[5] ढलते हुए दिन का तेज साफ-सुथरे पीतल के समान मन्द है।[6]

१ कादम्बरी, पृ० २१।
२ वही, पृ० ३९।
३. वही, पृ० ४५।
४ हर्षचरित, पृ० १८।
५. हर्षचरित, पृ० ।
६ वही, पृ० १३१।

बाण की कल्पना वर्ण्य को कई गुना अधिक सुन्दर बनाकर सामने रखने मे पटु है। आभरणो की प्रभा मे पिशगित अगो वाला शूद्रक ऐसा लगता है, जैसे शकर की क्रोधाग्नि मे जलता हुआ कामदेव हो।[1] नीले वर्ण के कंचुक से अवच्छन्न शरीर वाली तथा उसके ऊपर रक्त अंशुक धारण किये हुए चाण्डाल कन्या ऐसी लगती है, जैसे नीले कमलो की स्थली पर सन्ध्या के सूर्य की किरणें बिछी हो।[2] कही-कही बाण की कल्पना वर्ण्य को विशद न करती हुई भी नये रग बिखेर कर मानसिक कौतूहल को तृप्त करती है। जाबालि के वर्णन मे कवि ने कहा है—वे ऋषि उग्र शाप के भय से कम्पित देह वाली, प्रणयिनी के समान वेश ग्रहण करने वाली, क्रुद्ध के समान भौहे टेढी करने वाली, पत्नी के समानआकुलित गति वाली, जरा से युक्त थे।[3] इस प्रकार को प्रवृत्ति श्लेष-मूलक अलकारो मे अपनी चरम-सीमा पर पहुंच गयी है और ऐसे स्थलो पर बाण की कल्पना समजन या सन्तुलन छोड देती है।

पर अधिकाश स्थलो पर कल्पनाओ का आडम्बर लगाकर वर्ण्य का स्वरूप विशद से विशदतर बनाया जाता है। शवरसैन्य अर्जुन के सहस्र भुजदण्डो से विप्रकीर्ण नर्मदा के प्रवाह के समान, वायु के झकझोरो से विचलित तमाल कानन के समान, कालरात्रियो के एकीभूत यामसंघात के समान, भूकम्प मे बिखर गये अजन की शिलाओ के ढेर के समान, रविकिरणो से आकुलित अन्धकार के समान है—इस वर्णन मे प्रत्येक उपमा अपने आप मे सार्थक है और शबर सैन्य की भयानकता और विशालता को विशद करती है।[4]

बाण की कल्पना वातावरण के तथा वर्ण्य के अनुरूप बिम्बो, रगो और उपमानो का प्रयोग करके पाठक को चमत्कृत कर देती है। नगर दृश्यो का वर्णन करते समय विलासमय तडकीले-भडकीले बिम्ब अपनाये गये है और तपोवन, आश्रम आदि के वर्णन मे शान्त गरिमामय और पावन वातावरण की सृष्टि के लिए उसी प्रकार के बिम्बो का सृजन किया गया है। कादम्बरी मे तपोवन मे सन्ध्या का वर्णन इसका उदाहरण है। सन्ध्या के समय स्नान से निवृत्त हुए मुनिजनो ने पृथ्वी पर जो रक्तचन्दन का अगराग लगाया था, सूर्य ने उसे मानो साक्षात् धारण कर लिया। ऊपर मुख किये हुए, सूर्य बिम्ब पर टकटकी लगाये हुए तपोवनो के द्वारा मानो अपना तेज पी लिये जाने के कारण सूर्य क्षीण तेज वाला हो गया।—पृथ्वीतल को छोडकर कमलिनी वनो का त्याग करके पक्षियो के समान सूर्य की किरणो ने भी तपोवन के तरुओ के शिखरो पर निवास किया।

१. कादम्बरी, पृ० ९।
२ वही, पृ० १०।
३ वही, पृ० ४१।
४. कादम्बरी, पृ० ३४।

सूर्य की लाल धूप के थक्को से युक्त वृक्ष ऐसे लगते थे जैसे मुनियो से अपने लोहित वस्त्र उन पर टाँग दिये हो।—ऐसी उस सन्ध्या मे आश्रम मे कही पर मुनि ध्यान कर रहे थे, कही पर गायो के दुहने की मनोहर ध्वनि उठ रही थी, कही पर अग्निहोत्र की वेदी पर मनोहर कुश बिछाये जा रहे थे, कही पर दिग्देवताओ के लिए बलि बिखेरा जा रहा था। साँझ ऐसी घिरती आ रही थी जैसे दिन भर घूम कर कोई चितकबरी गाय तपोवन मे वापस लौट आ रही हो। सूर्य के चले जाने के शोक मे विधुर, कमल की कलियां रूपी कमण्डलु धारण किये हुए, हंस रूपी श्वेत-दुकुल पहने हुए मृणाल-रूपी धवल यज्ञोपवीत से युक्त देह वाली, मधुकर-मण्डल रूपी अक्ष-जलय धारण किये हुए कमलिनी सूर्य के समागम के लिए मानो व्रत चर्या करने लगी। शीघ्र ही कन्याओ द्वारा बिखेरे गये सन्ध्यार्चन के कुसुमो से सारा आकाश छितरा हुआ सा तारो से भरने लगा। कुछ क्षणो के बाद ही मुनियो द्वारा बिखेरे गये प्रणामाजलि के जल से सन्ध्या की लालिमा मानो सारी की सारी धुल गयी।[१] इस वर्णन मे तपोवन मे घिरती हुई सन्ध्या का वातावरण अतीव उपयुक्त किन्तु सहज स्वाभाविक बिम्बो द्वारा साकार किया गया है। बाणभट्ट की कल्पना मे यह विशेषता प्राय सर्वत्र ही मिलती है, चाहे कवि को बसन्त मे मधुमास, मधुमास मे नवपल्लव, नवपल्लवो के बीच कुसुम, कुसुम मे मधुकर और मधुकर मे मद के समान आविर्भूत होते हुए महाश्वेता के यौवन का वर्णन करना हो[२] या गोरोचना का तिलक किये शकर का अनुकरण करके तृतीय नेत्रधारण किये हुए, किरात-वेश धारिणी पार्वती जैसी चाण्डाल कन्या का,[3] या शूद्रक, तारापीड, हर्ष जैसे राजाओ का या कादम्बरी महाश्वेता जैसी नायिकाओ का, उज्जयिनी, विदिशा जैसी नगरियो का।

बाणभट्ट की कल्पना इतनी शीघ्रता से एक के बाद एक रगरगीले दृश्यो और बिम्बो की सृष्टि करती चली जाती हैं कि उनके वर्णन शब्द-चित्र ही नही विभिन्न रगो के कारण अत्यन्त रमणीय किसी लोक के समान लगते है। 'भारतीय प्रकृति के पट-परिवर्त्तन मे बाण ने कितने प्रकार के रंगो को अपने शब्दो मे उतारा है—अकेले इसका विचार कम रोचक न होगा। जब वे शीत-ऋतु की प्रात कालीन धूप की उपमा चम-चम करते फूल के बर्त्तनो से अथवा हर्ष के द्वारा पिता के लिए दिये गए प्रेतपिण्डो के रंग का चिरौटे के गले के रंग से देते है, तो ऐसा लगता है कि जानी-पहचानी हुई वस्तुओ के निरीक्षण और वर्णन मे एक नया अध्याय जोड रहे हो।[४]' रगो के प्रति

१. कादम्बरी, पृ० ४७–४८। २. वही पृ० १३७।
३. वही पृ० १०। ४ हर्षचरित : एक सास्कृतिक अध्ययन, पृ० ४८।

गहरा आकर्षण और वर्णनो मे नये-नये रगो की सृष्टि बाण की कल्पना की अपनी विशेषता है, जिसे अन्य कवियो मे हम इस रूप मे नही पाते ।

बाण का कल्पना-जगत् सस्कृत कवियो मे सबसे विशाल और समृद्ध है तथा उनकी कल्पना विभिन्न रूपो मे, विभिन्न रंगो मे लुभाती है। रईसी, मस्तमौला तबीयत के होते हुए भी बाण की चेतना की जड़ें आदर्शवाद से अभिषिक्त थी । इसीलिए उनकी कल्पना ने अपने परिनिष्ठित रूप में उनके आदर्शों का भव्य अंकन किया है । बाण के उच्चतम आदर्श उनके कल्पनात्मकचित्रो मे प्रतिबिम्बित है । कादम्बरी और महाश्वेता सस्कृत के नारी पात्रो मे अद्वितीय हैं । चन्द्रापीड और शूद्रक के चित्र उतने सजीव न होते हुए भी बाण की आदर्शमूलक परिकल्पना की ही सृष्टि है । हर्ष का चरित्र भी बाण की आदर्श-निष्ठा कल्पना से ही प्रसृत हुआ है, यद्यपि वह श्रद्धा के अतिरेक मे अतिरजित हो गया है ।

बाण की अतिरजित कल्पनाएँ उपमाओ मे या प्राकृतेतर घटनाओ के चित्रण मे मिलती है । ऐसी कल्पनाएँ कथ्य की गरिमा के अनुरूप है और वे एक-एक दैवी वातावरण की सृष्टि करती है, जो उनके गद्यकाव्यो की वस्तुयोजना के लिए अपेक्षित है । अपने सूक्ष्म पर्यवेक्षण और सामयिक जीवन से गहरे लगाव तथा युगीन सस्कृति मे रचे-पचे होने के कारण बाण की कल्पना का यथार्थ रूप अत्यधिक प्रभावशाली है । पर उनकी कल्पना का प्राण उसका मानवीकरणात्मक रूप है और बाण जैसे सवेदनशील भावमय कवि के लिए यह स्वाभाविक भी है ।

बाण प्राय प्रकृति को मानवीय भावनाओ से रगी हुई पाते है । सूर्य अस्त हुआ—यह कहने के स्थान पर—अत्रान्तरे सरस्वत्यवतरणवार्त्तामिव कथयितुं मध्यम लोकमवततारांशुमाली—यह कहना बाण का स्वभाव है । प्रभाकरवर्धन का रुग्णता से खिन्न होकर बाण की दृष्टि मे सूर्यदेव दुखी और तेजोविहीन होकर अधोमुख होने लगते है ।[1] उनकी मृत्यु पर सूर्य तेज से रहित होकर मानो राजा के प्राण हरने से उत्पन्न हुए अपने पुत्र यम के अपराध के कारण मुँह नीचा किए हुए लज्जित होते है तथा राजा के अभाव से मानो भीतर ही भीतर शोकानल से सन्तप्त होकर ताम्रवर्ण के हो जाते है ।[2] सन्ध्या के समय सूर्य के समागम व्रत का आचरण करती हुई कमलिनी का चित्र अत्यन्त ही भावप्रवण है ।[3]

---

१. हर्षचरित, पृ० २५५ । २. हर्षचरित, पृ० २८८ ।
३. कादम्बरी, पृ० ४२ ।

बाण की कल्पना कही-कही सयम और सतुलन खो देती है। कल्पना मे अतिरजन या बढा-चढा कर कहने की प्रवृत्ति के कारण कहा-कहाँ हिन्दी के रीतिकालीन कवियो जैसी हास्यास्प्रद कल्पनाएँ भी बाण मे मिलने लगती है। विन्ध्याटवी के वृक्ष मानो अत्युच्च होने के कारण तारागणो को शिखर पर धारण करते है।[१] पम्पासरोवर प्रलय-काल मे अष्टसन्धिबन्ध टूट जाने से पृथ्वी पर गिरे हुए आकाश के सदृश है।[२] इस प्रकार शाल्मलीवृक्ष[३], इन्द्रायुध[४], आच्छोद सरोवर आदि के वर्णनो मे भी बाण वर्ण्य को ससार मे अपने ढग की एक ही चीज बतलाना चाहते है। वस्तुयोजना को गरिमा-मय रूप देने के लिए कुछ अशो तक यह उचित भी है, पर बाण की अतिशयता सर्वत्र रुचिकर नही है।

सौन्दर्यबोध

बाण को इस जगत् मे प्रतिक्षण अनूठे अभिनव मनमोहक सौन्दर्य के दर्शन हुआ करते है। अपने एक नायक के विषय मे वे कहते है—चन्द्रमा उसके लावण्यप्रवाह का चुआ हुआ एक बिन्दु ही तो है। उसके नेत्रों के विलास ही तो सफेद, काले और लाल कमलो के आकार है। अधरो की कान्ति ही तो बन्धूक की खिली हुई वनराजि है।[५] कालिदास की भाँति बाण की दृष्टि जिधर भी पडी, उन्हे सौन्दर्य का अटूट भाण्डार दिखाई दिया। उनकी दृष्टि मे असुन्दर और अरमणीय जैसे कुछ था ही नही। बीभत्स-वेष धारण करनेवाले जरद्द्रविड धार्मिक का वर्णन भी कवि की विनोदशीलता मे रंग कर रमणीय बन गया।[६] चाण्डाल कन्या कवि की कलम के स्पर्श से अनिन्द्य सुन्दरी बन गयी, जिसका रूप देख-देख कर दर्शक सदा अतृप्त बना रहा।[७] हर्ष को कवि वस्तुत जैसा देखा होगा, उससे उसको अपनी कवि दृष्टि द्वारा देखा गया हर्ष करोडो गुना सुन्दर और मनोहर लगा। कवि ने जिस वस्तु को अपनी लेखनी का स्पर्श दिया वही त्रिलोकी मे रमणीयतम और श्लाघ्य बन गयी अधिक क्या कहा जाय—व्यायाम के पश्चात् राजा शूद्रक के कपोलो पर उभर आयी पसीने की बून्दे भी कवि को "ईषदवदलितसिन्धुबार-कुसुममंजरीविभ्रमा" तथा "निर्दयश्रमच्छिन्नहारविगलितमुक्ताफलप्रकरानुकारिणी", और "ललाटपट्टकेष्टमीचन्द्रशकलतलोल्लसदमृतविडम्बिनी" लगी।[८]

---

१. वही, पृ० १९।
२ वही, पृ० २२।
३ वही, पृ० २३।
४. वही, पृ० ८०।
५. वही, पृ० १२४।
६. हर्षचरित, पृ० ४७।
७. वही, पृ० २२६–२२७।
८. कादम्बरी, पृ० ११–१२।

रंगो के प्रति आकर्षण और उनका मनोहर सयोजन बाण के सौन्दर्यबोध की अपनी विशेषता है। कादम्बरी मे शुकशावको के वर्णन मे उन्होने रगो की अपनी सूक्ष्म पहचान का परिचय दिया है।[1]

बाण का सौन्दर्यबोधक व्याप और गहरा है। यह उनकी अलंकार-योजना, शैली, भाषा और पद विन्यास मे भी देखा जा सकता है। बाण की उपमाएँ प्राय वर्ण्य के सौन्दर्य की एक के बाद एक परते उघाडती चली जाती है और वस्तु के सौन्दर्य को विभिन्न 'एंगिल्स' से उद्घाटित करती है। वर्ण्य और विषम के अनुरूप भाषा का प्रयोग बाण के सौन्दर्यबोध का ही परिचायक है। उनकी भाषा-शैली के निम्नलिखित नमूनो से उनकी इस विशेषता का अनुमान किया जा सकता है—दारयति दारुण क्रकच-पात इव हृदयं सस्तुतजनविरह (हर्षचरित, पृ० २३) एवमुक्ता मुक्ताफलधवललोचन-जललवा सरस्वती प्रत्यवादीत्—(हर्षचरित, पृ० २३)। नवाम्भोभरगम्भीराम्भोधर-ध्वाननिभया भारत्या नर्तयन् वनलताभवनभाजो भुंजगभुजः सुधीरमुवाच—(वही, पृ० ४५)।

अनुप्रासो की अनायास आई हुई छटा और नादसौन्दर्य भी बाण के सौन्दर्यबोध की व्यापकता का परिचय देते है। उनकी रचनाओ मे—स्वगतु गतरगतरलतरलतरता-रतारकाम् (हर्षचरित, पृ० ९), दापय वाजिन- पर्याणम् इति पुर स्थितशिर कृपाणं विभ्राण बभाण युवानम्—(वही, पृ० २५४), प्रेतपतिप्रयाणप्रहता पटव इव आरटन्तो हृदयास्फोटना पस्फायिरे निपतता निर्घाताना घोरा घननिर्घोषा —(वही पृ० २७४), या अस्मद्वशे करीण इव कोमलपि कलयता कृतान्तस्य क परिपन्थी ?—(वही, पृ० ३२०), जैसे वाक्य या वाक्याश उनके गद्य मे मिल जाते है। हर्षचरित मे यह प्रवृत्ति आवश्यकता से अधिक है, कादम्बरी मे बाण इस विषय मे सन्तुलित हो गये है।

उपसंहार

बाण की प्रतिभा मे कालिदास और भवभूति दोनो के श्रेष्ठ गुण विद्यमान है। अपनी अनाविल व्यापक सौर्न्यचेतना तथा सुकुमार कल्पना में जहाँ वे कालिदास के निकट हैं, वहाँ अपनी भावप्रवणता, अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति, पाण्डित्य और उसके प्रदर्शन में भवभूति के निकट। बाण का समकालीन परिवेश का गहरा अध्ययन, मानवीय भाव-नाओ की सच्ची समझ और उनका सहानुभूतिपूर्ण चित्रण उन्हे संस्कृत के इने-गिने कवियो के बीच प्रतिष्ठित कराते है, यद्यपि यह सत्य है कि बाण अपनी प्रतिभा का

१. वही, पृ० १५।

सन्तुलित रूप मे अपनी रचनाओ मे उपयोग करने मे असमर्थ रहे। आवश्यकता से अधिक कहने की प्रवृत्ति से उनकी प्रतिभा सदैव आक्रान्त रहती थी, जिसका मूलकारण समकालीन साहित्यिक वातावरण था। यदि बाण मे थोडा संयम होता तो युग युगो तक मानवीय हृदय को अभिभूत करने और सम्बल देने वाली कृतियो की सृष्टि कर सकते थे और उनका स्थान कालिदास से ऊँचा होता। फिर भी बाण अपने परवर्त्ती कवियो से बहुत ऊँचे है जिनमे बाण की प्रतिभा की दुर्वलताएँ तो और भी अधिक अनुपात मे हैं, पर उनकी सवेदना, समृद्ध कल्पना और प्रगाढ रागात्मकता का अभाव है।

हर्षदेव

आभिजात्य

मंजुश्री मूलकल्प के लेखक ने वर्धनवंश के राजाओं को वैश्यवश का बतलाया है। वर्धन उपाधि भी इस बात को प्रकट करती है और ह्वेनसाग के लिखे हुए भ्रमण-वृत्तान्त से इसकी पुष्टि होती है। हर्षदेव के पूर्वज—नरवर्धन, राज्यवर्धन, आदित्यवर्धन तथा प्रभाकरवर्धन—सूर्य के अनन्य उपासक थे। छठी शती मे सूर्योपासना का प्रचार भी था।[1] बाण ने पुष्यभूति को वर्धनवश का पूर्वपुरुष बतलाया है, जो उनके अनुसार अत्यन्त ही प्रतापी था। पुष्यभूति के वश मे प्रभाकरवर्धन थानेश्वर का प्रथम राजा था, जिसने अपने शौर्य से ख्याति प्राप्त की थी। उसने परमभट्टारक तथा राजा-महाराजाधिराज की उपाधियाँ धारण की थी। प्रभारवर्धन की पत्नी महासेन गुप्ता गुप्तवंश की थी। उसने प्रभाकरवर्धन की तीन सन्ताने हुई—राज्यवर्धन, हर्षवर्धन तथा राज्यश्री।

जीवन

बाण के विवरण के आधार पर श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने हर्ष का जन्म शक संवत ५१२ (५६० ई०) निर्धारित किया है। बाण के अनुसार हर्ष का जन्म ज्येष्ठ के कृत्तिका नक्षत्र मे कृष्णपक्ष को द्वादशी के दिन सन्ध्या के उपरान्त रात्रि के समय हुआ था।[2]

हर्ष की शिक्षा-दीक्षा अपने अग्रज राज्यवर्धन के साथ हुई। साहित्य और कलाओ के साथ-साथ उन्हे अस्त्रविद्या और सैन्यसंचालन की भी शिक्षा दी गयी थी। सन् ६०४ ई० मे हूणो ने उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रान्त पर आक्रमण किया और सम्राट् प्रभाकरवर्धन ने राज्यवर्धन को उनका दमन करने के लिए भेजा। तब हर्ष भी अपने बडे भाई के साथ सीमान्तप्रान्त की ओर गये। और राज्यवर्धन उत्तर की ओर जाने पर हिमालय की तराइयो मे आखेट करते हुए कुछ समय तक रुक गय। पर पिता की अस्वस्थता का समाचार पाकर उन्हे स्थाण्वीश्वर लौटना पडा।

---

१. हर्षवर्धन : गौरीशंकर चटर्जी, पृ० ६५।

२. हर्षचरित पृ० २११।

इसी समय उनके पिता की मृत्यु हो गयी और हर्ष के आगे परिस्थियाँ कुछ वर्षों के लिए जटिल से जटिलतर रूप धारण करके सामने आयी। उनकी बहन राज्यश्री के पति गृहवर्मा को मालवानरेश ने मार डाला और राज्यश्री को बन्दी कर लिया गया। राज्यवर्धन ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण करके अपने बहनोई के शत्रुओं को परास्त किया पर उनकी भी गौडनरेश शशाक (?) द्वारा हत्या कर दी गयी। राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् ६०६ ई० मे सामन्तो ने हर्ष का राज्याभिषेक किया। इसी वर्ष से हर्षसवत् की स्थापना हुई। राज्याधिरोहण के समय हर्ष की आयु कुल १६ वर्ष की थी। उनके अग्रिम कुछ वर्ष निरन्तर परिश्रम और युद्ध के थे। गौडनरेश शशाक को हर्ष की आधीनता माननी पडी।[१] इसके पश्चात् ६ वर्ष तक उन्होने युद्धरत रहकर समस्त उत्तरी भारत पर दिग्विजय किया। पजाब को छोडकर समस्त उत्तरी भारत पर अधिकार करके सन् ६१२ ई० मे हर्ष ने औपचारिक रूप से राजमुकुट धारण किया तथा महाराजाधिराज का उपाधि स्वीकार की।

अपने जीवन के अवशिष्ट पैतीस वर्ष हर्ष ने विद्या, कला, सस्कृति, तथा धर्म के अभ्युन्नयन मे लगा दिये। इस अवधि मे इन्होने पुलकेशी के साथ संग्राम मे करारी हार खाई। उनके जीवन का अन्तिम अभियान सन् ६४३ ई० मे बगाल की खाडी के किनारे गजम पर हुआ था, जिसमे उन्हे सफलता मिली।[२]

सन् ६४७ ई० मे हर्ष की मृत्यु हुई। अनवरत शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम के कारण उनका जीवन साठ वर्ष से आगे भी न पहुँच सका।[३]

जीवन के अन्तिम दिनो मे हर्ष ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था और युद्ध आदि से विरक्त होकर अहिसा और अपरिग्रह के आदर्श को चरितार्थ करते हुए आत्मत्याग के मार्ग के पथिक बन गये थे। नागानद मे उनका यह आदर्श प्रस्फुटित हुआ है। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली दोनो ही सम्भवत पुलकेशी से सन्धि होने के पश्चात् ६२० ई० के बाद की रचनाएँ है। क्योकि इनके युद्ध वर्णनो मे पुलकेशी के साथ युद्ध की छाया प्रतीत होती है। इसके पूर्व हर्षवर्धन के जीवन का घटनाचक्र इतना व्यस्त और उलझा हुआ था कि साहित्यसर्जना के लिए अवकाश निकालना उनके लिए सम्भव नही रहा होगा। ह्वेनसाग से हर्ष का सम्पर्क ६४३ ई० मे हुआ और उसके पश्चात्

---

१. हर्षचरितसार प्रस्तावना, वासुदेवविष्णु मिरासी।

२. श्रीहर्ष के रूपको का तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन—डॉ० गोकुलप्रसाद त्रिपाठी, पृ० ४।

३ वही, पृ० ६।

ही उन्होंने बौद्धधर्म स्वीकार किया, अत नागनान्द निश्चित रूप से ६४३ ई० के पश्चात् की रचना है।[1]

प्रशासक-व्यक्तित्व

हर्ष ने विकट परिस्थितियो मे अटूट धैर्य के साथ लोहा लिया और अव्यवस्था के युग मे एक नये व्यवस्थित शासनतन्त्र को जन्म दिया। निश्चय ही उनकी इस सफलता के पीछे उनके दृढ सकल्प, निष्ठा, धैर्य और लगन तथा साहस का हाथ था।[2] हर्ष ने अपने साम्राज्य मे मासाहार तथा पशुवध बन्द करवा दिया था और कई ऐसी धर्मशालाएँ स्थापित की थी, जिनमे बिना मूल्य भोजन तथा औषधियाँ वितरित की जाती थी।[3]

हर्ष राजकार्य के सम्पादन मे निद्रा और भूख को भूलकर तल्लीन हो जाया करते थे। हर्ष न्यायी तथा कर्त्तव्यनिष्ठ शासक थे। ह्वेनसाग के अनुसार उनकी दिनचर्या के के तीन विभाग थे, जिनमे से एक भाग शासनकार्य के लिए तथा शेष दो धार्मिक कृत्यो के लिए थे।[4]

सम्राट् के रूप मे हर्ष सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि किसी के साथ अन्याय न हो। वे अपने विश्राम और शारीरिक सुख की चिन्ता न करके अपने राज्यो मे निरीक्षण किया करते थे।[5]

प्रारम्भ मे हर्ष अत्यन्त महत्त्वाकाक्षी भी थे। वे समुद्रगुप्त की दिग्विजय की स्मृति को यथार्थरूप मे लाना चाहते थे। वे एक महान् सैनानी तथा शासक थे।

हर्ष की हिन्दू, बौद्ध और जैन—इन तीनो ही धर्मो मे आस्था थी तथा अपने शासनकाल के प्रारम्भ मे उन्होने किसी एक धर्म के प्रति पक्षपात नही किया। अपने जीवन के अन्तिम काल मे अवश्य वे बौद्धधर्म के प्रति अत्यधिक झुक गये थे।

हर्ष के शासनकाल मे आरम्भ मे साम्प्रदायिकता नही रही। कादम्बरी मे ब्राह्मण, बौद्ध और जैनो के साथ-साथ पूजा करने का उल्लेख है।[6] हर्ष ने स्वय शिव, सूर्य और गौतम बुद्ध तीनो के मन्दिर बनवाये।[7] नागानन्द की नान्दी मे जहाँ हर्ष बुद्ध के लिए

---

१. वही, पृ० ५५। २. वाटर्स, पृ० ४४।
३. वही, पृ० ३८७। ४. वही, पृ० ३४३-४४।
५. An Advanced History of India p. 160.
६. हर्ष के रूपको का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ३। ७. वही, पृ० २०८।

भक्तिगद्गद है, वहाँ वे गौरी के प्रति भी श्रद्धा भाव प्रकट करते हैं। रत्नावली तथा प्रियदर्शिका दोनों में तो हर्ष ने शिव तथा पार्वती के प्रति अपनी प्रगाढ भक्ति प्रदर्शित की ही है।[1] सम्भवत नागानन्द की भी रचना के बाद हर्ष पूर्ण रूप से बौद्धधर्म के प्रति आग्रहशील बने होंगे। इस समय हर्ष ने अन्य धर्मों के प्रति उपेक्षा भाव प्रदर्शित किया, जो शासक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा के लिए घातक हुआ। ह्वेनसाग ५४३ ई० में हर्ष से मिला और कन्नौज की धार्मिक परिषद् तथा प्रयाग धर्मोत्सवों में सम्मिलित हुआ। हर्ष ने ह्वेनसाग की प्रेरणा से महायान के सिद्धान्तों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए धार्मिक परिषद् का आयोजन किया। डॉ० विसेण्ट स्मिथ का मत है कि इस परिषद् में वाद-विवाद एकतरफा था, विवाद में शर्त न्यायसगत न थी। हर्ष इस बात पर तुले हुए थे कि उनका कृपापात्र विवाद में पराजित न हो पाये। अपने प्राणदण्ड के भय से किसी को ह्वेनसाग के विरुद्ध बोलने का साहस न हुआ। हर्ष की इस पक्षपातपूर्ण आस्था के कारण ब्राह्मणों की ओर से गुप्त रूप से उसकी हत्या का षड्यन्त्र भी किया गया।[2]

प्रियदर्शिका तथा रत्नावली में कवि का यन्त्र[3], यज्ञ[4], ज्योतिष आदि में विश्वास स्पष्ट है। नागानन्द के रचनाकाल में सम्भव है, अन्य धर्मों पर उसकी आस्था कम हो जाने से यज्ञ, पूजा आदि में उसका विश्वास न रह गया हो। शकुन में विश्वास नागानन्द में भी कवि ने प्रकट किया है।

जीवन के अन्तिम काल में बौद्धधर्म के प्रति श्रद्धा के अतिरेक ने हर्ष को धर्मान्ध बना दिया था। कन्नौज की धार्मिक परिषद् में हर्ष ने अपनी धर्मान्धता का खुल्लमखुल्ला प्रदर्शन किया। जब ब्राह्मणों ने उसकी हत्या का षड्यन्त्र किया तो उसने उन्हें न्याय के प्रतिकूल कठोर दण्ड दिया और पाँच सौ ब्राह्मणों को निर्वासित कर दिया। इस सबका विपरीत प्रभाव ही पडा।[5]

शारीरिक रूप और वेश आदि

बाण के अनुसार हर्ष कर्णिकार के समान गौर वर्ण वाले और व्यायाम से गठीले तथा कान्तिमान शरीर वाले थे। देखने में देवताओं के अवतार जैसे प्रतीत होते थे।

---

१ रत्नावली, पृ० १–३। २. हर्ष—गौरीशंकर चटर्जी, पृ० १९९–२००।
३ रत्नावली, पृ० २१५। ४. प्रियदर्शिका, पृ० ४।१२।
५. हर्ष—गौरीशकर चटर्जी, पृ० २५४।

उनके पादपल्लव अरुण तथा गट्टे वज्र के समान कड़े थे। उनके कन्धे वृषभ के समान, बिम्बाधर चमकीले, मुखचन्द्र-सदृश तथा केश वाले थे।

जब वे राजसभा मे बैठते थे तो उनके चरण मणिमय पादपीठ पर रहते थे। आभूषणो का प्रभा से उनके चारो ओर एक कान्तिमय मण्डल बन जाता था। उनको देखकर ऐसा लगता था, मानो तेज के परमाणुओं से ही उनका निर्माण हुआ है। हर्ष का अधोवस्त्र अत्यन्त ही महीन, श्वेत फेन की तरह मेखलामणि की किरणों से खचित, नितम्बो से सटा हुआ था और उसके ऊपर रेशम का पटका लगा हुआ था। उत्तरीय मे छोटे-छोटे तारे बड़े रहते थे। उनका हारदण्ड कन्धो से घिर कर लटकता रहता था और हार मे पिरोई गयी मुक्ताओ का किरणो मे फैलकर उनके वक्ष का आलोकित करती रहती थीं। उनका वक्षस्थल कपाट के समान विस्तृत और भुजदण्ड सारे ससार के तेज को अवरुद्ध कर देने वाले अर्गलादण्डों के समान थे।[1] उनके मुख से मदिरा अमृत और पारिजात के मुखवास का मिली हुई सुगन्ध निकलती रहती थी।

हर्ष का परिधान तथा अलकरण उनकी कलात्मक रुचि और सौन्दर्य-प्रेम का परिचायक है।

स्वभाव

हर्ष सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। वे किसी बात को सुनकर शीघ्र ही उस पर विश्वास कर लेते थे। बाणभट्ट के सम्बन्ध मे एम उन्होने इसीलिए पूर्वाग्रह बना लिया था। परन्तु वे किसी व्यक्ति से अधिक समय तक रुष्ट नही रह सकते थे। उनका हृदय स्नेहमय था। बाणभट्ट के मुख से उलाहना सुन कर भी—स्नेह से भरे अमृत की वर्षा करने वाले दृष्टिपात मात्र से उसको नहलाते हुए उन्होंने अपने अन्तरतम की प्रीति प्रकट की।[2] जटिलतम परिस्थियो और कष्टबहुल सघर्ष के बीच प्रारम्भिक जीवन बिताने पर भी हर्ष की प्रकृति मे रूखापन नही आया था। वे अत्यन्त ही मधुरभाषी थे तथा अपने-अपने वचनो से कभी किसी को चोट पहुँचाना नही चाहते थे।[3] सबके सुख की कामना उनकी प्रकृति की विशेषता थी जो नागानन्द के भरतवाक्य मे विशेष रूप से लक्षित है। राजाओ के साथ बातचीत के प्रसग मे वे मानो मधु की वर्षा करते रहते थे। वे अत्यन्त ही उत्साही प्रकृति के थे। वीरगोष्ठियो मे उनके कपोल रोमाचित हो उठते थे मानो एकान्त मे रणश्री द्वारा भेजे गए अनुराग-सन्देश को सुन रहे हो। बड़े-बड़े योद्धाओ

---

१. हर्षचरित, पृ० ११२–२१९। २ वही, पृ० १३१। ३. वही, पृ० ११५।

के विषय मे बातचीत चलने पर वे अपने प्रिय कृपाण पर दृष्टिपात करने लगते थे।[१] उनकी विनोदशील प्रकृति मन को मोह लेती थी। हँसी-मजाक मे मुस्कुराते हुए वे अपने प्रचण्ड प्रताप से भीत राजाओ के प्रति भी अनुग्रह प्रदर्शित करते थे।[२] रत्नावली मे सुसगता का मधुर परिहास तथा नागानन्द मे शेखरक का प्रसग और विदूषक का तमाल-पल्लव से रँगा जाना तथा इनके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रसग हर्ष की शिष्ट परिहासप्रियता को द्योतित करते है।

हर्ष स्नेहमयी तथा रागात्मक प्रकृति थे। पिता, भाई और बहनोई के चिरवियोग के और बहन राज्यश्री के बन्धन से वे इतने दुखी थे कि बडी अनिच्छा से उन्होने राज्यभार ग्रहण किया और कई वर्षो तक सम्राट् की उपाधि धारण नही की अपने को केवल राजपुत्र शोलादित्य कहते रहे।[३]

हर्ष का व्यक्तित्व आपादचूड सहिष्णुता से ओतप्रोत था। उनके नाटको के प्राय सभी पात्र सहिष्णु है। उनकी तीनो कृतियो का समवेत अन्त स्वर सहिष्णुता है।[४] हर्ष कुछ त्यागमय और विरागी वृत्ति के भी थे। "राज्यवर्धन और हर्षवर्धन दोनो एक दूसरे से तापसिक जीवन मे होड लेने के लिए तत्पर थे और बहुत सम्भव है कि आत्म-त्याग के आवेश से आकर हर्ष ने ससार का परित्याग करने की घोषणा कर दी हो"।[५]

अपने स्वल्प जीवन मे हर्ष ने शासक तथा साहित्यकार दोनो के रूप मे महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ की थी, पर उन्हे इनका गर्व नही था।[६] ये त्यागी और उदार प्रकृति के थे। वे अपने आपको मित्रो का उपकारक मानते थे तथा वैदग्ध्य को विद्वानो का और धनसम्पत्ति को बन्धुबान्धवो तथा अपने सर्वस्व को ब्राह्मणो का उपकारक समझते थे। ऐसा बाण का उनके विषय मे अभिमत है।[७]

आदर्श तथा नैतिक मान्यताएँ

हर्ष के आदर्शों का मूर्तिमान रूप जीमूतवाहन है। उसके चरित्र द्वारा हर्ष ने पितृ-भक्ति, अलोभ, अपरिग्रह, अहिंसा तथा प्राणिदया, महासत्वता और त्याग का अपूर्व आदर्श उपस्थित किया है। हर्ष का आदर्श है कि परोपकार के लिए अपने आपको बलिदान कर देने मे ही जीवन की सार्थकता है।[८] यह शरीर मेद, अस्थि, मास, मज्जा,

१. हर्षचरित २ वही ३. हर्ष के रूपको का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ३।
४. वही, पृ० २४। ५ हर्ष—चटर्जी, पृ० ८५।
६. हर्षचरित, पृ० २२। ७ वही। ८. द्रष्टव्य—नागानन्द, प० ४१५।

असृक् का त्वचाकृत सघात है—भला इस बीभत्स-दर्शन देह मे क्या सौन्दर्य हो सकता है ।[1] अतएव दूसरो की रक्षा के लिए इसकी बलि दे देना ही अच्छा है । अपने नायक के इन शब्दो मे कवि ने अपने आदर्श को शब्दबद्ध किया है—

नित्यं प्राणाभिघातात् प्रतिविरम कुरु प्राक्कृतस्यानुतापम्,
यत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचिनु दिशन् सर्व सत्वेष्वभीतिम् ।
मग्न येनात्र नैन फलति परिणतं प्राणिहिंसासमुत्थं
दुर्गाधे वारिपूरे लवणपलमिव क्षिप्तमन्दह्रदस्य ।।—नागानन्द,५।२३

[प्राणिहिंसा को सदा के लिए बन्द कर दो, पूर्व किये हुए हिंसा कार्यों का प्रायश्चित करो और सभी प्राणियो को अभयदान देते हुए यत्न पूर्वक पुण्य का प्रवाह सचित करो, जिसमे प्राणियो की हिंसा से उत्पन्न फलोन्मुख भी पाप डूब कर फलित न हो जैसे झील के भीतर अगाध जल मे डूबा हुआ नमक ।]

प्रारम्भ मे हर्ष की चेतना इतनी आदर्शोन्मुखी नही थी। प्रियदर्शिका और रत्नावली मे कवि का मन अन्त पुर की प्रणयकेलियो मे ही अटका हुआ है । नागानन्द मे आकर ही उसकी चेतना मे एक नया मोड आया है, जो बौद्ध धर्म के प्रभाव से जनित है । अहिंसा के प्रति कवि का आग्रह अत्यधिक हो गया है । प्रियदर्शिका और रत्नावली दोनो मे जहाँ शत्रु को ईट का उत्तर पत्थर से देने की क्षत्रियोचित भावना कविमानस मे तरगित हो रही है, वहाँ नागानन्द मे आकर वह युद्ध को एकदम नकार देता है ।

हर्ष का अपने पिता पर बहुत प्रेम तथा श्रद्धा थी, इसीलिए पितृभक्ति को उन्होने एक उच्च आदर्श माना है । पिता की सुश्रूषा के लिए उनके विचार मे सर्वस्व भी छोड देना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य हर्ष का एक ऐसा आदर्श था, जिसे अपने जीवन मे व्यावहारिक स्तर पर भी उतारने के लिए वे कृतसकल्प थे । बाण ने इसीलिए उन्हे श्रद्धापूर्वक राजर्षि कहा है—गृहीतब्रह्मचर्यमालिंगित राजलक्ष्म्या, प्रतिपन्नासिधाराव्रतमविसवादिनं राजर्षिम्—(हर्षचरित, पृ० ११३) ।

अभिरुचि

हर्ष की रुचि कलात्मक थी अपने नाटको मे सगीत, चित्र तथा नृत्य के लिए उन्होने यत्र-तत्र प्रशसा के भाव प्रकट किये है ।[2] नाटक के अभिनय मे भी हर्ष रुचि लेते थे,

---

१. वही, पृ० ५।२४ ।

२ द्रष्टव्य—अहो गीतमहोवादित्रम् आदि, प्रियदर्शिका तृतीयाक तथा नागानन्द प्रथमाक ।

यह उनके नाटकों की प्रस्तावना से स्पष्ट है। प्रियदर्शिका (३।२) में प्रेक्षागृह के वर्णन से अनुमान किया जा सकता है कि श्रीहर्ष के प्रसाद में इस प्रकार का प्रेक्षागृह रहा होगा व उसमें नाटक किये जाते होंगे। प्रियदर्शिका में गर्भांक की योजना भी इस बात को सूचित करती है कि हर्ष अपने अन्तःपुर या राजप्रसाद में नाटकों का आयोजन करवाते थे।

कविता के तो हर्ष प्रेमी थे ही। काव्य-चर्चा में वे स्वयं रस लेते थे, इसीलिए अपने युग के श्रेष्ठ कवियों को उन्होंने राज्यसभा में आश्रय दिया था। हर्ष की कलात्मक अभिरुचि छोटे-बड़े या जातिपाँति के भेदभाव को ध्यान में नहीं रखती थी, इसीलिए राजशेखर ने उनके बारे में कहा है—

अहो प्रभावो वाग्देव्याः यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत् सभ्यः समो बाणमयूरयो ॥[१]

पद्मगुप्त के अनुसार भी हर्ष ने अपने काव्य प्रेम तथा गुणग्राहिता के कारण बाण और मयूर को अपनी राजसभा में आश्रय दिया—

सचित्रवर्णाच्छित्तिहारिणोरवनीपतिः।
श्रीहर्ष इव सघट्टं चक्रे बाणमयूरयोः ॥

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

आरम्भ में हर्ष को हम कुछ भौतिकवादी पाते हैं। लगता है कि प्रियदर्शिका और रत्नावली के कवि ने जीवन को गम्भीरता से नहीं लिया है। वह राज्य विलास में स्वयं भूला हुआ है। इसके पश्चात् सम्भवतः बौद्धदार्शनिकों के सम्पर्क या कुछ अन्य परिस्थितियाँ जैसे पुलकेशी के हाथ से हराजय—हर्ष की चेतना को झकझोर देती हैं। तब वह जीवन में अनित्यता और वैभवविलास में असारता देखने लगता है। प्रारम्भ में कवि संसार में कुछ उलझा हुआ है। वह संसार की प्रतारणा और छल से विक्षुब्ध भी है। तभी प्रियदर्शिका के भरतवाक्य में उसकी कामना है—

निःशेषं यान्तु शान्ति पिशुनजनगिरो दुःसहा वज्रलेपा. ॥—४।१२

इस समय कवि की दृष्टि आत्मकेन्द्रित है। रत्नावली के प्रारम्भ में भी वह अपनी प्रतापवृद्धि की कामना करता है—

भवतु च पृथिवी समृद्धसस्या प्रतपतु चन्द्रवपुर्नरेन्द्रचन्द्रः ॥—१।४

१. संस्कृत सुकवि समीक्षा, पृ० २२६ पर उद्धृत।

नागानन्द मे आकर कवि नि सग हो गया है। उनकी दृष्टि अपने से हट कर समष्टि की ओर मुड गयी है। नागानन्द मे वह अपने लिए कोई कामना नही करता, अपितु अपना सब कुछ विसर्जित करता हुआ सा प्रतीत होता है—अहकार, महत्त्वाकाक्षा, यश, प्रताप, और गर्व—सभी कुछ। रत्नावली और प्रियदर्शिका कवि की युवावस्था की कृतियाँ है। यह भी सम्भव है कि इनकी रचना हर्ष ने अपने पिता की मृत्यु के पूर्व ही कर डाली हो, क्योकि इनमे उमग और उत्साह से भरे हुए कवि के किशोरपन की झलक मिलती है। इस समय जीवन के संघर्षो और सम-विषम परिस्थितियो को जैसे उसने नही जाना है। नागानन्द मे आकर जैसे कवि का उत्साह चुक गया। यह नाटक हर्ष ने उस समय लिखा होगा जब जीवन के अनवरत सघर्षो से वे हारे होगे और बौद्धधर्म के आदर्शो मे ही उन्हे जीवन की सार्थकता प्रतीत हुई होगा। इस समय आन्तरिक उल्लास और उमग के चुक जाने पर कवि दूसरे के दिये हुए आदर्शो की वैसाखी के सहारे ही आगे बढ सका है।

श्रीहर्ष के पास कविहृदय था, पर जिस प्रकार की जटिल परिस्थितियो मे उनका प्रारम्भिक जीवन बीता, सम्भवत उसके कारण उनकी कवि-चेतना इतने उन्मुक्त रूप से विकसित न हो सकी और इसीलिए कवि को अनाविल कविदृष्टि न मिल सकी जो कालिदास को मिली थी। हर्ष का दृष्टिकोण निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती महाकवि को देखते हुए सकुचित है। कालिदास ने अपनी कवि-चेतना मे ऊर्ध्वारोहण कर जिस अपार आनन्द को उपलब्ध किया था, उस तक पहुँचने मे हर्ष असमर्थ थे और जीवन को कालिदास की दृष्टि से वे नही देख सकते थे। कालिदास ने जहाँ निम्नगामी वासना के प्रेम मे भी उच्च प्रेम के सहस्रदल विकसित किये है, वहाँ हर्ष उस वासना के कीचड से अन्त तक अपने को नही छुडा सके। वे कालिदास की भाँति अपने दृष्टिकोण मे त्याग और भोग का मधुर सामंजस्य स्थापित नही कर पाये और सदा सीमाओ पर ही बने रहे—रत्नावली और प्रियदर्शिका मे कवि की दृष्टि सासारिकता मे उलझी है और नागानन्द मे वह वैराग्य के उच्च शिखर पर चढकर अन्त मे धरती को बिल्कुल भूल गया है, इसीलिए हर्ष अपनी चेतना मे उस प्रेम को नही पा सके जिस तक शाकुन्तल का कवि पहुँचा है। वे उन्मादकारक वासनामय अनुराग से छलाग लगाकर वैराग्य की चोटी की ओर दौड पडते है। इन दोनो ध्रुवो के बीच का जगत् जैसे उन्हे दिखाई नही देता। नागानन्द के प्रथम दो और बाद के तीन अको पारस्परिक वैषम्य का कारण यही है। प्रथम दो अको मे हर्ष धरती पर है तो जीवन के उच्च मूल्य उन्हे नही दिखाई देते, अन्तिम अंको मे वे त्याग और बलिदान की गाथा प्रस्तुत करते है तो जीवन के सहज प्रवाह से कट जाते है।

बौद्धिक व्यक्तित्व

हर्ष के पास वह अन्तर्दृष्टि नही थी, जो वाल्मीकि या कालिदास जैसे कवियो मे पाई जाती है, इसीलिए निश्चित रूप से उनकी चिन्तन—परिधि भी अपेक्षाकृत सकुचित थी। अन्तर्दृष्टि से प्रसूत चिन्तन की अपेक्षा हर्ष मे शास्त्रीय पाण्डित्य अधिक था, यद्यपि अपने परवर्तियो की भाँति उसके प्रदर्शन प्रवृत्ति उनमे नही थी। सगीत और नृत्यकला की बारीकियो से हर्ष अभिज्ञ थे।[१] पर हर्ष का अपने सकुचित क्षेत्र मे सूक्ष्म पर्यवेक्षण हमे अधिक प्रभावित करता है। अन्त पुर के जीवन जितना सूक्ष्म, सशक्त और मौलिक चित्रण हर्ष ने किया उतना सस्कृत का कोई दूसरा नाटककार नही कर सका। रत्नावली के प्रथमाक मे मदनोत्सव के समय अन्त पुर के उल्लास का चित्र एकदम सजीव और यथार्थ है तथा हर्ष के सामन्तीय युग के वैभव और विलास को हमारे सामने साकार कर देता है।

युवामन की प्रणय भावना मे हर्ष की गहरी पकड थी।[२] युवतियो की चेष्टाओ तथा वार्त्तालाप का। लगता है हर्ष ने गहराई से अध्ययन किया था। रत्नावली मे युवावस्था के चचल प्रेम को कवि ने बडी ही स्वाभाविकता के साथ सामने रखा है। सुसगता की सहयोग-वृत्ति तथा मधुर विनोद हर्ष के अपने पर्यवेक्षण के कारण सजीव रूप मे चित्रित हुए है। बन्दर के मन्दुरा से भाग निकलने पर अन्त पुर की स्त्रियो मे किस प्रकार खलबली मचती है (रत्नावली, २।२–३) इसको चित्रित करते हुए हर्ष ने अन्त पुर के जीवन पर्त्त-दर-पर्त्त खोल कर सामने रख दिया है। नृत्य करती हुई परिचारिका (रत्नावली १।१६) राजा पर क्रुद्ध होती वासवदत्ता (वही २।२१), आतकविधुरा रत्नावली (३।४)—इन सबके चित्रण मे हर्ष स्त्री-मनोविज्ञान तथा स्त्रियो की चेष्टाओ के अध्ययन मे एक नया अध्याय-सा जोडते जान पडते है।

युद्ध का स्वानुभूत-सा वर्णन हर्ष मे कुछ स्थलो पर मिलता है।[3] प्रकृति का भी अध्ययन कवि ने किया था, यद्यपि प्रकृति मे वाल्मीकि के जैसी तल्लीनता और कालिदास के जैसा सौन्दर्यान्वेषण हम हर्ष मे नही पाते। उनके अनेक चित्र अनुकरणात्मक है, जिनमे सूक्ष्मदृष्टि के स्थान पर पिष्टपेषण ही अधिक है। प्रियदर्शिका मे मध्याह्न वर्णन (१।१२), उद्यान वर्णन (२।२) रत्नावली मे उद्यान वर्णन (१।१७–१८) आदि स्थलो पर हर्ष के मौलिक पर्यवेक्षण के स्थान पर पूर्ववर्ती कवियो का दाय ही अधिक

१. द्रष्टव्य—प्रियदर्शिका ३।१०, नागानन्द १।१३, १५, रत्नावली १।१३–१५, १६।
२. द्रष्टव्य—रत्नावली ३।९, १०, १५, ४।१६।
३. रत्नावली ४।५–६ प्रियदर्शिका १।९, १०।

दिखलाई देता है। हर्ष द्वारा अंकित कुछ प्रकृति के चित्रो मे उनका स्वयं का अध्ययन भी विद्यमान है। जैसे नागानन्द (४।३–४) समुद्रवेला का वर्णन हर्ष के स्वय के पर्यवेक्षण से प्रसूत है।

काव्य-प्रतिभा

संवेदना और भावनाबोध

तीनो रूपको मे पात्रो के चरित्रचित्रण मे हर्ष की गहन संवेदनशीलता का परिचय मिलता है। कवि को अपने पात्रो से गहन सहानुभूति है। रत्नावली के तृतीय अक मे जहाँ विदूषक और सुसगता अपना सब हँसीमजाक छोडकर रत्नावली के प्रति ममत्व से भरकर उसकी दुर्दशा पर रोने लगते है, या नागानन्द के चतुर्थाक मे जहाँ वृद्धा माता अपने पुत्र शखचूड की आसन्न मृत्यु से करुणाविष्ट है, फिर भी नायक जीमूत-वाहन को शखचूड के प्राणरक्षार्थ अपने प्राण देने से रोकती है तथा पचमाक मे जहाँ जीमूतवाहन को मरणासन्न देखकर उसके माता-पिता और पत्नी मलयवती के विलाप और शोकोद्-गारो मे करुणा का उद्दाम प्रवाह अविरल बह रहा है—इस सभी स्थलो मे हम पाते है कि हर्ष के हृदय मे कितनी सवेदनशीलता, ममता और सहानुभूति है। उनकी रत्नावली को जो चीज परवर्ती नाटिकाओ की भाँति पिष्टपेपित श्रृगार की कृति मात्र होने से बचा लेती है, वह उनकी संवेदना ही है, जो रत्नावली की कष्टपूर्ण अवस्था, वासवदत्ता की दयनीय दशा तथा अन्त पुर मे लगती आग मे रत्नावली को बचाने के लिए कूद पडते राजा की स्थिति के चित्रण मे दिखाई पडती है।

हर्ष मे सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि के साथ पात्रो की मन स्थिति को स्वय अनुभूत करनेवाला भावबोध भी है, इसीलिए उनका नागानन्द के चतुर्थ तथा पचमाक मे शख-चूड की माता तथा जीभूतवाहन के माता-पिता आदि के शोक का चित्रण अत्यन्त सजीव बन पडा है।

कल्पना

हर्ष का कल्पनाजगत् न तो उस प्रकार अनन्त है, जैसे बाण का और न कालिदास की भाँति एक से एक बढकर सौन्दर्यमय कल्पनाएँ प्रस्तुत करने की प्रतिभा ही उनमे है। उनकी अधिकाश कल्पनाएँ पिटी-पिटाई है।[१] तथा उनकी प्रतिभा का क्षेत्र सकुचित तथा सीमित है, परन्तु कही कही उनकी प्रतिभा जैसे एक कोध के साथ एकदम नयी कल्पना को प्रकाशित कर देती है। जैसे—"प्राची दिशा उदयतट मे अन्तरित चन्द्रमा

१ रत्नावली १।२४।

की सूचना अपने पाण्डुवर्ण के द्वारा उसी प्रकार दे रही है, जैसे कोई रमणी अपने पीले मुखमण्डल से हृदयस्थित प्रियतम की सूचना देती है।"[२]

अपनी सीमित चेतना के कारण हर्ष प्रकृति मे होते जीवन के स्पन्दन को नही देख सकते थे, इसीलिए उनकी मानवीकरणात्मक कल्पनाएँ भी प्राय अनुकृत एवं फीकी है।

परन्तु हर्ष की कल्पना घटनाशिल्प और कथा को नाटकीय मोड देने मे अत्यन्त कुशल है। रत्नावली का नाटकीय सविधान संस्कृत रूपको मे अनुपम है। इतनी मार्मिक तथा क्रमबद्ध संस्थितियाँ कालिदास, शूद्रक या विशाखदत्त जैसे इनेगिने नाटककार ही प्रस्तुत कर सके है। हर्ष की की कल्पना की यह विशेषता अभ्यास और अनुभव से उत्पन्न हुई है। प्रियदर्शिका का नाटकीय सविधान इसीलिए इतना प्रभावोत्पादक नही। फिर भी तृतीय अंक मे गर्भांक का संयोजन अत्न्त मौलिक है।

सौन्दर्यबोध

हर्ष का सौन्दर्यबोध भी सतही है। उनकी दृष्टि प्राय स्थूल सौन्दर्य पर केन्द्रित रही है। नागानन्द मे वे अन्त सौन्दर्य की ओर उन्मुख हुए है, पर अपनी कवि-चेतना की प्रेरणा से नही, अपितु बौद्धधर्म के प्रभाव के कारण। इसीलिए उनका सौन्दर्यबोध अन्त प्रसूत न होकर बाहर से थोपा हुआ सा लगता है।

प्रियदर्शिका और रत्नावली मे कवि की सौन्दर्यचेतना ऐन्द्रियता से आक्रात है। हर्ष ने इन दोनो कृतियो मे स्थान-स्थान पर नारी-सौन्दर्य के चित्र प्रस्तुत किये है, यद्यपि उनमें मौलिकता नही है। यही बात उनके प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रो मे भी है।

उपसंहार

भारतीय राजाओ ने अनेक कवि और साहित्यकार हुए है, परन्तु नाटककार के रूप मे कोई भी भारतीय राजा इतना ऊँचा नही उठ सका, जितने हर्ष। इसका कारण हर्ष का अत्यन्त ही सन्तुलित और संयमित व्यक्तित्व था, जो राजकार्य के अनेक झझटो के बीच अपनी कलात्मक और साहित्यिक अभिरुचि बनाये रहा। ऐसा लगता है कि हर्ष की प्रकृति मूलत शासक की नही थी, वे तो कला और साहित्य मे ही जीवन व्यतीत कर देने वाले व्यक्तियो मे से थे, परन्तु परिस्थितियो की पुकार पर उन्होने राजा के उत्तरदायित्व को ओढा और सफलतापूर्वक निभाया भी। पर उत्तरदायित्वो के बीच भी वे अपने प्रकृति के मूल स्वर को स्पन्दित होने देते रहे। उनमे कालिदास के जैसी प्रतिभा नही थी, न वाल्मीकि की मानवीय आदर्शप्रवण दृष्टि ओर न भवभूति का सा

---

१. द्रष्टव्य—प्रियदर्शिका १।११, रत्नावली १।१७ नागानन्द १।१२ आदि।

भावबोध ही, पर उनके व्यक्तित्व की महानता राजकीय कार्य-बहुलता के बीच सन्तुलित बने रहने मे है और यह व्यवस्था और सन्तुलन उनकी कृतियो मे भी मिलता है । हर्ष की प्रतिभा मे मौलिकता नही है और न बाण के जैसी संवेदना ही, पर उनकी विशेषता सयम मे है, जो उनके समकालीन और परवर्ती कवियो मे दुर्लभ है ।

बाण और हर्ष दोनो ने ही जीवन के अनेक उतार-चढावो और आवर्तन-विवर्तन को देखा था, पर बाण की कल्पना और सवेदना अधिक परिपक्व थी, उनकी अभिव्यंजना भी अधिक सक्षम, सशक्त और प्रौढ थी । बाण ने वैविध्यमय जीवन को पूर्णत भोगा था, अनुभवो का विशाल भण्डार उन्होने सचित किया था और उन अनुभवो को पूरी गहराई से अभिव्यक्ति देने मे वे समर्थ हुए । हर्ष इतने अनुभूति-प्रवण नही थे, जितने कि बाण । ऐसा लगता है कि राजनीति की झंझटो के बीच उनकी जीवन्त अनुभवो को अभिव्यक्ति देने की क्षमता दब गयी है । हर्ष जीवन से इतने समरस नही हो सके, जितने कि कालिदास की भाँति बाण हो सके थे । हर्ष को पढने पर ऐसा लगता है, जैसे वे प्रशासन की उलझनो से भाग कर थोडी देर के लिए काव्यरचना के क्षेत्र मे आये हो । यही कारण है कि उनकी कृतियाँ उनके प्रशासकीय व्यक्तित्व और समकालीन राजनीति के वात्याचक्र को मुद्राराक्षस और मृच्छकटिक की भाँति कही भी रूपायित नही करती । रत्नावली मे विन्ध्यकेतु के साथ अपने नायक के सम्बन्धो और युद्ध आदि के प्रसगो को उन्होने सक्षेप उल्लिखित करके टाल दिया है। यही बात प्रियदर्शिका मे भी है। प्रशासन की उलझनों से थका राजा जैसे घडी दो घडी अन्त पुर की दुनिया मे मन बहलाने के लिए आता है, वैसे ही राजा हर्ष अपने नाटको मे भी अन्त पुर की दुनिया मे कुछ समय के लिए रहना चाहते है । बाण की जीवनदृष्टि अपने निजी अनुभवो से उभर कर विकसित होती गई है, हर्ष नागानन्द मे अन्त पुर से भी थक कर जंगल मे और धर्मोपदेश मे अपने को रमाना चाहते है, इसीलिए जीवन का वह संस्पर्श उनमे नही आ पाया है, जो बाण मे है ।

●

तृतीय अध्याय

भारवि और माघ

राज दरबार में लिखी जाने वाली सस्कृत की अलंकृत कविता की सारी प्रवृत्तियाँ आत्मसात् करके भारवि ने छठी शताब्दी के आस-पास किरातार्जुनीय महाकाव्य की रचना की। इस काव्य मे समकालीन दरबारी कविता की सारी विशेषताएँ भव्य रूप मे प्रकट हुई थी, इसलिए पण्डितो और सहृदयो के समाज मे इसका पर्याप्त आदर हुआ। भारवि के कुछ समय पश्चात् माघ हुए। भारवि दक्षिण मे हुए थे और माघ सम्भवत राजस्थान या गुजरात मे रहे, पर भारवि की ख्याति का सिक्का माघ के समय तक सारे भारत मे जम चुका था, इसलिए माघ को अपने आपको प्रतिष्ठापित करने के लिए भारवि के साथ कडी प्रतिस्पर्धा करनी पडी। भारवि के पदचिह्नो पर चलते हुए भी माघ ने भारवि से अधिक प्रतिष्ठा पायी, क्योकि भारवि की अपेक्षा माघ की कविता अपने समय के सहृदयो और पण्डितो के समाज की अपेक्षाओ के अधिक अनुरूप है।

भारवि और माघ दोनो ही राजाश्रित कवि है—सामन्तीय संस्कृति मे रचे-पचे है। उनके अनुभवो की परिधि अपने पूर्ववर्ती बाण की तरह विशाल नही है, और हर्ष के जैसा सन्तुलन भी उनमे नही। दोनो का ही क्षेत्र सकुचित है। यद्यपि दोनो महाकवियो के समक्ष वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष और भर्तृमेण्ठ (विलुप्त महाकाव्य हयग्रीववध के रचयिता) आदि कवियो की समुज्ज्वल परम्परा विद्यमान थी, पर वे अपने समय की पण्डित-गोष्ठियो और राजसभा के वातावरण से सर्वाधिक प्रभावित हुए।

भारवि : जीवन

अवन्ति सुन्दरी कथा मे भारवि के जीवन पर यत्किचित् प्रकाश पडता है। इसके अनुसार भारवि दण्डी के पिता दामोदर के मित्र थे और दामोदर इनकी सहायता से ही चालुक्य राजा विष्णुवर्धन की सभा मे प्रवेश पा सके थे। इस प्रकार भारवि विष्णुवर्धन की सभा के प्रतिष्ठित कवि थे।

भारवि का जीवन कला और साहित्य के उन्नेताओ तथा सहृदय नागरिको के बीच बीता था। सम्भवत ये स्वय कवि और सहृदय समालोचको को गोष्ठियो मे भाग लिया करते थे।[1]

---

१. द्रष्टव्य—किरातार्जुनीय पृ० १४।३।

मान्यताएँ

काव्य के सम्बन्ध मे

भारवि एक स्वतन्त्रचेता कवि है और काव्य के सम्बन्ध मे उन्होंने अनेक ऐसी धारणाएँ अपने महाकाव्य मे प्रकट की है जो उनकी अपनी मेधा के मन्थन से उद्भूत हुई है। काव्य मे वे अर्थगौरव को वरेण्यतम मानते है और उनकी अर्थगौरव-विषयक-धारणा नितान्त मौलिक है। रस, ध्वनि आदि सम्प्रदायो के अन्तर्गत उनकी अर्थगौरव की परिकल्पना नही आ सकती। अर्थगौरव से भारवि का तात्पर्य काव्य की मूल्यवत्ता से है। वे सुन्दर से अधिक शिव और आस्वादन से अधिक प्रयोजन को महत्व देते है। श्रेय और सत्य उनके लिए साध्य है, सौन्दर्य उपकरण मात्र। 'स सौष्ठवौदार्य विशेषतशालनी विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे—(१।३)—सौष्ठव और औदार्य की विशेपता होनी चाहिए, पर साध्य तो विनिश्चितार्थ है। भारवि को यह साध्य सर्वाधिक इष्ट है, यदि सौष्ठव आदि गुण न भी हो तो भी अर्थगौरव से समाहित वाणी उन्हे वरेण्य है। "हितं ननोहारि च दुर्लभ वच" कहकर उन्होने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। इसी प्रकार—

> विहितां प्रियया मन:प्रियामथनिश्चित्य गिरंगरीयसीम्—२।१
> परिणाम सुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन् वचमि क्षतौजसाम्।
> अतिवीर्थवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुण.॥—२।४

आदि मे मन प्रियता से ऊपर वाणी की गुरुता और परिणाम-सुखत्व उन्हे अधिक अभीष्ट है।

"भारवि का आदर्श है कि प्रिय असत्य कभी न बोला जाय।"[1] वे तथ्य और भूतार्थ कथन पर जोर देते है। ऐसा नही है कि भारवि शब्द के सौकुमार्य, वचनभगिमा की चारुता या काव्य के आह्लादन तत्व को महत्व नही देते। काव्य के ये अनिवार्य अग है, पर जहाँ वरीयता का प्रश्न है, वहाँ शिवतत्त्व सौन्दर्यतत्व से अधिक मण्डित हो उठता है, इसीलिए कालिदास और भारवि दोनो का महाकवि दो विन्दुओ पर उभरता है। कालिदास का मार्ग सौन्दर्य से स्वस्ति का मार्ग है, भारवि स्वस्ति के माध्यम से सौन्दर्य के पुजारी है।

"भारवि के पास प्राजल काव्य का एक ही आधार है—अर्थ-गरिमा। उनकी सारी उक्तियाँ इस तत्त्व को ही केन्द्रित कर उपजती है। यह अर्थगरिमा प्रगल्भ विद्वान् का अधिकार नही है, अर्थद्रष्टा कवि की सृष्टि है, जो शब्दो की अन्तरात्मा का उन्मीलन

---

१. किरातार्जुनीय, पृ० १।२।

करता है। शब्द का यह आत्मोन्मीलन, कवि की अर्थदृष्टि का उन्मेष ही अर्थगुरुता है। अर्थदृष्टि अर्थशिल्प की सफलता और समर्थता है।"[१]

"भारवि के अनुसार अपने मनोभावों को समर्थ वाणी में पूरी तरह से अभिव्यक्ति सभ्यतम विपश्चित् ही दे पाते हैं। किन्तु गम्भीर निगूढ अर्थ के प्रकाशन में तो उसमें से कोई-कोई ही समर्थ होते हैं।[२] परन्तु भारवि दुर्बोध अर्थ को कभी प्रतिष्ठा नहीं देते। जैसे दीपक अनायास पदार्थ-जगत् को उद्भासित कर देता है, वैसे ही काव्य से अर्थ-दर्शन सुकर होना चाहिए।[3] अर्थावगम की इस आवश्यकता को प्रतिपादित करने के लिए भारवि ने काव्य की आगम और आम्नाय से तुलना की है। आगम वस्तु प्रतिपादन में निर्विकार और स्थिर रहता है, क्योंकि उसका अभिधेय प्रमाण से पुष्ट रहता है। कवि की इस असम्पृक्ति से ही अनाकुल अर्थवत्ता काव्य की काम्य सम्पत्ति बनती है।[४] अर्थबोध की यह अनाकुल क्षमता ही कृतिकार की आत्मा को प्रतिबिम्बित कर सकती है।[५]"

भारवि के अनुसार प्रसंग निबन्धन और अवसरोचित प्रयोग अर्थगरिमा की दूसरी आवश्यकता है। प्रबन्ध का तिरस्कार करने वाले वाचस्पति का भी सारा वाग्वैभव फल-हीन ठूंठा जैसा लगता है।[६] शब्द और अर्थ के सम्यक् प्रयोग से कृति सार्थवती बनती है। शब्दों के सम्यक् प्रयोग से अर्थसम्पदा प्रादुर्भूत होती है।[७] विशेषणों की उपयुक्तता पर भी भारवि जोर देते हैं। मन प्रियता और सारप्राणता शब्द के अनिवार्य गुण हैं।[८] एक-एक अक्षर जिसका खिला हो एक-एक वर्ण अलंकार की भाँति कमनीय हो, श्रुति-मधुर हो, कटु आलोचक को भी जो अपने स्पर्श से प्रसन्न कर जाती हो, और जहाँ वचन

---

१ अर्थशिल्प और भारवि-भारती १९६४–६५ के अंक में प्रकाशित नवजीवन रस्तोगी का लेख।

२ भवन्ति ते सभ्यतमा विपश्चिता मनोगतं वाचि निवेशयन्ति ये।
नयन्ति तेष्वाप्युपपन्ननैपुणा गभीरमर्थं कतिचित् प्रकाश्यताम्॥ कि० १४।४।

३ सुकृतं परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्।—कि० २।३३।

४. न्यायनिर्णीतसारत्वान्निरपेक्षमिवागमे।
अप्रकल्प्यतयान्येषामाम्नायवचनोपमम्॥—कि० ११।३९।

५ विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते।—कि० २।३३।

६. अविज्ञातप्रबन्धस्य वचो वाचस्पतेरपि।
व्रजत्यफलतामेव नयद्रुह इवेहितम्॥ कि० ११।४३।

७. किरात १।५।

८. किरात० २।१।

सामर्थ्य और श्री से हर पद मण्डित हो, वही उक्ति, वरेण्य है ।[१] भारवि के अनुसार सफल शब्दशिल्प उक्ति संस्कार के बिना नही पनपता—(वहन् द्वयी यद्यफलेऽर्थजाते करोति सस्कारहतामिवोक्तिम्—(किरार्जुनीय ३।४८) व्याकरण मे निर्दोष व्युत्पत्ति का जो महत्व है वही काव्य मे शब्द-संस्कार का । संस्कारवान् तथा प्रयोगशिक्षा आदि गुणो से विभूषित शब्द यथार्थ भाव को प्रकट करते हैं ।[२] शब्दप्रयोग का भारवि ने ऐसा आदर्श सामने रखा है, जिसे कोई कवि साधना करके ही पा सकता है । एक-एक पद का स्फुट विनियोग, सारवान् अर्थ की प्रतिपत्ति, एक बार निकली बात की पृथगर्थता तथा प्रत्येक पद से दूसरे का साकाक्ष सम्बन्ध यह जीवन्त काव्य का वैभव है । परिणामहित या स्वस्ति की दृष्टि से श्रुतिमाधुर्य में ढील दी जा सकती है, पर उक्ति की सार्थकता, अर्थगरिमा, पद की अल्पाक्षाइता तथा ओजस्विता की अनिवार्य स्थिति के साथ कोई समझौता नही हो सकता ।[3]

उक्तिगत औदार्य के प्रति भारवि का दुर्निवार आग्रह है ।[४] वैदर्भी के गुणो मे उदारता, प्रसाद, माधुर्य तथा ओजस्विता को उन्होने स्थान दिया है ।[५] पर उन्हे वाणी की अर्थवत्ता, पद की सारप्राणता, वचन की सारगर्भता ही सर्वाधिक इष्ट है ।[६]

राजनीतिक मान्यताएँ

भारवि ने राजनीति के कुछ व्यावहारिक सिद्धान्त अपने पात्रो के संवादो मे रखे हैं । उनके अनुसार चर राजाओ की आँखो के समान होते है, अत- उन्हे राजाओ को धोखा नही देना चाहिए, और अप्रिय सत्य को भी राजा के समक्ष प्रकट करने मे हिचकना नही चाहिए । वह सखा ही कैसा जो राजा को उचित सलाह नही देता और जो हित कारक वचन को नही सुनता वह राजा ही कैसा ? जब राजा और अमात्य एक दूसरे के अनुकूल हो, तब सभी सम्पत्तियाँ उनके पास चली आती है ।[७] राजा को चाहिए कि वह प्रजा को नीतिपूवक जीते[८], ।वह दान-दाक्षिण्य आदि गुणो से शुभ्र-शुभ्र यश का विस्तार करे । राजा निरलस होकर कामक्रोधादि षड्रिपुओ को जीत कर नीतिपथ पर चलता हुआ

---

१. किरात २।२७ । २ वही १७।६ ।
३ अर्थशिल्प और भारवि - नवजीवन रस्तोगी ।
४. किरात ३।१०, ११३, ११।४० । ५ किरात ११।३८ ।
६. किरात २।१, ४, २७, ३।१०, ११।३८, १४।२, ३–५ ।
७. किरात, पृ० १।५ । ८ वही, पृ० १।८ ।

पौरुष का विस्तार करे।[१] वह अहकार से रहित होकर अपने अनुजीवियो को सदा प्रीतिपात्र मित्रो की तरह, मित्रो को सदा राज्य के स्वामी की तरह आदर दे।[२] उसके जीवन मे त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का समन्वय हो।[३] वह साम को दान के बिना, दान को सत्कार के बिना तथा सत्कार को योग्यता के बिना न करे।[४] राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए। वह न तो धन के लालच से क्रोधवश होकर किसी दण्ड दे और न अपराध से मुक्त करे। न्याय की रक्षा के लिए उसे शत्रु या पुत्र सभी को समान रूप से दण्ड देने के लिए तैयार रहना चाहिए।[५] उसे किसी का विश्वास नही करना चाहिए। पर दूसरो पर वह यह बात कदापि प्रकट न होने दे कि वह उनका विश्वास नही करता।[६] वह जिस कार्य को प्रारम्भ करे उसे पूरा करके ही छोडे।[७] क्रोध तो उसे कभी करना ही नही चाहिए।[८] राजा या कार्यार्थी व्यक्ति के लिए तितिक्षा से बढ-कर कोई साधन नही।[९] राजा के सर्वनाश के लिए आपसी फूट सबसे बडा उपाय है। जैसे भीषण आँधी के संचार से कम्पित होने के कारण वृक्ष की जडे जर्जरित हो जाती है और वे वृक्ष अनायास ही उन्मूलित हो जाते है, उसी तरह वह महान् राजा जिसके अमात्य उसके विरुद्ध हो गये है, बिना परिश्रम के ही किसी धैर्यशाली शत्रु के द्वारा उन्मूलित किया जा सकता है।[१०] अन्त प्रकृति (अमात्य आदि) का अणु के समान भी विरोध राजा का सर्वनाश कर देता है जैसे वृक्ष की शाखाओ पर परस्पर संघर्ष से उत्पन्न दावानल समस्त वन-प्रदेश को भस्म कर देता है।[११] भारवि के अनुसार छोटे से शत्रु की भी अपेक्षा नही करनी चाहिए।[१२] वे 'शठे शाठ्य समाचरेत्' वाली नीति के पक्ष मे है।[१३]

नैतिक मान्यताएँ और आदर्श

भारवि जीवन मे विवेक और नीति के मार्ग का अनुसरण को सर्वोपरि महत्व देते है। वे प्रबल नीतिवादी कवि है। वे पराक्रम ओर पुरुषार्थ कवि है, पर पराक्रम की

---

१. वहीं, पृ० १।९।
२. वही, पृ० १।१०।
३. वही, पृ० १।११।
४ वही, पृ० १।१२।
५. वही, पृ० १।१३।
६. किरात, पृ० १।१४।
७ वही, पृ० १।२०।
८ वही, पृ० १।२१।
९ वही, पृ० २।४३।
१०. वही, पृ० २।५०।
११ वही, पृ० २।५२।
१२. वही, पृ० १६।२५।
१३. वही, पृ० १।३०।

भारवि के अनुसार शत्रुओ से तिरस्कृत व्यक्ति और पशु मे कोई अन्तर नही ।[१] जीना है तो सम्मान के साथ जीना चाहिए और शत्रु का मुँह तोड़कर रख देना चाहिए। गौरवहीन पुरुष तृण के समान है ।[२] जीवन मे यश और गौरव भारवि को सर्वाधिक वरेण्य है तथा वे समाज मे सम्मानित जीवन बिताना पसन्द करते है—तभी तक पुरुष लक्ष्मी का आश्रय बना रहता है, जब तक उसका यश स्थिर रहता है और तभी तक वह पुरुष है, जब तक वह मान का परित्याग नही करता ।[3] भारवि तो ऐसे पुरुष का ही जन्म सफल समझते है, जिसके सामने सारा जगत् झुक जाये और गणना के समय जिसका नाम ही सबसे पहले लिया जाय ।[४] शत्रु से जिसका शौर्य अभिभूत नही हुआ, ऐसा मानी जन गिरी हुई स्थिति में भी रहे तो अच्छा है ।[५]

भारवि बल पौरुष के समर्थक है, पर ऐसे पौरुष के जिसमे जल्दबाजी ओर अस्थिरता न हो और लगन के साथ अमोघ दृढ निश्चय हो । उनका नायक अर्जुन उनके इस आदर्श का प्रतिरूप है । वह कहता है—'या तो मे पवन से उद्धूत मेघमाला की तरह खण्ड-खण्ड होकर इसी पर्वत के शिखर पर अपनी जीवन लीला समाप्त कर दूँगा या सहस्र-लोचन इन्द्र की आराधना करके अपकीर्त्ति रूपी कण्टक को निकाल फेकूंगा ।' किसी के सामने हाथ फैलाना भारवि को पसन्द नही ।[६]

भारवि की दृष्टि मे यह पुरुषार्थ न तो वैयक्तिक निर्वाण के लिए नियुक्त होना चाहिए और न भौतिक सुख की उपलब्धि के लिए ही । मनुष्य के इस पौरुष का उपयोग अन्याय के प्रतीकार मे, देशद्रोहियो का सर्वनाश करने मे तथा शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना करने मे होना चाहिए । अर्जुन का कथन है—"मैं न तो सुख के लिए तपश्चर्या कर रहा हूँ, और न समुद्र की तरंगो के समान अस्थिर द्रव्य की प्राप्ति की कामना से ही, न मैं अनित्यता रूपी विद्युत्पात से ही डरता हूँ और इसीलिए मोक्ष भी मै नही चाहता । मैं तो शत्रु के छलकपट का बदला लेना चाहता हूँ ।[७] भारवि की दृष्टि मे जीवन की सबसे बडी सार्थकता है अन्यायी शत्रु का सर्वनाश करना ।[८]

"दुर्योधन जीवन के उस दुर्वल पक्ष का प्रतीक है, जो अपनी सारी शक्ति लगाकर व्यक्ति को पराभूत कर लेना चाहता है । धनजय जिगीषा के प्रतीक है और उनका चाप और बाण पौरुष और बुद्धि के समन्वय के । तपोविधि की सारी कल्पना आचार और अनुचिन्तन का नीतिरूप अनुशासन है, जिसमे नियंत्रित है, अर्जुन का दुर्धर्ष पौरुष, अदम्य

१. वही, ११।५८ । २ वही, ११।५९ ।
३. वही, ११।६६१ । ४ वही, ११।६२ । ५. वही, १।४१ ।
६. किरात, १९।४८ । ७. वही, ११।६७ । ८ वही, १२।१२ ।

शोभा नीति से प्राप्त सिद्धि से होती है (कि० २।३२)। वे जीवन मे विचारशीलता की अवतारणा चाहते है (कि० २।३०)। सत्यवादिता और कर्त्तव्यपरायणता उन्हे अभीष्ट है (कि० १।४)। भारवि के अनुसार मनुष्य को विनयी होना चाहिए। (कि० १।६)। किसी वस्तु या व्यक्ति के गुण ही उसकी श्रेष्ठता के मापदण्ड है, उसकी सहृति या आकार नही (कि० २।५, ४।२५)। तितिक्षा भारवि की दृष्टि मे सफलता का सबसे बडा साधन है (कि० २।४२)। वे जीवन मे धैर्य और सयम का आचरण करने की सीख देते है, क्रोध और त्वरा उनकी दृष्टि मे विनाशकारक है (२।३१, ३७–३९)।

आस्था

भारवि शैव जान पडते है शिव मे उनकी भक्ति किरातार्जुनीय मे यत्र-तत्र प्रकट हुई है।[१] शकुनापशकुन तथा मुनियो के लोकोत्तर अनुभाव मे भी उन्होने विश्वास प्रकट किया है।

जीवन दर्शन

भारवि जीवन मे तीनो पुरुषार्थो का सन्तुलन चाहते है। यद्यपि भोगविलास की हेयता उन्होने यत्र-तत्र प्रतिपादित की है।[२] मोक्ष के लिए भारवि की विचार-धारा मे स्थान नही। भारवि इस संसार मे रहकर अदम्य उत्साह और कर्मठता का जीवन बिताना चाहते है—इस संसार से परे जो कुछ है उसकी चिन्ता उन्हे नही है। वे उद्दीप्त किन्तु विवेकसयत पौरुष का स्वर मुखरित करने वाले विरले संस्कृत कवि है।[3] व्यास के शब्दों मे उनका सन्देश यही है—

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्याश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः॥

'पराक्रम के आश्रय से ही तुम्हे पृथ्वी पर विजय पाना है, इसलिए शत्रु से अधिक बलशाली होने का प्रयास करो। इस प्रकर्ष के अधीन ही युद्ध मे विजय लक्ष्मी है।' भारवि अन्यायपीडित मानवो के लिए सन्देश देते है कि शत्रु का वध करने के लिए शस्त्र उठाओ, जो पौरुष और पराक्रम का प्रथम चिह्न है।[४]

---

१. द्रष्टव्य, १२।१९–२४, १८।१५–४५।

२. किरात, ११।१२, ११।३५, ३।१३।

३. द्रष्टव्य—किरात, २।१३, ९, १४, १५–२२।

४ किरात, १३।१४।

साहस जिसके सहारे जयश्री के जीतने का संकल्प सधता है। युधिष्ठिर का विश्वास सारी तप साधना में धनजय को अपनी उत्तरदायित्व के प्रति सचेत करता है समर भूमि मे युधिष्ठिर रूपी यह आशा अन्तत जयिनी होती है।"[1] भारवि जीवन मे श्री की प्राप्ति का समुद्घोष करते है। उनकी श्री शोभा, सम्पत्ति के साथ सबसे अधिक तेजस्विता, मनस्विता और गौरव को द्योतित करती हैं। उनकी सम्पत्ति मे व्यक्ति का तेज कभी भी शत्रु से अभिभूत न हो—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मसा जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः॥
तथा—परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्॥

भारवि शिव को सर्वोपरि मानते हुए भी उसे सौन्दर्य से मण्डित देखना चाहते है और सत्य से समन्वित तो उनका शिव है ही। पौरुष के साथ रमणीयता, उत्साह के साथ विनय का सयोग भारवि ही करा सकते है। अर्जुन के एक साथ भीषण और रमणीय लगने वाले शरीर का सौन्दर्य भारवि की दृष्टि मे देखिए—

अथाभिपश्यन्निव विद्विषः पुरः पुरोधसारोपितहेतिसंहतिः।
बभार रम्योपि वपु. स भीषणं गत. क्रिया मन्त्र इवाभिचारिकीम्॥
—किरात ३।५६

इसीलिए भारवि के लिए परस्पर विरोधी वीर और शान्त रसो की एकत्र उपस्थिति स्वाभाविक ही नही काम्य भी है, वे पराक्रम और शान्ति दोनो मे विरोध नही देखते—

मनसा जपै. प्रणतिभिः प्रयतैः समुपेयिवानधिपतिं स दिवः।
सहजेतरौ जयशमौ दधती बिभराम्बभूव युगपन्महसी॥६।२२

भारवि तप और साधना को ही जीवन मे उच्च मूल्य मानते थे। वे व्यक्ति के जीवन को साधनामय देखना चाहते है। अविचलित होकर धैर्य और स्थिरता के साथ निरन्तर साधना मे लगे रहना—यह भारवि के जीवन की अभीप्सा है। किसी भी प्रकार का विघ्न व्यक्ति को अवसन्न और चचल न करे (कि० ६।१९, २८) अर्जुन की तपश्चर्या का जिस तन्मयता के साथ गरिमामय स्वरूप भारवि ने उपस्थापित किया है, वह उनकी साध्यनिष्ठता के साथ साधना के प्रति समर्पित विचारदर्शन को सामने

१ भारवि का कृतित्व . अनछुए कुछ प्रेरक पहलु-हिन्दुस्तानी २५।१-४, मे नवजीवन रस्तोगी का लेख।

रखता है, परन्तु भारवि की साधना और तपश्चर्या तेजस्विता और शक्ति के संचय के लिए है।

ज्वलतोऽनलादनुनिशीथमधिकरुचिरम्भसा निधेः।
धैर्यगुणमवजयन्विजयी ददृशे समुन्नततरः शैलतः॥
जपतः सदा जपमुपांशु वदनमभितो विसारिभिः।
तस्यदशनकिरणैः शुशुभे परिवेषभीषणमिवार्कमण्डलम्॥
कवचंसविभ्रदुपवीतपदनिहितसज्यकार्मुकः।
शैलपतिरिव महेन्द्रधनुःपरिवीतभीमगहनो विदिद्युते॥
प्रविवेश गामिव कृशस्य नियमसवनाय गच्छतः।
तस्य पदविनमितो हिमवान् गुरुता नयन्ति हि गुणाः न संहतिः॥
परिकीर्णमुद्यतभुजस्य भुवनविवरे दुरासदम्।
ज्योतिरुपरि शिरसो विततं जगृहे निजान्मुनि दिवौकसा पथः॥
महता मयूखनिचयेन शमितरुचि जिष्णुजन्मना।
भीतनिव नभसि वीतमले न विराजते स्म वपुरंशुमालिनः॥
तमुदीरितारुणजटांशुमधिगुणशरासनं जनाः।
रुद्रमनुदितललाटदृशं ददृशुर्मिमन्थिषुमिवासुरीः पुरीः॥
मरुता पतिः स्विदहिमांशुरुत पृथुशिख शिखी तप।
तुप्तुमसुकरमुपक्रमते न जनोऽयमित्यवयवे स तापसे॥

इत्यादि स्थलों पर तेजस्विता से उद्दीप्त अर्जुन की तपश्चर्या का जीवन्त रूप उपस्थित करते हुए भारवि ने प्रशम और निवृत्ति के भाव से युक्त विरागी मुनियो की साधना से प्रवृत्तिमयी अपनी साधना को एकदम भिन्न चित्रित किया है।

स्वभाव

किरातार्जुनीय महाकाव्य जिस महान् कवि के व्यक्तित्व से अभिषिक्त है, वह निश्चय ही बडा स्वाभिमानी रहा होगा।[१] किसी के सामने हाथ फ़ैलाना उसे बिल्कुल नही सुहाता था।[२] वह उत्तम और श्रेष्ठ लोगो के हाथ ही जीवन बिताना चाहता था।[3] अधिक्षेप या या तिरस्कार को वह कभी सह नही सकता था।[४]

परन्तु साथ ही भारवि विचारशील, शान्त और गम्भीर प्रकृति के थे। उनका

१. किरात, १।३१–३५, १४२१-२४।
२. वही, १४।१८।
३. वही, १४।२४।
४. वही, १४।२५।

स्वाभिमान छिछोरेपन से नही उपजा था, वह जीवन के यथार्थ को सचाई के साथ देखने वाले कवि का जीवन मूल्य था। भारवि भवभूति की भाँति रागात्मक प्रकृति के नही थे—भावनाओ पर संयम वे आवश्यक समझते थे। सयम उनके व्यक्तित्व में पूर्णत रचापचा है।

पाण्डित्य

भारवि का राजनीति का ज्ञान प्रगाढ था।[१] योग, साख्य आदि दर्शनो का भी परिचय उन्होने यत्र-तत्र प्रकट किया है।[२] अर्थशास्त्र का उन पर विशेष प्रभाव पडा था। व्याकरण के तो वे प्रकाण्ड थे ही।[3] परन्तु भारवि को अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन का हर्ष या माघ आदि के जैसा चाव नही था। अपने व्याकरण-ज्ञान तथा चित्रकाव्य आदि का प्रयोग भी उन्होने समसामयिक साहित्यिक वातावरण की परम्पराओ को निभाने के लिए ही किया था—वे स्वय इस प्रकार की प्रकृतियो को आदर नही देते।

पर्यवेक्षण

मानवीय मनोविज्ञान मे भारवि की गहरी दृष्टि थी। प्रथम सर्ग मे द्रौपदी के भावाविष्ट कथन इस बात के प्रमाण है कि स्त्री के हृदय में वे गहराई तक पैठ सकते थे। छठे सर्ग से ११वें सर्ग तक गन्धर्व और अप्सराओ के प्रणय विलासो के चित्रण में भी कवि के मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण के छिट-पुट उदाहरण मिल जाते है। ग्रामीण जीवन और प्रकृति को भारवि ने निकट से देखा था, भले ही उनका गम्भीर मन इनमें इतना न रमा हो।[४] चतुर्थ सर्ग मे धान के खेत की रखवाली करने वाली (४।७-९) चारागाह से लौटती हुई गायें (४।१०), नदी के ऊँचे तट पर ढूंसा मारता वृषभ (४।११), गायो के ही समान सरल गोपालक (४।१३) एवं गोपिकाएँ (४।१४), दही मथती ग्वालिन (४।१५) आदि के चित्र आचलिक वातावरण उपस्थित करते हुए भारवि के सूक्ष्म निरीक्षण की प्रतिभा को उद्घाटित करते है। चतुर्थ सर्ग के शरद्वर्णन मे प्राकृतिक दृश्यो के दो यथार्थ चित्र भारवि ने उकेरे है, वे सस्कृत साहित्य मे अद्वितीय है। भारवि वैभव और विलास के जिस सामन्तीय युग मे रहे थे, उसका वातावरण उनके महाकाव्य में छठे सर्ग से ग्यारहवे सर्ग तक देखा जा सकता है। अपने युग के रईसो विलास-क्रीडाओं को भारवि ने और भी अधिक सूक्ष्मता से निरखता-परखा था।

---

१. वही, २।६, १४।७, ५२ आदि। २. वही, ३।२६।

३. द्रष्टव्य—History of Sanskrit Literature Kaith P. 114.

४. द्रष्टव्य—२।५७, ४।१, २४, ३४, ३६।

पशुओ की चेष्टाओ को भी सूक्ष्मता से भारवि ने कुछ स्थानो पर अपने महाकाव्य में अंकित किया है भय से जड बनी हुई चमरी गाये (१२।४७) रेतीली तट पर ढूंसा मारता गर्वोद्धत वृषभ (४।११), मरणासन्न वराह (१३।३०, ३१) आदि के चित्र अत्यन्त ही स्वाभाविक है तथा माघ की स्वभावोक्तियो से टक्कर लेते है । भारवि के सूक्ष्म पर्यवेक्षण का उदाहरण अर्जुन की वीरोचित चेष्टाओ के चित्रण मे है। एकदम नि शस्त्र होने पर अर्जुन जैसा महारथी अपने प्रतिद्वन्दी को उसी प्रकार अविचल सामने खडा देखकर क्या कर सकता है—यह भारवि की मनोवैज्ञानिक दृष्टि और सूक्ष्म पयवेक्षण से चित्रित हुआ है । अर्जुन के तरकश से सभी बाण समाप्त हो चुके थे फिर भी अर्जुन ने यह जानते हुए भी कि तरकश के सभी बाण समाप्त है, तरकश के भीतर एक बार फिर हाथ डाल कर टटोला कि शायद एक बाण और मिल जाय, जैसे कोई प्यासा हाथी अन्य हाथी द्वारा पीकर सुखा दिये गये गड्ढे मे अपनी सूंड डालकर देखे कि शायद थोडा-सा भी जल वहाँ अवशिष्ट हो, और अन्त में जब अर्जुन के पास एक भी शस्त्र न बच रहा तो उन्होने शंकर के बाणो की बौछार के बीच ही तेजी से उछल कर शंकर के वक्षस्थल पर जो तेजी से उछलकर जोर से घूंसा मारा । (११।३६, १८।६) ।

प्रतिभा

भारवि को प्रतिभा मे बलशालिता और गत्यात्मकता कालिदास या माघ की अपेक्षा अधिक है । उनका व्यक्तित्व जहाँ अपने अभिजात्य और परिष्कृत रुचि मे बाण के निकट है, वहाँ बाण मे अभिव्यक्ति का वह संयम और कसावट नही है, जो भारवि कथ्य के प्रति अधिक जागरूक है । भारवि मे नीति और विवेक के प्रति आग्रह अधिक है, इसलिए उनके काव्य का भावपक्ष बहुत कमजोर है । उनमे भावावेग और रागात्मक वृत्तियो का अभाव ही प्रतीत होता है । गीतिकाव्य लिखने की प्रतिभा उनमे नही है ।

कल्पना

भारवि की कल्पना बाण और सुबन्धु के समान उर्वर नही है । उनकी अधिकाश कल्पनाएँ अनुकरणात्मक है । इस क्षेत्र मे वे निश्चय ही कालिदास से पीछे है, पर कही-कही पर वे अपने कथ्य को विशद बनाने के लिए बड़े ही सटीक उपमान खोज निकालते हैं । जैसे—जिस प्रकार दिन के प्रथम भाग के भगवान भास्कर के बिम्ब से नि सृत होकर दीप्ति विकसित कमलो का आश्रय ग्रहण करती है, वैसे ही अग्निस्फुल्लिगो के समान प्रकाशमान विद्या ने अर्जुन के मुख का आश्रय लिया (३।२५) । अथवा—जिस तरह सूर्य उदय होने के लिए प्रकाशमान सुमेरु के शिखरो को पीछे छोड़ देता है और वे शिखर

अन्धकार से आच्छन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्युदय के लिये अर्जुन के प्रयाण का अवसर आने पर चारो पाण्डुपुत्रो को शोक ने घेर लिया (३।३२)। उन चारो ने तो उस शोक को किसी प्रकार धीरज रखकर सह लिया, पर द्रौपदी की क्या स्थिति हुई ? जैसे अन्धकार दिन के परमप्रकाशमान चारो प्रहरो का अतिक्रमण कर एकत्र होकर कृष्णपक्ष की रात्रि के पास पहुँच जाता है, उसी तरह अर्जुन के विरह से जनित शोक धैर्यसम्पन्न उन चारों भाइयों को छोड द्रौपदी के पास पहुँच गया।

भारवि की कल्पना मे मानसिक व्यायाम की ओर झुकाव उनके पूर्ववर्तियो की तुलना मे बढ गया है, यद्यपि इतना अधिक नहीं जितना कि आगे के कवियो में मिलता है। वाल्मीकि और कालिदास के उपमानो मे जो ताजगी और सहजता है, वह उनमें कम मिलती है, यद्यपि अर्थगौरव के समर्थ कवि होने के कारण उनकी कल्पना वे ही उपमान ढूंढकर लाती है, जो वर्ण्य की स्थिति को पूर्णतः स्पष्ट कर देते है।[1] भारवि एक सजग एवं जागरूक कवि हैं और वैसी ही उनकी कल्पना भी है। परवर्ती कवियों की भाँति वह ऊटपटाग उडान नही भरती। पर कल्पना में मस्तिष्क की प्रधानता होने के कारण उनके बिम्ब इतने भावोद्बोधक नही हैं। एक ओर से सूर्य से प्रकाशित तथा दूसरी ओर से अन्धकार से आच्छन्न हिमालय को सामने की ओर अपने स्मित से अन्धकार को नष्ट कर देने वाले तथा पीछे की ओर गजचर्म धारण करने के कारण कृष्णवर्ण के शिव से कवि उपमित करता है (५।१२)। वायु से उडाये गये कमल-पराग को सोने का आतपत्र कहना भी इसी प्रकार की कल्पना है, जिसमे मानसिक व्यायाम के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति स्पष्ट है।[2]

कल्पना का मानवीकरणात्मक रूप भारवि मे प्रचुरता से मिलता है, पर उसमे भावोद्बोधन की क्षमता नही।[3] दो एक स्थलो पर मानवीकरण मे अपनी सूझ-बूझ के कारण भारवि की कल्पना चमत्कृत अवश्य करती है। जैसे सूर्यास्त के वर्णन मे 'मरीचिमाली सूर्य ने अत्यन्त तृषार्त्त होकर किरणरूपी अङ्गुलियो से कमलो के मकरन्द रूपी मद्य को खूब छक कर पिया और मत्त की भाति पृथवी पर लुढक पडा (९।३)। फिर भी भारवि की कल्पना मानवीकरण के क्षेत्र में भावबोध के अभाव में प्रायः असफल

---

१. इस प्रकार की अन्य उपमाओ के लिये द्रष्टव्य—१०।३, १३।१५, १७।१२, १३,-२६, ४५, ४६; १६।५

२. किरात ५।३९ अन्यत्र ५।३९, १३।१६, १२।१७, १७।६ भी द्रष्टव्य।

३. वही - ६।२; ४।१०, १२, ८।२७, २८, ३३, १०।३४

उडानें ही भरती रहती है। उनके अन्धकार का यह वर्णन इसकी पुष्टि मे उद्धृत किया जा सकता है—'अधकार ने अनेक प्रकार के वृक्ष और पर्वतो को अपने सरीखे काले रग मे रग डाला क्या? आकाश को नीचे की ओर तो नही झुका दिया? आकाश पर काला परदा तो नही डाल दिया? सब दिशाओ को चुराकर अपने झोले मे तो नही डाल दिया? और क्या पृथ्वी के ऊँचे नीचे स्थानो को समतल बना दिया?'

भारवि की कल्पना घटनाओ और चरित्रो के सर्जन मे अधिक सफल है। अपनी तकनीकी कल्पना से भारवि महाभारत की द्रौपदी, युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन इन चारो चरित्रो का पुनःसृजन किया है जो उनके महाकाव्य की गरिमा को देखते हुए सर्वथा उपयुक्त है। द्रौपदी, जो महाभारत में अधिक आत्मकेन्द्रित तथा अपने व्यक्तिगत दुःख से ही व्यथित रहने वाली है, किरातार्जुनीय मे आकर एक अविस्मरणीय नारी चरित्र बन गयी है। वह अपने स्वयं की पीड़ा के संबंध मे एक शब्द भी नही कहती, परन्तु अपने पतियो की सम्मानरहित दुर्दशा पर व्यथित है और महाभारत की द्रौपदी की तरह युधिष्ठिर को कटुवचनो से पीडित करने के स्थान पर वह उन्हे अपमान का बदला लेने के लिये ही अधिक उकसाती है। भीम, जो महाभारत मे अत्यन्त उद्धत है, किरातार्जुनीय मे आकर शान्त, सुशील और विचारशील बन गये है। वे स्वाभिमान और पौरुष के धनी तो हैं, पर उनकी उक्तियो मे महाभारत के भीम की तरह छिछलापन या गंभीरता का अभाव कही भी नही दिखाई देता। युधिष्ठिर के चरित्र का, महाकाव्य की वस्तु के अनुसार भारवि ने एक ही पहलू केवल उभारा है, वह है उनका कुशल राजनीतिज्ञ व्यक्तित्व, जो महाभारत मे इस रूप मे नही मिलता। अर्जुन को सहनशीलता, पराक्रम और धैर्य की प्रतिमूर्ति जैसा चित्रित कर नायकोचित गरिमा प्रदान की गयी है। वास्तव मे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन-ये तीनों चरित्र भारवि के ही आदर्शो और आकांक्षाओ के प्रतिरूप हैं। युधिष्ठिर धैर्य और नीति के प्रतिमान हैं तो भीम स्वाभिमान और शौर्य के और द्रौपदी अन्याय से लड़ने की विक्षुब्ध भावना की प्रतिमूर्ति है। इन तीनो के गुणो का उत्कृष्ट समन्वय भारवि ने नायक अर्जुन मे कर दिखाया है। महाभारत की कथा मे भी भारवि ने अपने महाकाव्य के अनुरूप यथोचित परिवर्तन किये हैं। इस प्रकार भारवि की कल्पना भावोद्बोधन करने की क्षमता नही रखती, पर वह उनके महाकाव्य की गरिमा के अनुरूप सामग्री जुटा सकती है - और महाकाव्य की वस्तुयोजना के निर्माण मे वह सफल है।

सौन्दर्यबोध–

कुछ ही क्षण भारवि में ऐसे आते हैं, जब वे प्रकृति के मनमोहक सहज सौन्दर्य पर

मुग्ध होकर उसमे खो जाते हैं। किरात के चतुर्थ सर्ग के शरद्वर्णन में यह स्थिति आयी है। यहाँ पर भारवि प्रकृति के सौन्दर्य पर लट्टू होकर थम गये हैं।

कालिदास की भाँति भारवि सहज अलंकृत सौन्दर्य के प्रेमी हैं। कृत्रिम अलंकरणो की व्यर्थता उन्होने बार-बार बतलाई—

न रम्यामाहार्यमपेक्षते गुणम्। - किरात ४।२३
रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति। ७।५
अलंकृतं तद् वपुषैव मण्डनम्। - ८।४०

चतुर्थसर्ग के अतिरिक्त जहाँ भारवि को शरद् के इन्द्रधनुषी रंगो ने बाध लिया है और जहाँ वे उसकी मनमोहक सुषमा पर मुग्ध हो उठें हैं, भारवि की सजगता उन्हे सौन्दर्य मे कालिदास की तरह सराबोर नही होने देती। भारवि का स्वर अपने उत्तरदायित्व के प्रति सचेत कवि का स्वर है। वह जीवन के प्रति सजग है और जीवन को उसकी सार्थकता मे जीना चाहते हैं। यह उनका दायित्वबोध उनके रचनाशिल्प मे भी छूटा नही है, इसीलिये कुन्तक ने उन्हे अवहित कवि कहा है (वक्रोक्तिजवित १।७)। कालिदास सौन्दर्य के कवि हैं, भारवि स्वस्ति के, कालिदास के लिये सौंदर्य पुरुषार्थ है, भारवि के लिये पुरुषार्थ सौन्दर्य है, कमनीय है। कालिदास सौन्दर्य से स्वस्ति तक जाते हैं, भारवि स्वस्ति के माध्यम से सौन्दर्य तक पहुँचते है। पर दोनो ही अपना काम्य रसपेशलता, संवेदना और सहजानुभूति के धरातल पर उपलब्ध करना चाहते हैं, अतः कवि के कृतित्व का रागात्मक श्रृंगार बना रहता है।[1]

भारवि की शैली मे सर्वत्र एक गम्भीरता तथा प्रशान्त रमणीयता विद्यमान है, जो उनके सौन्दर्यबोध की उपज है। उनकी शैली का संयम और कसाव उनकी अपनी चीज है, जो सस्कृत के कवियो मे उन्हे सबसे अलग कर देती है। अलंकार, भाषा, और छन्द का सौन्दर्य भी भारवि मे मिलता है, पर उनकी सबसे बडी विशेषता संयम है, जिसने उनकी भाषा-शैली को नयी गरिमा दी है।

उपसंहार

भारवि का समुचित मूल्यांकन अभी तक नही हो पाया। उनमे माघ के जैसी गीतिकाव्य की प्रतिभा, भवभूति की रागात्मकता या भाव संकुलता नही थी और न पाण्डित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति का अतिरेक ही, इसलिये बृहत्त्रयी मे स्थान पाकर भी वे संस्कृत के कवियों मे इतने लोकप्रिय नही हुए जितने माघ। दूसरी ओर

१ भारवि का कृतित्व : अनछुए कुछ प्रेरक पहलू, हिन्दुस्तानी (१९६४)।

आधुनिक आलोचको ने भी यह कहकर कि - भारवि का समाज माघ और श्रीहर्ष की भाँति बहुत संकीर्ण समाज है, वे राजप्रसाद के परकोटे तथा पण्डित-मण्डली से बाहर झांकते नजर नही आते। कालिदास राजप्रसाद मे रहते हुए भी अपनी पैनी निगाह से सामान्य नागरिक जीवन का अध्ययन करते है, चाहे अब उनकी दृष्टि भी नगर के गोपुर के बाहरी समाज को उस दृष्टि से नही देखती, जिस सहानुभूति से उन्होने प्रकृति को देखा है। भारवि का समाज मन्त्रणागृह में मन्त्रणा करते नीति-विशारदो, युद्धस्थल के काल्पनिक स्थलो, वाग्युद्ध या शस्त्रयुद्ध करते योद्धाओं, चित्रकाव्य या अर्थगाम्भीर्य से गद्‌गदायमान होते पण्डित श्रोताओं तथा सामन्तो के विलासगृहो तक ही सीमित है। उनका प्रकृतिवर्णन चतुर्थ सर्ग को छोडकर ठीक वैसा ही है, जैसा कुर्सी पर बैठकर की गयी किसी व्यावहारिक गवेषणा का अन्तर्ज्ञानशून्य फल। सारांश यह कि भारवि का समाज, उनके काव्य के चरित्रों की दुनिया का दायरा बडा तंग हैं और ठीक उसी तरह भारवि की भावना वृत्ति का भी, जो कला तथा अर्थगाम्भीर्य के परकोटे मे बन्द रहकर 'असूर्यम्पश्या राजदारा' के समान रह गयी है, जिसे देखने की ललक हर एक को होती है, पर जो उपभोग की वस्तु नही रह जाती[1]—भारवि की एकपक्षीय आलोचना ही की है।

भारवि मूलतः तेजस्विता और पौरुष के कवि हैं। उनके काव्य का सकीर्ण समाज, पाण्डित्य-प्रदर्शन और लम्बे-लम्बे शृंगारिक वर्णन ये सब भारवि की अपनी चीजें नही हैं, ये तो युग की प्रवृत्तियो के प्रभाव से उनके काव्य मे आ गयी हैं, भारवि का मन इन सब मे रमा नहीं है। जितनी तन्मयता से उन्होने अर्जुन की तपस्या का या १४-१८ सर्गों मे शंकर के साथ उसके पराक्रमपूर्ण युद्ध का वर्णन किया है, उतनी तन्मयता से ६-१० सर्गों में शृंगार का नही। वे अर्जुन के पौरुष, संयम और साधना का उद्दीप्त चित्र देना चाहते थे, अतः उसके स्वर्ग मे जाने का प्रसंग, जो उनके उपजीव्य महाभारत मे इस प्रकरण मे विद्यमान है, छोड दिया।

भारवि महाप्राण कवि है, आदर्श-स्फूर्त्त मेघा के मनस्वी स्वामी। उनके जीवन का गम्भीर संगीत काव्य के रूप मे मुखरित हुआ है जिसमे तरलित है, उनका अभिजात और पुरुषार्थी पुरुष। सस्कृत काव्य मे आभिजात्य दो ही कवियो की सम्पत्ति बन पाया है, बाण और भारवि। दोनो में अन्तर भी है, बाण के आभिजात्य मे विलास है, जीवन की सम्पन्नता भरी अनुगूंज है, भारवि के आभिजात्य मे जीवन के मूल्यो के प्रति निष्ठाभरा संकल्प है, अध्यवसाय है। स्वस्थ जीवनमूल्यो मे यह अपराजेय आस्था भारवि की कविता को रंगती और ढालती है। बाण के शब्दो मे रंगो का

---

१ संस्कृत—कवि—दर्शन, भोलाशकर व्यास पृ० १२३

विलास है, वर्णविच्छित्ति है। भारवि की कविता का रंग एक है, पर वह एक रेखा है, जो अपनी स्निग्ध, सहज सिधाई से पथिक को सौन्दर्यलीन करती है, गन्तव्य तक पहुंचने के उनके विश्वास को सम्बल देती है। भारवि पुरुषार्थप्रधान काव्य के सिरजनहार हैं, पुरुषकवि हैं, कवियो मे पुरुष हैं और उनका काव्य पौरुष का काव्य है। जीवन के प्रति दृढ आस्था और प्रबल विश्वास उनके काव्य की संवेद्य भूमि और सृजन का प्रेरक सूत्र है।[1]

भारवि संस्कृत के उन कवियो मे की परम्परा में आते हैं, जिनका व्यक्तित्व अपनी महनीय कविचेतना के कारण उदात्त था। युग की प्रवृत्तियो से उसमे अन्य कवियो की भाति छिछोरापन उत्पन्न नही हुआ। उन्होने अपने युग की पतनोन्मुख प्रवृत्तियो को समझा था और अपने महाकाव्य में युग को उनसे बचने का सन्देश भी दिया। भारवि के समय मे उच्चवर्गीय समाज वैभव के मद मे चूर और विलासिता के रंग मे सराबोर था। अर्जुन का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करके भारवि मानो अपने युग के सामन्तों और शासक वर्ग को उस मोहनिद्रा से जगाने का प्रयास कर रहे हैं। भारवि ने देश के लिये इस बात की आवश्यकता अनुभव की कि देश का क्षत्रियत्व पुनर्जाग्रत हो, इसीलिये उन्होने अर्जुन के चरित्र मे शौर्य और पराक्रम को सबसे ऊंचा स्थान दिया हैं। शकर अर्जुन की अद्वितीय तपस्या से इतने प्रसन्न नही होते, जितने उसके प्रबल पराक्रम से।

> तपसा न तथा मुदमस्य ययौ भगवान् यथा विपुल सत्त्वतया।
> गुणसहतेः समतिरिक्तमहो निजमेव सत्त्वमुपकारि सताम्॥ १८।१४

भारवि माघ की तरह शृंगार और विलास मे लिप्त नही है। उनके लम्बे शृंगार वर्णनो के पीछे भी एक उद्देश्य है। वे अर्जुन की भांति विलास और शृंगार से ऊपर उठने का सन्देश देना चाहते हैं। उनके चिन्तन मे मौलिकता और ताजगी है। उनका दृष्टिकोण उदात्त है, वे महनीय आशय वाले गम्भीर और उदात्त मूल्यों को प्रशान्त स्वर मे अभिव्यक्ति देने वाले महान् कवि हैं।

माघ

माघ के पितामह सुप्रभदेव श्रीमाल या भीनमाल के राजा वर्मलात[2] के यहा

---

१. भारवि का व्यक्तित्वः अनछुए कुछ प्रेरक पहलू।

२. इस राजा के अनेक नाम मिलते हैं, देखिये—ओझानिबन्ध संग्रह, पृ० २३५ तथा शिशु० के अन्त मे कविवंश वर्णन— १।

मंत्री थे। माघ का सर्व प्रथम उल्लेख करने वालों मे से एक जैन कवि चन्द्रप्रभ सूरि हैं। उन्होने अपने प्रभावकचरित (१३३४ वि०) मे लिखा है—'गुर्जर देश के समृद्धिमान नगर श्रीमाल के राजा वर्मलात का मन्त्री सुप्रभदेव था। उसके दो पुत्र दत्त (दत्तक) और शुभंकर हुए। दत्त का पुत्र माघ हुआ, जिसका बालमित्र विद्वान् राजा भोज था। माघ का चाचा शुभंकर बड़ा दानी हुआ : उसके सिद्धनायक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। पहले वह बडा दुराचारी था, पर बाद मे जैन धर्म मे दीक्षित होकर सिद्धर्षि के नाम से विख्यात हुआ और उसने 'उपमितिभवप्रपंचकथा' की रचना की।[1]

प्रभावकचरित मे माघ के पितृव्य शुभकर को 'श्रेष्ठी' लिखा गया है। उस समय 'श्रेष्ठी' शब्द से जैनिया और वैश्यो दोनो का बोध होता था। जैन मतावलम्बी न होने पर भी वैश्यो के लिये श्रेष्ठी शब्द का व्यवहार किया जा सकता था। शुभकर के पुत्र सिद्ध ने अपनी 'उपमितिभवप्रपचकथा' मे जैनेश्वर की वन्दना की है, जिससे प्रतीत होता है कि माघ के पितृव्य शुभकर तथा उसके भाई सिद्धर्षि जैन रहे होगें, परन्तु शिशुपालवध के अध्ययन से लगता है कि माघ ब्राह्मण ही रहे होगे। शिशुपालवध मे अनेक स्थानो पर माघ के ब्राह्मणत्व की झलक है।[2] वस्तुस्थिति जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि माघ उच्च कुल थे।

माघ का जीवन सामन्तीय सम्पन्नता तथा अटूट ऐश्वर्य के बीच बीता था। प्रौढावस्था मे कदाचित् उनके एक कन्या हुई थी, जिसका सकेत शिशुपालवध ११।४० मे अचिरजाता-पुत्री के रूप मे ढूंढा जा सकता है। ३।३६ मे उनके विवाहित होने का अनुमान भी होता है। जीवन के अन्तिम दिनो मे माघ को सम्भवतः आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पड़ा था, जिसकी ओर शिशु० ८।३१ मे संकेत है। जनश्रुतियो में प्रचलित माघ-सबंधी गाथाएँ भी इसकी पुष्टि करती हैं।

शिशुपालवध की छठे तथा बारहवें सर्ग की स्वभावोक्तियो से स्पष्ट है कि माघ का निवास स्थान पर्वतो तथा समुद्र के पास था, जहाँ धान की खेती होती थी और नारियल तथा खैर के वृक्ष थे तथा आसपास सघन जंगल भी था। पश्चिमी समुद्र का माघ ने पुनः पुनः अवलोकन किया होगा। शिशु ३।७० की कल्पना का आधार काठियावाड़ के आसपास की कोई खाडी जान पड़ती है।

१. ओझानिबन्धसंग्रह, पृ० २३६।
२. द्रष्टव्य - शिशु० ४।३७, ११।४१, १३।३८, १४।२२, २३, ३६, ३८।

माघ का निवास-स्थान भीनमाल अथवा श्रीमाल गुजरात की प्रथम राजधानी है। जैक्सन महोदय के 'मोनोग्राफ आन भीनमाल' के अनुसार जो बम्बई गजेटियर पुस्तक प्रथम के परिशिष्ट के रूप मे प्रकाशित हुआ है, भीनमाल उस युग मे अत्यन्त ही वैभवशाली तथा समृद्ध नगर था, तथा वह चारो दिशाओ मे कई मील के घेरे मे फैला था। जैक्सन के अनुसार भीनमाल की जीर्णशीर्ण रूप मे बिखरी ईटो से यह प्रमाणित हो जाता है कि उस स्थान पर एक विशाल विद्यालय रहा होगा। श्रीमाल पुराण के अनुसार इस नगर मे १००० ब्रह्म पाठशालाए थी और ४०० मठ थे, जिनमे सागोपाग विद्याएं पढ़ाई जाती थी। यह नगर शिक्षा, पाण्डित्य और सस्कृति का संगम-स्थल था। ब्रह्मस्फुट सिद्धांत के रचयिता, ज्योतिषी भिन्नमालाचार्य ब्रह्मगुप्त ने अपनी पुस्तक को यही पर ६२८ ई० मे समाप्त किया। जैन विद्या का भी यह प्रधान स्थान था। सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंच-कथा भीनमाल मे ही ६०३ ई० मे समाप्त हुई। जैन दर्शन पर अनेक प्रख्यात ग्रन्थो के रचयिता मनीषी विद्वान् हरिभद्र सूरि की साहित्यिक गतिविधियो का यही प्रमुख केन्द्र था। प्राकृत मे विरचित कुवलयमालाकहा भी भीनमाल मे समाप्त हुई। श्रीमाल पुराण के अनुसार जैनधर्म का यहाँ बोलबाला था, पर ब्राह्मण धर्म की भी पूछ कम नही थी। ब्राह्मणो का किसी समय अत्यधिक प्रभाव इस नगर मे था, अत. उन्होने स्कन्दपुराण मे श्रीमालमाहात्म्य को भी जोड़ दिया।[1]

मान्यताएं तथा आदर्श

काव्य के संबंध में–

माघ के काव्य-संबंधी विचारों मे लक्षणपरतन्त्रता की झलक मिलती है। भारवि की तरह स्वतन्त्रचेता वे नही हैं। अर्थगौरव के संबंध मे उन्होने भारवि का अनुसरण करते हुए कुछ मान्यताए रखी हैं तथा अपने पूर्ववर्ती और सामयिक काव्यशास्त्रीय चिन्तन से वे स्पष्टतया प्रभावित हैं। भारवि के प्रभाव से वे 'यावदर्थपदा वाणी'[2] 'तथ्या' और 'आहितमरा भारती' की बात करते है, पर उनका कवि 'रसभाववित्'[3] भी है। शब्द और अर्थ के साहित्य की घोषणा माघ करते है और वे सत्कवि को विद्वान् का समकक्ष और उपमेय मान कर चलते हैं।[4]

---

१. महाकवि माघ : जगन्नाथ शर्मा, पृ० ५८–६४। २. शिशु० २।१३
३. वही २।८३ ४. वही २।८६

सौन्दर्य के सम्बन्ध मे माघ की अपनी दृष्टि है। सौन्दर्य की उक्ति सत्य के अनुसन्धान से रहित नही होती,[1] अतः सौन्दर्यचेतना सदर्थ बोध है। माघ का ध्यान उक्तिवैचित्र्य पर भारवि की अपेक्षा अधिक केन्द्रित है,[2] क्योंकि भारवि के सामने अर्थगौरव का उज्ज्वल आदर्श स्पष्ट है, जब कि माघ भारवि के आदर्श को सामने रखकर भी अर्थ की विचित्रता की ओर भटक गये हैं। यही नही, माघ चित्रकाव्य को भी भारवि की अपेक्षा अधिक आदर देते हैं।[3]

भारवि की भांति माघ को काव्य मे ओज़स व प्रसाद गुण दोनो एक साथ अभीष्ट हैं।[4]

आदर्श तथा नैतिक मान्यताएँ

माघ अतिथि-सत्कार को स्पृहणीय मानते हैं।[5] परोपकार तथा दान की भी उन्होने बार-बार आशंसा की है।[6] गुणग्राहिता,[7] क्षमा तथा उदारता[8] और विनय[9] माघ की दृष्टि मे आदर्श गुण हैं। संयम और मितभाषिता भी उनके आदर्श हैं।[10] माघ अधिक बोलने मे नही, कर्म मे और पुरुषार्थ मे विश्वास रखते है। उनके आराध्य और नायक कृष्ण के चरित्र की विशेषता मितभाषिता और कर्मनिष्ठता है।

आस्था–

माघ विष्णु या कृष्ण के अनन्य भक्त थे। उन्होने अपने काव्य-को 'लक्ष्मीपते-श्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहा है। विष्णु पर उन्हे उतनी ही भक्ति थी जितनी तुलसीदास को राम पर, यह बात अलग है कि जिस प्रकार के वातावरण मे माघ रहे उसके प्रभाव से उनकी विष्णु-भक्ति भी विलास मे सनी हुई है। फिर भी उनके काव्य मे कृष्ण के प्रति उनकी अकृत्रिम श्रद्धा अनेक स्थानो पर खुल कर प्रकाश मे आयी है।[11] कृष्ण को वे विष्णु का अवतार मानते थे।[12] महापुरुषो-ऋषिमुनियो के अलौकिक प्रभाव मे माघ की आस्था थी।[13] ज्यौतिष,[14] शकुनापशकुन[15], तथा यौगिक शक्ति[16] मे भी माघ का विश्वास था।

---

१. शिशु० ४।१०,५।१,१४।४। २. शिशु० १६।१,१७। ३. वही १६।४१।
४. वही २।८३। ५. वही १।१४। ६. शिशु० २।१०४,१६।२२, १४।४४-५०।
७. वही १५।४२-४३। ८. वही १५।६८, १६।२३,२५। ९. वही १७।१८।
१०. वही १३।७,८।
११. शिशु० १।२३, ३१-४०, १३।२-११, १४।५९-८७ १२. वही १।४७, १४।६८
१३. वही १।२६ १४. वही १३।२२ १५. वही १५।८१,९६ १६. वही १३।२३

माघ की सबसे बडी विशेषता उनकी साम्प्रदायिक उदारता है। वैष्णव धर्म के पक्के अनुयायी होते हुए भी उन्होने अन्य सम्प्रदायो और धर्मों के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है। एक ओर तो वे यज्ञ, हवन आदि की चर्चा करके ब्राह्मण धर्म को पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं, दूसरी ओर बौद्ध धर्म के अमूल्य सन्देशो की ओर भी हिन्दू जनता का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। शिशु० २।२८ मे बौद्धो के पंचस्कन्ध, १५।५८ मे बोधिसत्व, १६।११२ मे जिन का श्रद्धापूर्ण निरूपण है, जिसमे माघ की धार्मिक उदारता स्पष्ट है।

स्वभाव

माघ स्वभाव से उदार, शिष्ट और विनम्र प्रकृति के लगते हैं। उच्च चारित्रिक गुणो के प्रति उन्होने स्थान-स्थान पर अपना रुझान प्रकट किया है इसके साथ ही, अपने युग की प्रवृत्तियो ने माघ की प्रकृति मे उत्कट शृगार की भावना भी भर दी है। माघ का शृंगार-भावना की ओर इतना झुकाव है कि लगता है वे उसी के प्रकाशन का जब-तब अवसर ढूंढते रहते हैं।[1] छठे सर्ग मे उनकी दृष्टि षड्ऋतुवर्णन के उपक्रम मे नायिकाओ के ऐन्द्रियविलास पर ही केन्द्रित है। सप्तम सर्ग मे आद्योपान्त शृगारित अनुभावो का ही चित्रण है। नवें सर्ग के प्रणय-चित्रण मे भी शारीरिक वासना मे कवि बह गया है।

माघ तरल हृदय के भावना-प्रधान कवि हैं, जबकि भारवि गंभीर और शालीन। इसीलिये माघ की प्रकृति मे स्नेह और वात्सल्य भारवि की अपेक्षा अधिक है। कवि का हृदय पशुओ के प्रति भी प्रेम से भरा हुआ है।[2] वात्सल्य की मृदुल भावना से माघ का मन कई बार आन्दोलित हुआ है। १५।८७ मे शिशु की क्रीडापूर्ण वार्त्ता का सरस चित्रण इसका प्रमाण है। अन्य स्थलो पर भी माघ का वात्सल्य प्रकट हुआ है।[3] सूर्य की आकाश रूपी प्रागण मे घुटनो के बल रेंगते शिशु के रूप मे कल्पना भी माघ के वात्सल्य की परिचायिका है।[4]

शिष्ट हास्य की प्रवृत्ति भी माघ में थी। भारवि जितने ही शान्त एव गम्भीर हैं, माघ उतने ही चुलबुले। स्थान-स्थान पर वे फब्तियां कसते चलते है या हास्य की मधुर छटा बिखेरते जाते हैं। हाथी से घबडाये हुए गधे ने किस प्रकार अपनी पीठ पर बैठी अवरोधवधू को नीचे गिरा दिया और कृष्ण की सैन्ययात्रा मे हसी का फव्वारा छूट पडा,[5]

---

१ द्रष्टव्य – शिशु १।५०, ७४, २।१४, १६, १७, १३।४१-४८, १७।२, ११, १८।२

२ द्र० ५।६ मे उष्ट्र का वर्णन।

३. वही ११।४०, १४।४७। ४. शिशु० ११।४७ ५. वही - ५।७।

गाडी की धुरी टूट जाने से मिट्टी का बर्तन. फूट गया और उसका धनी बनिया पश्चाताप करने लगा, — कृष्ण की सेना के हाथी तथा कृष्ण का स्वागत करने के लिये आये हुए पाण्डवो के हाथी – किस प्रकार एक दूसरे को प्रतिद्वदी समझ कर क्रोध मे भर गये, युधिष्ठिर ने कृष्ण का आलिगन किया, पर कृष्ण का विशाल वक्ष उनके दुबले वक्ष मे नही अट पाया, तब उन्होने दोनो भुजाओ का घेरा कृष्ण के वक्षस्थल के चारो ओर बनाकर आलिगन किया — इत्यादि प्रसगों मे माघ की विनोदप्रियता झलकती है (१३।३२--३६) मे कृष्ण के दर्शन के लिए स्त्रियों की हडबडाहट के चित्रण मे भी यही बात है।

माघ मे विनम्रता या शिष्टता पर्याप्त थी। अपनी बडाई करना उन्हे आता नही था। अपने काव्य को उन्होने 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्त्तनमात्रचारु' कहकर अपना विनय प्रकट किया है। पर यश की भूख माघ के मन में खूब थी। १६ वे सर्ग के अन्तिम श्लोक 'माघकाव्यमिदं शिशुपालवध. के चक्रबन्ध से स्पष्ट है कि वे अपना नाम चाहते थे। अपने काव्य को श्रयंक काव्य के नाम से अभिहित करने मे सम्भवतः यह अभिप्राय भी रहा हो कि वे श्रीमाल के रहने वाले हैं - यह बात पाठको के ध्यान मे आ जाय। शिशुपालवध की रचना कवि ने अपने शब्दो मे 'सुकविकीर्तिदुराशया'[1] ही की थी।

पाण्डित्य

माघ का युग दिग्गज पण्डितो तथा शास्त्रार्थियो का युग था। कुछ तो अपने युग के प्रभाव से तथा जन्मजात अभिरुचि से माघ ने अपने समय से शास्त्रो व सभी विषयो का गहरा ज्ञान प्राप्त किया था। पाण्डित्य के क्षेत्र मे माघ निश्चित रूप से कालिदास, भारवि, भट्टि व हर्ष को भी पीछे छोड देते है। कालिदास मूलतः कवि हैं, भारवि राजनीति के व्यावहारिक ज्ञाता और भट्टि वैयाकरण, श्री हर्ष का पाण्डित्य भी दर्शन मे अधिक जान पड़ता है। किन्तु माघ सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पाण्डित्य लेकर उपस्थित होते हैं। व्याकरण, राजनीति, सांख्य-योग, बौद्धदर्शन, वेदपुराण, अलंकारशास्त्र, कामशास्त्र संगीत और यही नही, अश्वविद्या, हस्तिविद्या के भी वे अच्छे जानकार हैं। इतनी विविध शाखाओ का पाण्डित्य अन्य किसी कवि मे नही मिलता।—उनका कवि किसी प्रकार कम नहीं है, पर जहाँ भी आता है, पाण्डित्य के घटाटोप को छोड़ नही पाता[2]।

पर्यवेक्षण

भारवि ने अपने युग, परिवेश तथा प्रकृति का इतना सूक्ष्म, वीक्षण तथा अकन नही

---

१. शिशु० पुष्पिका - ५। २. संस्कृत कवि दर्शन–पृ० १७५।

किया जितना माघ ने। माघ मे जनसामान्य के जीवन और मनोविज्ञान से लेकर उच्चकुलीन वर्ग तक लोगो के चरित्र, पशुओ की चेष्टाएं तथा प्रकृति के विविध पक्षो का गहरा ज्ञान समाया हुआ है। सैन्यप्रयाण[१] और उसके समय विभिन्न मनुष्यो की चेष्टाएं,[२] तथा प्रकृति के विविध पक्षो, विभिन्न पशुओ – हाथी,[३] घोडा[४] बैल,[५] ऊंट,[६] ग्रामजीवन,[७] यज्ञ,[८] आदि के वर्णनो मे माघ की अद्भुत पर्यवेक्षण शक्ति का पता चलता है। पशुओ की विविध चेष्टाओ तथा स्वभाव का जितना गहरा अध्ययन माघ ने किया है, उतना अन्य किसी कवि ने नही। माघ का यह विरल वैशिष्ट्य है कि एक ओर तो उनका संसार का व्यवहारिक ज्ञान भी अथाह है और साथ ही शास्त्रीय पाण्डित्य मे तो संस्कृत का अन्य कोई कवि उनसे लोहा ले ही नही सकता। जलक्रीडा तथा उसके साधन[९],प्रणय का मनोविज्ञान[१०] आदि के चित्रणो मे वे दुर्लभ पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय देते हैं।

प्रतिभा

माघ के भीतर की सवेदना राजकीय वैभव और विलास की चकाचौध मे कही दब कर रह गयी हैं। अपने युग की परम्पराओ तथा वातावरण में माघ इतने रमे हुए थे कि उन्होंने उनसे कुछ हटकर स्वतन्त्र मार्ग अपनाया ही नही। वे गीतिकाव्य लिखते तो अपने भावो के प्रकाशन के लिये उन्हें अच्छा अवसर मिल सकता था, पर महाकाव्य के घटाटोप मे उनके भीतर का गीति कवि कही घुट कर दब गया है, वह उभर कर स्पष्ट सामने नहीं आ सका। माघ महाकाव्य के विस्तृत वैभवमय राजमार्ग पर विचरण करने मे खो गये हैं और उन्होने सहज भावो की पगडण्डियो को विस्मृत कर दिया है। उनके पाण्डित्यप्रदर्शन की प्रवृत्ति ने भी भावो के सहज प्रवाह को अवरुद्ध कर दिया है। माघ के भीतर गहरी संवेदना और भावतरलता विद्यमान थी, पर उन्होने उसे प्रकाशन का अवसर नही दिया। वर्णनो मे विशेषतः मानवीकरणात्मक कल्पनाओ मे उनकी संवेदना कही-कही सामने आयी है।[११]

माघ को प्रतिभा मे भारवि जैसी भी स्वतन्त्र चेतना नही थी। उनकी प्रतिभा सामयिक प्रभावो के बांध मे बंध कर ही विकसित हुई, इसीलिये उनमे सानुपातिकता

१. शिशु० ३।६५ २. वही ११।४ ७, ८, ३. वही ५।५-१०, ५।३०-३१, १२।५
४ वही ५।५३-६१, ११।११ ५. वही ५।६२-६४, ६. वही ५।६४, ६६, १२।६
७. वही १२।३५-४१ ८. वही १४।१८-५२
९. शिशु० ८।३० १०. वही १०।४१,२६ ११. वही ४।४७

तथा समजन भारवि से भी कम है। भारवि के कथानक का सूत्र किरातार्जुनीय मे एकदम फिर भी नही टूटा है, पर शिशुपालवध का कवि अपने युग की साहित्यिक परम्पराओ से प्रभावित होकर वर्णनो के बीहड़पन मे खो गया है और उसकी प्रतिभा का उन्मुक्त विकास नही हो सका।

माघ का कल्पनाजगत भारवि से अधिक समृद्ध है पर उसके साथ ही अपनी कल्पना का वैभव दिखलाने की प्रवृत्ति भी उनमें उतनी ही अधिक है, इसीलिये उनकी कल्पनाओ मे अतिशयोक्ति या मानसिक व्यायाम की ओर झुकाव बढता गया है। नारद ने पृथ्वी पर पैर रखे तो शेषनाग के लिए पृथ्वी का भार संभालना असह्य हो गया[1] चाँदनी मे मिलकर द्वारका की श्वेत सौधपक्तियाँ छिप जाती थी और वहाँ की स्त्रियाँ छत पर स्थिर होकर आकाश मे लटकी सी लगती थी[2]––इत्यादि स्थलों मे माघ की कल्पना मे बात को तूल देकर विदग्ध लोगो का चमत्कृत करने का प्रयत्न ही हावी है। इसी प्रकार राजनीति की व्याकरण से श्लेषमूलक उपमा द्वारा तुलना[3] या श्लेषमूलक विरोधाभास के द्वारा द्वारका का वर्णन[4] या रैवतक की दोनो ओर घाटियो से युक्त हाथियो से तुलना,[5] समुद्र की बनिये से तुलना[6], सूर्य की श्लेषमूलक उपमा द्वारा इन्द्र से तुलना[7] – इन सब स्थलो के साथ और भी अन्य स्थलो पर जहाँ माघ की कल्पना दर्शन या व्याकरण के पाण्डित्य के जाल मे फंस गयी है;[8] वह अपनी सहज सवेद्यता खो बैठी है पर अनेक स्थलो पर वह कथ्य से सीधा साक्षात्कार करते हुए उसकी रमणीयता बढाने के लिये उपयुक्त उपमान ढूढ लाती है। ऐसे स्थलो पर माघ की कल्पना मौलिक तथा सौन्दर्याधायक बन गयी। जैसे नारद और कृष्ण के शरीर की कान्तियो का सम्मिश्रण ऐसा लगा जैसे रात को चन्द्रमा की ज्योत्स्ना पलाश के पत्तो मे आ छिपी हो।[9] या सेना के प्रयाण मे उड़ती हुई धूल के कारण कृष्ण ने दिशा को बूढे भैंसे के सीग के समान मटमैली देखा।[10] पर माघ की कल्पना अधिकाशत: उक्तिवैचित्र्य के चक्कर मे फस गयी है। "जैसे जिनके शरीर मे प्रलयकाल मे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड समा जाता है, उनमे नारद के आगमन पर हर्ष नही समाया" अथवा "रावण ने दन्तपत्र बनाने के लिए गणेश का एक दांत उखाड़ फेंखा होगा, तभी वे एकदन्त बनकर रह गये–इस प्रकार कल्पनाओं मे कवि उक्तिवैचित्र्य के टेढेमेढे रास्ते पर भटक कर चलता है। इसके अतिरिक्त माघ की अनेक कल्पनाए अनुकृत भी हैं।[11]

१. शिशु० १।१३ २. वही ३।४३ ३. वही २।११२ ४. वही ३।५०। ५ वही ४।२०
६. वही ६।३२ ७. वही ११।५६ ८ वही ११।७५, १०।१५, १४।१६ आदि।
९. शिशु० १।२१, १०. वही १७।४१,
११. द्रष्टव्य-शिशु० १।६, ३।३७, ३,६३, ३।७५, ४।३६, १८।२५, ३।७८

मानवीकरणात्मक कल्पनाओं में भी जहां माघ कृत्रिमता के आडम्बर को छोडकर भाव के उन्मेष पर ध्यान देते हैं, वहां वे हमे प्रभावित करते हैं। पर ऐसे स्थल उनमे बहुत कम हैं। अधिकांशतः उनकी कल्पनाओ में, जहाँ मानवीकरण हुआ है, वहाँ भी चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्ति ही अधिक है। कही-कही, जैसे–उदयगिरि के शृंगो पर रेंगते हुए, पद्मिनियों द्वारा कमल रूपी मुखो से देखे जाते हुए पूर्व दिशा के अंक मे पडे बाल सूर्य की कल्पना[1] या पतिगृह जाती नदियो को पक्षियो के कलरव के बहाने रो-रो कर विदा देने रैवतक की कल्पना[2] जिनमें कवि ने भावबोध को बचाये रखने का प्रयत्न किया है, हृदय को कुछ छूती है, परन्तु अनेक स्थलो पर, जैसे-सूर्य को अपस्मार का रोगी बताना[3] आकाश रूपी सिर, सूर्य रूपी नयन, तथा आतप रूपी विरल कान्ति वाले दिन के वृद्ध होने की कल्पना,[4] दिशा रूपी वेश्या की अनुरागवान् तथा सुखकारक शरीर से युक्त किन्तु वसु (धन, तेज) से विहीन सूर्य को घर से निकाल देने की कल्पना[5] इस प्रकार की हैं, जिसमे भावोद्बोध के स्थान पर पाठक को चमत्कृत करने और वाहवाही लूटने की प्रवृत्ति ही वर्तमान है।

सौन्दर्य-बोध

माघ में भारवि के जैसी स्वस्तिचेतना नही है। वे भारवि की भाँति न तो शिव से सौन्दर्य की ओर अग्रसर होते हैं और न कालिदास की भाँति सौन्दर्य को इष्ट मानकर शिवत्व की ओर ही। 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपेति तदेव रूपं रमणीयतायाः' मे माघ की रमणीयता क्षण-क्षण नवीन लगने वाले उक्तिवैचित्र्य मे ही सिमटी हुई है। सौन्दर्य के बाह्य आवरण को चीरकर माघ उसकी तह तक नही पहुँच सकते। उनका सौन्दर्य अलंकृत शैली ओर के शब्द के मधुर नाद मे ही सन्निहित है। शैली के शब्दो मे, जो उसने मिल्टन के लिए प्रयुक्त किये हैं, माघ को हम अलंकृत शब्दों का उद्भावक (Creator of Ornate Members) कह सकते हैं।[6]

व्याकरण पर अपने अधिकार के कारण माघ ने बिभराम्बभूव, मध्येसमुद्रम् पारेजलम्, वैरायते, निषेदिवान्, जैसे रूपो का प्रयोग करके अपनी शैली को निखारा है, दूसरी ओर भाषा पर अधिकार के कारण वे ऐसे अनेक पद्यो की रचना करते हैं, जिनमें कथ्य के अनुरूप नादसौन्दर्य उत्पन्न करके चित्ताकर्षक प्रभाव उत्पन्न किया है। जैसे वायु के बहने का यह वर्णन—

---

१. शिशु० ४।१४१, २. वही ४।४७
३. शिशु ३।४२ ४. वही ९।३ ५. वही ९।१०
६. संस्कृतकविदर्शन–भोलाशंकरव्यास, पृ० १९० ।

विलुलितालकसंहतिरामृशन् मृगदृशां श्रमवारिललाटजम् ।
तनुतरंगतति सरसां दलत् कुवलयं वलयन् मरुदाववौ ॥—६।३

या नरसिंह के द्वारा हिरण्यकश्यपु को फाड़ने का वर्णन—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया ।
स मुग्ध कान्तास्तनसंगभंगुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥

ऐसे स्थलो पर शब्द अपनी ध्वनि से क्रिया के होने का बोध कराते से लगते हैं ।

उपसंहार

माघ स्त्रैण कवि हैं, जबकि भारवि पौरुष से सम्पन्न । माघ मे भारवि की ऊर्जस्विल वीरता नही है । माघ के युद्ध वर्णनो मे वीरता को वह भावना नही जो भारवि के युद्ध वर्णनों मे है । युद्धवर्णन का प्रसंग शिशुपालवध मे १७ वें सर्ग से प्रारम्भ होता है । १० वें सर्ग मे २-१६ श्लोको मे कृष्ण की सभा का क्षोभ या विभिन्न राजाओं की क्रोधपूर्ण चेष्टाओ का वैचित्र्यपूर्ण वर्णन है, इसके पश्चात् युद्ध की तैयारी का वर्णन है (२०-२७) । और उसके पश्चात् सैन्यप्रयाण और दोनो सेनाओ के सम्मुख आने तक के वर्णन के साथ १७ वाँ सर्ग समाप्त हो जाता है। इस सर्ग मे माघ का ध्यान वर्णनो को अधिकाधिक विचित्र बनाने पर ही केन्द्रित है, वीरत्व को भावना की उद्दीप्त करने पर नही । १८ वें सर्ग में भी वे आरम्भ मे युद्धभूमि का वर्णन करके तथा युद्ध के प्रारम्भ का आभास मात्र देकर (१८।६-२१),फिर घोडो और हाथियो की चेष्टाओ का, जो उनका प्रिय विषय है, अत्यन्य विस्तृत ही वर्णन करने में जुट जाते है (१८।२६-५१) जिसमे वे अश्वविद्या तथा गजशास्त्र के अपने सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिचय तो अवश्य देते हैं, पर वीरत्व की भावना उसमे व्यक्त नही हो पाती । इसके बाद १८ वें सर्ग के अन्त तक (५२-८०) माघ की दृष्टि प्रायः स्वर्ग मे वीरो के लिये प्रतीक्षा करती या उनके पुनरुज्जीवित होने पर दुखी होती अप्सराओं, सती होकर पुनः स्वर्ग मे पति से मिलने वाली प्रतिव्रताओं पर ही प्रायः केन्द्रित है । १६ वें सर्ग में उन्हे वीर रस के विकास के लिये अच्छा अवसर मिला था, पर उसे भी उन्होने चित्रबन्धो के संयोजन मे व्यस्त होकर हाथ से जाने दिया । २० वें सर्ग मे माघ की दृष्टि दिव्यास्त्रो के प्रयोग से उत्पन्न विचित्र दृश्यो के वर्णन पर ही अधिक केन्द्रित रही है । यद्यपि कहीं-कहीं भारवि के अनुकरण पर ओजस्वी शब्दो एव पदो के गुम्फन द्वारा वोरता का वातावरण उत्पन्न

करने का प्रयास उन्होने किया है, परन्तु भारवि की भाँति उफनते हुए उद्दाम, उग्र वीरत्व का समुन्मेष फिर भी नही हो पाया।

माघ मे संवेदना तथा रागात्मकता भारवि से अधिक है, पर उसका वे भारवि के साथ प्रतिद्वन्दिता की भावना और समकालीन वातावरण के प्रभाव के कारण समुचित उपयोग नही कर सके। माघ से मध्ययुग के कवियों की वह परम्परा प्रारम्भ होती है जो महज चमत्कार और पाण्डित्य के प्रदर्शन के लिये ही काव्यरचना मे प्रवृत्त होते थे, यदि उनके भीतर वास्तविक कवि कहीं था भी तो उन्होने प्रायः सामने नहीं आने दिया।

चतुर्थ अध्याय

विशाखदत्त और दण्डी

विशाखदत्त और दण्डी दोनो का समय लगभग वही है जो भारवि और माघ का, परन्तु इन दोनों कवियो मे हम इस युग की काव्यधारा से किंचित् भिन्न प्रवृत्तियां देखते हैं। दोनो ही विषय-वस्तु के विन्यास और अपनी यथार्थवादी चेतना के कारण अपने समकालीनो की अपेक्षा मृच्छकटिककार के अधिक निकट हैं। दोनो की रचनाओ मे हम एक दूसरी दुनिया से साक्षात्कार करते हैं, जो निश्चय ही भारवि, माघ, भट्टि, कुमारदास, हर्ष या राजशेखर आदि-आदि कवियो की दुनिया नही है। लीक से हटकर नयी विषय-वस्तु के उपस्थापन का साहस तथा प्रतिभा की मौलिकता - ये दोनो बातें विशाखदत्त और दण्डी मे मिलती है।

विशाखदत्तः आभिजात्य तथा जीवन :

मुद्राराक्षस के भरतवाक्य मे श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु मही -- आदि से अनुमान किया जाता है कि विशाखदत्त का कुल राजवंश का ही एक अंग रहा होगा, जिसे कनिष्ठ होने के कारण राज्य से वचित रहना पडा हो।[1] नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि विशाखदत्त सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र तथा महाराज पृथु अथवा भास्करदत्त के पुत्र थे। विशाखदत्त ने अपने जीवन मे सामयिक राजनीति का अन्तरंग परिचय प्राप्त किया था और सम्भवतः वे सक्रिय रूप से उनके प्रतिभागी भी रहे थे, जिसकी छाया उनके मुद्राराक्षस तथा अनुपलब्ध नाटक देवीचन्द्रगुप्त से शृंगारप्रकाश आदि ग्रथो मे उपलब्ध उद्धरणो मे देखी जा सकती है।

मुद्राराक्षस (१।१३) से प्रतीत होता है कि कवि उस प्रदेश का निवासी था, जो धान खेती के लिये विख्यात है। यही कारण है कि कवि धान की उस अवस्था से को पूर्ण परिचित है, जब वे गुच्छे के गुच्छो के रूप मे बढते हैं। इसी प्रकार विशाखदत्त गौडदेश की प्रथाओ से, वहाँ की सुन्दरियो के प्रसाधनो तथा रूपरंग से पूर्णतः परिचित थे। मलयकेतु की सेना मे खस लोगो के उल्लेख भी कवि के निवास को पूर्वीभारत ही सिद्ध करते हैं।

---

१. मुद्राराक्षसः सं० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रस्तावना पृ० १

विशाखदत्त अवश्य ही स्वयं एक कुशल राजनीतिज्ञ रहे होंगे, क्योंकि उनके दोनो नाटको—विशेष रूप से मुद्राराक्षस मे–राजनीति की पेचीदा गुत्थियो मे उनकी गहरी सूझ-बूझ दिखाई देती है।

मान्यताएं तथा आदर्श :–

विशाखदत्त सेवावृत्ति को अत्यन्त ही हीन समझते थे।[१] सेवा को उन्होने कुत्ते की वृत्ति कहा है।[२] उद्योग तथा कर्मठता के वे प्रबल समर्थक थे तथा उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति को सदा उद्यमशील बने रहना चाहिये, चाहे कितनी ही असफलताए उसके हाथ क्यों न लगें।[३] परन्तु विशाखदत्त के मत मे यह कर्मशीलता अपने निजी स्वार्थ की परिपूर्ति के लिये नही, अपितु समष्टि के हित के लिये होना चाहिये। उनका आदर्श चाणक्य है, जो स्वयं अकिंचन रहकर सारे राष्ट्र के लिये कर्मरत है। विशाखदत्त निःस्वार्थता को सर्वोपरि मानते हैं।[४]

. विशाखदत्त के अनुसार आदर्श नारी वह है, जो पति के अनुगमन मे ही अपने जीवन की सार्थकता समझे।[५] स्त्री के विषय में उनकी धारणा थी कि उसका क्षेत्र घर ही है, उसे पुरुष को अनुगामिनी तथा अनुचरी बनकर ही रहना चाहिये। विशाखदत्त सम्भवतः यह भी मानते थे कि स्त्रियो मे बुद्धि का प्रकर्ष नही हो सकता–(पुरन्ध्रीणा प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी-मुद्रा०) पर स्त्री के लिये उनके मन अतिशय आदर भी था। वे आदर्श नारीत्व के उपासक थे तथा मानते थे कि नारी के सम्मान की रक्षा हर कीमत पर होनी चाहिये। देवी चन्द्रगुप्त मे वे अपने प्रिय नायक से स्त्री के सम्मान की रक्षा के लिये प्राणो की बाजी लगवा देते ह।

आदर्श नीति और आदर्श गृहिणी उनकी दृष्टि मे समान हैं–दोनो ही गुणवती, उपायों की आश्रय, त्रिवर्ग की साधिका, तथा कर्त्तव्य को निर्धारित करने वाली होती

---

१. वही ३।१४, ५।४, ५।१२
२. वही ३।१४ ”
३. वही २।१७, १८
४. द्रष्टव्य - वही, ३।१५, १६
५. भर्तुश्चरणावनुगच्छन्त्या आत्मानुग्रहो भवतु इति-मुद्रा० पृ० ३५८ पर चन्दनदास पत्नी की कथन।

हैं।[1] आदर्श नीति देश और काल रूपी घड़ो के द्वारा बुद्धि रूपी जलप्रवाह से सींची जाकर लता के समान समय आने पर कार्य रूपी महान् फल प्रदर्शित करती है।[2] अवसर आने पर नीति मित्रो को शत्रु में, शत्रु को मित्र मे बदल देती है तथा वह जीवित पुरुषो का ही दूसरा जन्म भी करवा देती है।[3] सन्धि, विग्रह, यान आदि छः गुणो तथा सामदामादि चार उपायो रूपी पाशो से घटित नीति रूपी रस्सी शत्रु को बाध लेती है।[4] इस प्रकार की नीति मे एक ही चाल से अनेक बातें सिद्ध हो जाती हैं।[5]

विशाखदत्त राजपद को अत्यन्त उत्तरदायित्वपूर्ण मानते थे[6] तथा उनका विचार था कि राजा को स्वयं अनुशासित[6] रहना चाहिये।[7] राजा के अमात्य तथा सेवक ऐसे निःस्वार्थ होने चाहिये, जो उसके लिये सर्वस्व समर्पित करने को तैयार हो, भक्तियुक्त होने के साथ-साथ प्रज्ञा और विक्रम से भी वे युक्त हो।[8] वे राष्ट्रहित के लिये भली भांति युक्तियो को जानते हो और राजमण्डलो का विचार भी रखते हो तथा गुप्त रहस्य की सर्वदा रक्षा कर सकते हो।[9]

दृष्टिकोण :—

दण्डी की ही भाँति विशाखदत्त पर भी यह आरोप लगाया जाता है कि उनमे जीवन के उच्चतर मूल्यो मे आस्था नही है। डा० एस० के० डे का कथन है कि मुद्राराक्षस मे नाटक के विषय के अनुरूप गरिमा का अभाव है। एक राज्य को हस्तगत करना तथा एक शासनतन्त्र को मिटाकर नये शासनतन्त्र का निर्माण यह सब नाटक में व्यक्तिगत राग-द्वेष के ही कारण होता है। और राक्षस के चन्द्रगुप्त के वशवर्ती बन जाने पर भी तथा चन्द्रगुप्त के एकछत्र साम्राज्य को पा लेने पर भी हमारी नैतिक भावना सन्तुष्ट नही होती। पर चन्द्रगुप्त और चाणक्य की विजय कराने मे विशाखदत्त की राष्ट्रीयता की भावना ही उदग्र प्रतीत होती है। चाणक्य की भाँति विशाखदत्त भी राष्ट्र की बिखरी हुई इकाइयो को एक सुनियोजित सार्वभौम और न्यायप्रिय शासन-तन्त्र के रूप मे इकठ्ठी देखना चाहते थे। —यही उस युग की राष्ट्रीय भावना थी, जिसकी अभिव्यक्ति विशाखदत ने चाणक्य के द्वारा मुद्राराक्षस मे (द्रष्टव्य ३।१९) तथा चन्द्रगुप्त के द्वारा-देवीचन्द्रगुप्त मे करवाई है। भारवि की भाँति शाखदत्त श्री-शक्ति, सम्पत्ति और पराक्रम की साधना करना चाहते हैं, पर भारवि जहाँ साधन की विशुद्धता पर

१. मुद्रा० १।५ २. वही, ५।१ ३. वही, ५।८ ४. वही, ६।४,
५. वही, २।१९ ६. वही, ३।४-५ ७. वही ३।६ ८. वही, १।१४-१५
९. वही, १।१

जोर देते प्रतीत होते हैं, वहाँ विशाखदत्त दण्डी की भांति कुटिलता अथावा चालाकी से-येन केन प्रकारेण-साध्य की प्राप्ति कर लेना श्रेयस्कर समझते हैं। उनकी जीवनदृष्टि मे वह गरिमा नही है, जो भारवि मे है।

आस्था :-

विशाखदत्त शंकर के भक्त थे[1], तथा विष्णु पर-विशेषत: उनके लोकोपकारक रूप वराह पर-उनकी हार्दिक श्रद्धा थी।[2] उन्हे बुद्धि और नीति के प्रभाव तथा अनवरत उद्यम और कर्मठता की सफलता पर पूर्ण आस्था थी। वे भाग्य को महत्व देते हुए भी कर्मठना के समक्ष उसे पूर्वपक्ष ही मानते थे[3]।

स्वभाव :-

राजकुल मे उत्पन्न होने के कारण विशाखदत्त अत्यन्त स्वाभिमानी स्वभाव के थे। वे अत्यन्त ही चतुर और नीतिकुशल भी रहे होगे पर अपने स्वाभिमान का हनन उनको किसी भी कीमत पर स्वीकार नही था। उनके चारो प्रमुख पात्र-राक्षस, चाणक्य, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु-परम स्वाभिमानी हैं।

स्वाभिमान के साथ-साथ विशाखदत्त मे स्वतन्त्र चेतना थी तथा निरर्थक परम्पराओ को तोड फेकने का श्लाघ्य साहस भी। भास और कालिदास की समृद्ध नाट्य-परम्परा मे होते हुए भी अपनी मौलिक स्वतन्त्र चेतना के द्वारा कवि ने मुद्राराक्ष जैसे नाटक की सृष्टि करके एक नये प्रतिमान की स्थापना की।

विशाखदत्त मे इतना सब होते हुए भी अत्यन्त ही विनम्र हैं। संस्कृत नाट्यसाहित्य की महान् उपलब्धि मुद्राराक्षस के विषय मे कही भी कवि ने एक भी प्रशंसापूर्ण शब्द नही कहा, और न अपने लिये अन्य नाटककारो की भाँति लम्बे-लम्बे विशेषणो का प्रयोग ही किया, जबकि वे ऐसे युग मे हुए थे, जब किसी नाटककार के लिए आत्मश्लाघा और लम्बे-चौड़े दावे करना एक आम बात थी। वह अपने आपको मात्र 'कवि विशाखदत्त' ही कहते हैं और विनम्रता पूर्वक आशा करते हैं कि 'काव्य के वेत्ताओ की परिषद् मे उनकी साधारण सी कृति का सम्मान होगा।[4]

राजनीति के प्रपचो के बीच अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी विशाखदत्त के भीतर

---

१. मुद्रा० १।१-२ २. मुद्रा० ३।२१, ७।१९

३. राक्षस के कथनो मे भाग्यवाद पूर्वपक्ष के रूप मे ही है। ४. मुद्रा पृ० ६।१।२

विनोद-मयी प्रवृत्ति विद्यमान थी। उनके विनोद मे शिष्ट हास्य की छटा है, मध्ययुग के कवियों में मिलने वाला भोंडापन कही नही। मुद्राराक्षस के प्रथमाक मे शिष्य और चर का संवाद अत्यन्त ही रुचिकर हास्य से भरपूर है। इसी प्रकार तृतीयांक मे चाणक्य और चन्द्रगुप्त का कृतक कलह भी अत्यन्त मनोरंजजक है। मुद्राराक्षस जैसे गम्भीर राजनीतिक नाटक मे भी स्थान-स्थान पर विशाखदत्त का विनोदशील स्वभाव झांकता हुआ दिखाई देता है।[1]

पाण्डित्य और पर्यवेक्षण :-

विशाखदत्त ने न्यायदर्शन[2] नाट्यशास्त्र[3] तथा व्याकरण का अच्छा ज्ञान अर्जित किया था। राजनीति पर तो उनका असामान्य अधिकार था ही। परन्तु शास्त्रीय पाण्डिय की अपेक्षा विशाखदत्त में व्यावहारिक ज्ञान अधिक है, जो स्वयं के पर्यवेक्षण और अनुभव से अर्जित किया गया है।

मानवमनोविज्ञान का गहरा अध्ययन उन्होने किया था तथा वे व्यक्ति के अन्तर्मन के जबरदस्त पारखी थे। उन्होने विभिन्न प्रकार के, विभिन्न वर्गों के मनुष्यो का गहराई से पर्यवेक्षण किया था। उनके नाटक के १७ पात्रो मे से प्रत्येक अपना निजी व्यक्तित्व लेकर आता है। राक्षस और चाणक्य-इन दोनो पात्रो के मन मे तो विशाखदत्त बहुत भीतर तक पेठ गये हैं और उन्होने जितनी गहराई और कुशलता से अपने इन दोनो पात्रो की मानसिकता को उद्घाटित किया है, वह आश्चर्यजनक है।

समकालीन समाज को विशाखदत्त ने निकट से देखा था, यद्यपि उनके नाटक की वस्तु उनके समकालीन समाज के एक विशिष्ट वर्ग का ही चित्रण करने के लिये अवकाश देती है। यदि उनकी दूसरी कृति देवीचन्द्रगुप्त 'उपलब्ध होती तो इस विषय मे अधिक निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता था। फिर भी मुद्राराक्षस मे भी विशाखदत्त कुछ स्थानो पर सामान्य नागरिको के जीवन से अपना परिचय प्रकट करते हैं।[4]

प्रतिभा

एक नाटककार में जो दृष्टि अपेक्षित है, वह विशाखदत्त मे विद्यमान है। चरित्र और वस्तु-संयोजन मे उनकी मौलिकता स्पष्ट है। भास, अश्वघोष, कालिदास जैसे नाट्यकारों के द्वारा नाटक की प्रायशः अशेष सम्भावनाओ का उद्घाटन और नाट्यशास्त्र

---

१. द्रष्टव्य-पंचमांक का प्रवेशक, ५।२२, षष्ठाक का प्रवेशक आदि।

२. वही, ५।१०। ३. वही, ४।३,५।३। ४. द्रष्टव्य मुद्रा० ३।१०।

के नियमो द्वारा नाटक के ढाचे को स्थिर बना दिये जाने के पश्चात् मुद्राराक्षस जैसे क्रान्तिकारी नाटक की रचना विशाखदत्त जैसी प्रतिभा से ही हो सकती थी। विशाखदत्त ने संस्कृत-नाटक मे पहली बार प्रणय के मधुर वातावरण का विध्वंस किया, विदूषक का बहिष्कार किया, शृंगार और राजाओ की मधुकरी प्रणय-क्रीडाओं के संकुचित घेरे से उसे निकालकर वास्तवजगत मे स्थापित किया। उसके नाटक का प्रत्येक पात्र अद्वितीय प्रतीत होता है, क्योकि वह नाटककार की जीवन्त अनुभूति, सन्दर्शन (Vision) और पर्यवेक्षण से उपजा है। मृच्छकटिककार ने भी संस्कृत-नाटक को जीवित और अनूठे पात्र दिये हैं, पर विशाखदत्त की चरित्र-विषयक दृष्टि अधिक मौलिक और गहरी प्रतीत होती है। मृच्छकटिक का रचयिता सहृदय रसिक नागरक की रुचि को फिर भी ध्यान मे रखता है, रस-सृष्टि पर ध्यान-केन्द्रित रखने की प्रवृत्ति भी उसमे है, जो उसे परम्परा से मिली है, जबकि विशाखदत्त नाटकीय प्रभाव और अन्विति, पात्रो के आन्तरिक जगत् के तलावगाही उद्घाटन पर ध्यान रखते हैं और उनकी रचना मे रसपेशलता स्वत: आती गयी है। यह उनकी प्रतिभा की विशिष्टता है।

संवेदना

विशाखदत्त का व्यक्तित्व उनके चाणक्य की तरह है, जो चट्टान की भाँति अडिग और कठोर है, पर जिसके भीतर प्रच्छन्न रूप से मानवता का सोता बह रहा है। चाणक्य, जो ऊपर से कठोर और कुछ निर्दय-सा लगता है, अपने भीतर बडा ही कोमल है और उनके हृदय मे चन्द्रगुप्त ही नही, अपने प्रतिपक्षी राक्षस तक के लिये अपार स्नेह है। इसी प्रकार विशाखदत्त के हृदय मे भी अपने सभी पात्रो के लिये बडी ही ममता है— मलयकेतु तक के लिये भी जिसे वे अन्त मे जाकर करुणा पूर्वक बन्धन-मुक्त कराते हैं। उनके हृदय की आन्तरिक संवेदना तो राक्षस व चन्दनदास के उद्गारो तथा चन्दनदास की पत्नी और उसके बालक के करुणक्रन्दन के मर्मान्तिक चित्रण मे दिखाई पड़ती है, जहाँ विशाखदत्त का हृदय अपनी कठोरता की खोल को उतार कर स्वयं रो उठा है। फिर भी उनके भावबोध मे भवभूति की सी तन्मयता नही, उनमे एक प्रकार की निःसंगता है, जो उन्हें भावातिरेक से बचाती है। पर अपनी निःसंगता के बावजूद विशाखदत्त मानवमन के भीतर झाक कर उसकी मार्मिक स्थितियो को अपनी अन्तर्दृष्टि के कारण उभार सके हैं, जो अपनी भावनात्मक गहराई मे भवभूति से कम प्रभाव उत्पन्न नही करती। षष्ठ अक मे अपना सब कुछ समाप्त हो जाने के बाद सब ओर से हारे हुए, हताश राक्षस की भग्न विषण्ण मनःस्थिति का करुणचित्र एक ऐसा ही प्रसग है। इस स्थल पर कवि की आन्तरिक सहानुभूति छलक उठी है और सारा का सारा वातावरण राक्षस के गहन विषाद की कालिमा से आवृत हो गया है। श्मशान का वह

दृश्य जिसमें राक्षस को लगता है कि 'पाटलिपुत्र के महलो के श्मशान मे बने वे खण्डहर उसी प्रकार ध्वस्त और विपर्यस्त हो गये हैं जैसे उसका स्वय का महान् प्रयास, पास का जलाशय उसी प्रकार सूख गया है, जैसे सुहृद् के विनाश से सज्जन व्यक्ति का सूखा हुआ हृदय, वृक्ष वैसे ही ठूंठ हो गये हैं जैसे गुणहीन राजा के संसर्ग से नीतियाँ, भूमि तृणो से वैसे ही आच्छन्न है, जैसे अल्पज्ञ व्यक्ति की बुद्धि कुनीतियो से। (६।११)। तीक्ष्ण धार वाले कुठारो से वृक्षो के अंग छील दिये गए हैं। उन वृक्षो की डालियो पर बैठकर कबूतर कूज रहे हैं। लगता है जैसे वे डालियाँ उनके कूजन के माध्यम से विलाप कर रही हैं तथा उन वृक्षो के तनो पर रेंगते सर्फ मानो उन वृक्षो के प्रति सहानुभूति से भरकर अपनी-अपनी केंचुल छोड़कर उन केंचुलो के द्वारा उनकी मरहम पट्टी कर रहे हैं। (६।१२)। इस प्रकार विशाखदत्त के भावबोध में तन्मयता न होते हुए भी उनकी सूक्ष्म मर्मोद्घाटिनी दृष्टि तथा प्रसगोचित कल्पना उसकी गहराई को सम्पूर्ण करती है। राक्षस की स्वामिभक्ति, सुहृद्स्नेह और हृदय की निश्छलता तथा उदारता के जीवन्त रूप से उपस्थापन मे विशाखदत्त की गहन मानवीय सवेदना दिखाई पडती है।

कल्पना

विशाखदत्त की कल्पना अत्यन्त ही संयमित और सन्तुलित है, वह कही पर भी अनर्गल दौड नही लगाती, उपयुक्त स्थितियो का सृजन करके वस्तु को अधिक आकर्षक बनाने मे वह सर्वत्र सफल है, भले ही कालिदास जैसा व्यापक सौन्दर्यदर्शन वह न कर पाती हो। प्रसगोचित निबन्धन विशाखदत्त की कल्पना का विरल वैशिष्ट्य है। उनकी कल्पना ऊची उडान भी भरती है, पर इतनी ऊची नही कि कथ्य उसकी दृष्टि से ओझल हो जाय[1]। सजगता, संयम और औचित्य विशाखदत्त की कल्पना मे सर्वत्र विद्यमान है। वह आवश्यकता के अनुसार भावोद्बोधन की भी पर्याप्त सामर्थ्य रखती है, चाणक्य और राक्षस की उक्तियो मे चुने हुए उपमान और बिम्ब भावोद्बोधन मे पूर्णतः सक्षम हैं और कवि की अवसरोचित निबन्धन की सार्थकता को प्रगट करते हैं।

विशाखदत्त मे घटनाओ के शिल्पपूर्ण सजग और उपयुक्त विन्यास की अद्भुत सामर्थ्य है। घटनाओ के कुशल विन्यास मे मृच्छकटिक जैसे दो-एक नाटको को छोडकर मुद्राराक्षस की टक्कर का संस्कृत साहित्य मे अन्य नाटक नही है। घटनाओ के विन्यास मे विशाखदत्त की कल्पना इतनी सजग है कि नाटक की प्रत्येक छोटी से छोटी

---

१. मुद्रा० १।११ मे रूपक १।८ मे उपमा, १।६ में रूपक, २।३ मे उपमा, २।६ तथा २।२१ फिर उपमा और ६।२४ मे उत्प्रेक्षा का अवसरोचित और सटीक प्रयोग किया गया है।

घटना अपनी पिछली घटना से सम्बद्ध होकर घटित होती है तथा नाटक की वस्तु को उसके उद्देश्य की ओर अग्रसर होने में एक नया मोड लेती है। घटनाओं का एक विशाल जगत् विशाखदत्त ने नाटक के प्रारम्भ मे बिछा दिया है, पर जिस कुशलता से उन्होने प्रत्येक घटना की सार्थकता दिखलाते हुए उसे अन्त मे समेटा है, वह उनकी कल्पना की असामान्य सामर्थ्य का द्योतक है।

सौन्दर्य-दृष्टि

विशाखदत्त के सौन्दर्यबोध का परिचय हमे उसकी सधी हुई, कसावट और संयम से युक्त साफ-सुथरी भाषा शैली, उपयुक्त मुहावरो[1] तथा सटीक अवसरोचित बिम्बों व उपमानो के प्रयोग मे मिलता है। वे भाषा का कृत्रिम आडम्बरपूर्ण चत्मकार दिखाने तथा शब्दो के अनावश्यक सगीत या अनुप्रास की मधुर झंकार को सायास उत्पन्न करने के लोभ मे नही पडते। केवल दो चार स्थलो पर विशाखदत्त ने युग की साहित्यिक प्रवृत्तियो के प्रभाव मे आकर जटिल समासबहुत गौडी रीति का कृत्रिम गद्य लिखकर सकीर्ण सौन्दर्यवृत्ति का परिचय दिया है[2]। अन्यथा उनमे सर्वत्र प्रसाद को रमणीयता विद्यमान है।

सुन्दर के प्रति विशाखदत्त के मन मे उतना ही सम्मोहन है, जितना कवि मे होना चाहिये। मुद्राराक्षस मे उनकी सौन्दर्यदृष्टि राजनीति के शुष्क प्रपंच मे सूखकर रह गयी है, परन्तु उनके अनुपलब्ध नाटक देवीचन्द्रगुप्त तथा अभिसारिकावंचित (?) मे कवि के मन की सौन्दर्यवृत्ति तथा शृंगारभावना खुलकर आयी होगी। यह सम्भव है कि मुद्राराक्षस की रचना कवि ने देवीचन्द्रगुप्त आदि के पश्चात् सबसे अन्त मे की हो जब वार्धक्य तथा राजनीतिक जोवन के दाव पेचों की आंच मे उसके मन की ऊर्मिल रागात्मकता का स्रोत कुछ सूखने लगा होगा, पर मुद्राराक्षस मे भी विशाखदत्त की कोमल शृंगारभावना, जहाँ अवसर मिला है, उभर कर आयी है। प्रकृति के मनोरम दृश्यो पर दृष्टिपात करने का कवि को इस नाटक मे अवसर नही मिला, पर चतुर्थ अंक का शरद्वर्णन सुन्दर है। मुद्राराक्षस की रचना के समय भा कवि का मन शृंगार-पक्ष की ओर से नितान्त ठूंठ जैसा नही हो गया था।

---

१. द्रष्टव्य—कायस्थ इति लघ्वी मात्रा। तथापि न युक्त प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम्। तस्मिन् मया सुहृच्छद्मना सिद्धार्थको विनिक्षिप्त: (पृ० ४३)। ननु वक्तव्यं राक्षस एव अस्मदंगुलि-प्रणयी संवृत्त:। (पृ० ४४) तन्मयाप्यस्मिन्वस्तुनि शयानेन न स्थीयते। इत्यादि।

२. मुद्राराक्षस पृ० १०५–६।

उपसंहार

विशाखदत्त का व्यक्तित्व एक सुलझे हुए कलाकार का व्यक्तित्व है जिसमे जीवन की सच्ची समझ है। वह रूमानियत के किसी लोक मे चक्कर नही लगाता, वह यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित है और उसमे जीवन के कठोर यथार्थ को सहज भाव से स्वीकार कर लेने का साहस है। विशाखदत्त का साहस, निर्भीकता तथा क्रान्तिदर्शन — वे विरल गुण हैं, जो बहुत कम कवियो में मिलते हैं।[१] इसके अतिरिक्त विशाखदत्त के व्यक्तित्व की सबसे बडी विशेषता उसकी सादगी और संयम है। वे अपने ऊपर कृत्रिमता और आडम्बर का कोई खोल नही चढाये हुए हैं, अपने समय मे प्रचलित आडम्बरबहुल शैली को अपनाने के लोभ का संवरण करके भारवि की तरह उन्होने उदात्त स्वरो को अभिव्यक्ति दी है। उनके साधारण से दिखने वाले व्यक्तित्व के भीतर उत्कृष्ट सौन्दर्यबोध, उपयुक्त तथा रमणीय कल्पनाओ और जीवन को गम्भीर दृष्टि से सही अर्थो मे देखने वाले चिन्तन का समृद्ध भाण्डार है।

दण्डी : आभिजात्य और जीवन

दण्डी सम्भवत: दाक्षिणात्य थे[१] उनके काव्यादर्श मे[२] संख्यात नामक प्रहेलिका के भेद के उदाहरण मे उनके काची के पल्लवो के आश्रय मे रहने का सकेत मिलता है। अन्यत्र काव्यादर्श मे राजा राजवर्मन् का उल्लेख है, जिसका नरसिंहवर्मन् द्वितीय के साथ तादात्म्य माना जाता है, जिसने काची पर ६८०-७२२ ई० मे शासन किया। अन्य प्रमाणों से भी यह सिद्ध हो जाता है कि दण्डी सातवी शती के उत्तरार्द्ध मे पल्लव राजाओ के आश्रय मे रहे थे।[3]

अवन्तिसुन्दरीकथा के आधार पर कवि के वंश आदि के सम्बन्ध मे कुछ जानकारी प्राप्त हुई है। दण्डी के पूर्वज कौशिक गोत्र मे उत्पन्न हुए थे तथा आनन्दपुर (गुजरात) उनका मूल निवास स्थान था, जहाँ से उनका कोई पूर्वज नासिक्यदेश के अचलपुर

१— देखिये दशकुमारचरित काले का संस्करण, भूमिका पृ० १५ तथा
A Critical Study of Dandin, P. 82

२— धर्मेन्द्रकुमार गुप्त ने अपनी पुस्तक A Critical Study of Dandin and his works मे यह सिद्ध किया है कि अवन्तिसुन्दरीकथा, दशकुमारचरित तथा काव्यादर्श एक ही दण्डी की रचनाएँ हैं।

३. A Critical Study of Dandin and his Works, P. 82.

में आकर बस गया ।[1] दण्डी के पितामह दामोदर स्वामी थे, जिन्हे भारवि की सहायता से चालुक्य राजा विष्णुवर्धन की राजसभा मे प्रवेश मिला था । दण्डी के पिता मनोरथ थे । दण्डी का जन्म अनेक पुत्रियो के बाद हुआ था और वे अपने पिता की सन्तानो मे सबसे छोटे थे । उनका जन्म ६२५ ई० के आसपास हुआ होगा ।[2] सात वर्ष की अवस्था मे दण्डी का उपनयन हुआ और उन्होने विद्याध्ययन प्रारम्भ किया । परन्तु थोडे ही समय के उपरान्त उनके पिता की मृत्यु हो गयी तथा कांची र शत्रुओ ने आक्रमण कर दिया । दण्डी को विवश होकर वहाँ से भागना पडा । इसके पश्चात् बाण की तरह विभिन्न स्थानो मे भ्रमण करते हुए तथा विभिन्न गुरुकुलो मे शिक्षा प्राप्त करते हुए उन्होने कुछ वर्ष व्यतीत किये और काची मे स्थिति सामान्य होने पर वे वापस वहाँ आ गये ।[3]

दण्डी ने अपने जीवन मे बहुविध अनुभव किये थे, विभिन्न वर्गो के लोगो का सम्पर्क प्राप्त किया था, उन्होने भोगविलास तथा ऐश्वर्य के बीच भी जीवन बिताया तथा राज सभा मे प्रतिष्ठा भी प्राप्त की थी

मान्यताएं तथा दृष्टिकोण

दण्डी व्यावहारिक दृष्टिकोण वाले, साहसिक एवं स्वतन्त्र चेतना के व्यक्ति थे उन्होने अपनी स्वन्तत्र चेतना के कारण कथा और आख्यायिका मे भेद नही किया, तथा समाज की विकृतियो को बिना किसी हिचकिचाहट के खोल कर सामने रखा । जीवन के गुह्य पक्षो को साफगोई की भाषा मे खोलकर रख कर देने का साहस दण्डी मे था । उन्होने धूर्तता, धोखाधडी एवं कामुक प्रवृत्तियो का आखो देखा सा स्पष्ट और विशद चित्रण किया है, परन्तु हम इससे यह परिणाम नही निकाल सकते कि दण्डी स्वयं अनैतिकता की वकालत करते है या वे स्वयं अपने पात्रो की भांति धूर्त थे। दशकुमार चरित कवि की यथार्थवादी चेतना से अनुप्राणित है और यह उस समय की, सम्भवत: दण्डी के यौवन काल की — रचना है जब कवि ने जीवन को खुली आखो से—बिना परम्पराओ और पूर्वाग्रहो का चश्मा लगाये—देखा था, और सामयिक सन्दर्भो ने ही उसे मूलत: लिखने के लिये बाध्य किया – परम्पराओ से प्रेरणा लेते हुए भी उसको प्रेरणा का उत्स उसके चारो ओर बिखरा हुआ जीवन ही था । बाण ने भी दण्डी की भाँति अपने समय के समाज को गहराई से देखा था, पर बाण की चेतना उच्च और कुलीन वर्ग के बीच रमती है, उनका समाज सकुचित है, साथ ही आदर्शवाद से सर्वत्र अभिभूत होने के कारण वह अपनी सीमाओ से बाहर निकल कर जीवन को एकदम यथार्थ रूप मे सहज भाव से नही ले पाती । दण्डी के सामने बाण की तरह जीवन के आदर्श नही थे—ऐसी बात नही, पर

१. वही, पृ० ६५ २. वही, पृ० ८७-८८ । ३. अवन्ति सुन्दर कथा पृ० १।३०

उनकी चेतना उन आदर्शों के पूर्वपक्ष को, जो, कि यथार्थ है, उद्घाटित करने मे अधिक रमती थी, क्योकि वह जीवन को व्यापक फलक पर देखती थी, सच्चरित्र, धर्मात्मा और कुलीन लोग ही उसे नही दिखाई देते थे, अपितु निम्नमध्यमवर्गीय या जुआखोर धूर्त और पाखन्डी साधु भी उसके पर्यवेक्षण की परिधि मे आते थे

दण्डी अनैतिकता की पैरवी नही करते फिर भी उनकी चेतना मे आदर्श के लिये इतना आग्रह नही है। उनकी दृष्टि समाज के घिनौने पक्षो को उद्घाटित करने मे ही अधिक केन्द्रित है, जीवन मे बाण की तरह उच्चतर मूल्यो की उपलब्धि का काम उनके बस का नही। इसीलिये उनका ध्यान प्रणय के शारीरिक पक्ष पर ही प्रायः केन्द्रित है, जिसका नग्न चित्रण कुछ सीमा तक अश्लील भाषा का प्रयोग करते हुए भी—करने में दण्डी हिचकिचाते नही। राजवाहन और अवन्तिसुन्दरी के सम्भोग या उपहारवर्मन् और कल्पसुन्दरी के प्रणयविलास मे दण्डी शालीनता को लांघ जाते हैं। जीवन के उच्चतर मूल्यो मे सम्भवतः उन्हे इतनी गहरी आस्था नही है। प्रेम के सम्बन्धः मे उनका दृष्टिकोण काममंजरी के शब्दो मे यही लगता है—कामस्तु विषयातिसक्तचेतसोः स्त्री पुसयोर्निरतिशयसुखस्पर्शविशेष.। परिवारस्त्वस्य यावदिह रम्यसमुज्ज्वलं च। फलं पुनः परमाह्लादनम्, परस्परविमर्दजन्म, स्मर्यमाणमधुरम् उदीरिताभिमानमनुत्तमम्, सुखपरोक्षं स्वसंवेद्यमेव। तस्यैव कृते विशिष्टस्थानवर्त्तिनः कष्टानि, तपांसि, महान्ति दानानि, दारुणानि युद्धनि, भीमानि समुद्रलघनादीनि च नराः समाचरन्त इति। दण्डी की प्रेम के सम्बन्ध मे यही धारणा है कि यह एक प्रकार से अधिकार लिप्सा की भावना है और उनकी दोनो ही कृतियो मे प्रेम की परिधि शारीरिक भूख की परितृप्ति तक ही सीमित है।

फिर भी दण्डी इस प्रकार के प्रेम को ऊंचा स्थान नही देते। वे काममजरी के मुख से इस प्रेम की व्याख्या करा कर भी काममंजरी के पाखण्ड, छल और धूर्तता का पर्दाफाश करते हुए अन्त मे मारीच ऋषि को उसके जाल से मुक्त कर देते है[1] स्पष्ट ही कालिदास और बाण की भांति दण्डो ने इस वासनात्मक प्रेम की हेयता को समझा था, पर ऊससे उपर उठकर उदात्त प्रेम तक पहुँचने की अन्तर्दृष्टि उनमे नही थी, उनकी चेतना का स्तर मालविकाग्नि-मित्र के रचयिता के दृष्टिकोण तक ही सीमित रहा, जो पुरुष के निम्न गामी प्रेम को उद्घाटित करके उसकी कुरुपता का निदर्शन ही करा सकता है, शाकुन्तल के मूल्यनिष्ठ कवि की तरह वह अनेक सीढियो को पार करके उच्च प्रेम को अनुभूति नही कर पाता। वास्तव में दण्डी की दृष्टि यथार्थवादी और व्यावहारिक है, उनमें विकृतियो की सही समझ और उनके प्रति जुगुप्सा का भाव तो है, परन्तु

१. दशकुमारचरितः उत्तरपीठिका, द्वितीय उच्छ्वास।

उनके परे भी जीवन मे जो उदात्त और महनीय हो सकता है, उसकी और कवि की दृष्टि नही जाती ।

दण्डी धर्म को जीवन मे स्थान देते हैं, पर अपने यथार्थवादी तथा व्यावहारिक दृष्टिकोण के कारण वे उसे अर्थ और काम से अलग करके नही देखते । उनकी दृष्टि मे अर्थ-लाभ और काम की उपलब्धि प्रज्ञा और विवेक की सहायता से होनी चाहिये तथा प्रज्ञा-सम्पन्न पुरुष के लिये कुछ भी दुर्लभ नही है ।* यही नही, दण्डी के अनुसार अर्थलाभ और कामसेवन यथोचित रूप मे पहले होना चाहिये । यही नही, दण्डी यह भी मानते हैं कि अर्थ और काम के नाम से थोडी धर्महानि भी होती हो, तो व्यक्ति उसे होने दे । तृतीय उच्छ्वास मे उपहारवर्मा सोचता है—किन्तु परकलत्र-लंघनाद् धर्मपीडा भवेत् । साप्यर्थकामयोर्द्वयोरुपलम्भ्ये शास्त्रकारैरनुमतेति (दशकु० ५.१११) । दारिद्रय से दण्डी को घृणा है तथा अर्थ को वे यश का मूल समझते हैं ।[१]

आस्था

ब्राह्मण धर्म मे दण्डी की आस्था थी, परन्तु एक ईमानदार लेखक के रूप मे वे किसी भी सम्प्रदाय या धार्मिक पद्धति से प्रतिबद्ध नही थे । अवन्तिसुन्दरीकथा में उन्होने परब्रह्म की प्रशस्ति की है, जो आगे चल कर कवि के दर्शन की ओर झुकाव को प्रकट करती है ।[२] वैष्णव धर्म की ओर भी कवि का थोडा-सा झुकाव लगता है । जैन और बौद्ध धर्म से उनके सम्प्रदायों हुए मे फैले पाखण्ड के कारण कवि को घृणा हो गई थी । पुनर्जन्म[३] शाप[४], शकुन[५], तथा अनेक अन्य प्राकृतेतर तत्वों[६] मे दण्डी का विश्वास था । तपस्यामें उनकी दृढ आस्था थी, जो धीरे-धीरे बढती गयी थी ।[७]

*. अतिमानुष प्राणसत्वप्रज्ञाप्रकर्षस्य न किंचिद् दुष्कर नाम-दशकुमारचरित पृ० १०६ नास्त्यमीषा दुष्करं नाम—अवन्तिसुन्दरीकथा पृ० १६१, अविमृश्यकारिणां हि नियतमनेका. पतन्त्यनुशयपरम्परा.—दशकुमारचरित, पृ० १६१

१. अवज्ञासौन्दर्य दारिद्रयम् । दशकुमारचरित पृ० ८२ । अर्थो हि महात्मानाम–नुच्छिन्न सन्ततिर्यशप्रवाहः– अवन्तिसुन्दरी कथा, पृ०५८ । अर्थमूला हि दण्डविशिष्टकर्मारम्भाः, न चान्यदस्ति पापिष्ठ तत्र दौर्बल्यात् । दशकुमारचरित, पृ० २१०

२. अवन्तिसुन्दरीकथा पद्य–१

३. अवन्तिसुन्दरीकथा में (पृ० १४६–४६) राजहंस के पूर्वजन्मों का वर्णन

४. जैसे विद्याधर का शाप से कमल बनना अवन्ति० के प्रारम्भ मे

५. ६. अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः–अवन्तिसु० पृ० ११८ । द्रष्टव्य दशकुमारचरित पृ० १७० ।

७. द्रष्टव्य–अवन्ति० पृ० १५०–५१

पर्यवेक्षण

दण्डी ने अपने युग की संस्कृति व सामयिक परिवेश का सूक्ष्म अध्ययन किया था। अवन्तिसुन्दरीकथा मे काची तथा मगध का वर्णन[1], सैन्यप्रयाण व युद्ध का चित्रण[2], दशकुमारचरित मे कक्कुट युद्ध, गोमिनी की गृहव्यवस्था का चित्रण उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के प्रमाण है।

मानवमनोविज्ञान मे गहरी पकड दण्डी की थी। अपने पति विदेहराज विकटवर्मा को छोडे कर उपहारवर्मा के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर पति के साथ विश्वासघात करने वाली कल्पसुन्दरी (दशकुमार० तृतीय उच्छ्वास), दुःख मे सहायता करने वाले अपने सज्जन पति को छोड कर लूले-लंगडे व्यक्ति से प्रणय निवेदन करने वाली धूमिनी[3], भोली भाली धूर्त्त नागरिक कलहकण्ठक के चंगुल मे आकर अपना सतीत्व गंवाने वाली नितम्बवती - ये दण्डी के स्त्रीमनोविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन के उदाहरण है।

दण्डी का शब्दभाण्डार अतुल है। उन्होने प्राचीन व सामयिक साहित्य, कोश, व्याकरण, शास्त्रीय ग्रन्थ के साथ-साथ अपने समाज, घर व आगन से अनेक शब्दो का संग्रह व उपयोग किया हे, जो उनके विस्तृत अध्ययन तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण के परिचायक हैं। दशकुमारचरित मे गोमिनी की कथा मे गृहस्थी के उस समय प्रचलित न जाने कितने शब्द आ गये हैं। चोरी के उपकरणो को भी लम्बी सूची दण्डी ने प्रस्तुत की है। सामयिक जीवन से लिए गये अनेक विशिष्ट शब्द उनमे मिलते हैं।

इतिहास, पुराण व प्राचीन तथा सामयिक मिथको, दन्तकथाओ का भी दण्डी को विस्तृत ज्ञान था। उन्होने बाण और मयूर के विरोध का उल्लेख किया है।[4] हाथियो के प्रकोप तथा उनके विभिन्न लक्षणो का उन्हें ज्ञान था।[5] अश्वविद्या मे भी वे पारंगत थे।[6]

प्रतिभा

दण्डी की कल्पना यथार्थ स्थितियो को रूपायित करने मे तथा घटनाशिल्प मे सर्वाधिक सफल है। वस्तुस्थिति के सही अंकन मे वह सफल है। वर्णनो मे उचित बिम्बो और अलंकारो का आश्रय कवि ने लिया हे। दण्डी बाण-भट्ट की भाति लम्बे समासो और विशेषणो से युक्त भाषा का प्रयोग कर सकते थे। और उपमाओ और उत्प्रेक्षाओ के

१. अवन्तिसुन्दरीकथा पृ० ४-५, १७-१८।

२. अवन्तिसु० पृ० ६५-६८, ७१-७२, १०१

३. दशकुमारचरित षष्ठ उच्छ्वाश, पृ० ४१३। ४. अवन्तिसुन्दरीकथ-पद्य-१९।

५. वही, पृ०८०-८२। ६. अवन्तिसुन्दरी, पृ० ८८-८९।

अम्बार लगाने में भी वे समर्थ थे।[1] पर उन्होंने इस दिशा में संयम से काम लिया है। उनका यह सन्ध्यावर्णन बाण भट्ट का स्मरण कराता है—अथ तन्मनश्च्युततमःस्पर्शभिये-वास्तं रविरगात् ऋषिमुक्तश्च राग. सन्ध्यात्वेनास्फुरत्। तत्कथादत्तवैराग्याणीव कमलवनानि समुकुचन्।—पर दण्डी कल्पना का चमत्कार दिखाने के फेर में नही पड़ते।

दशकुमारचरित में जीवन के यथार्थ में पैनी दृष्टि के साथ युवावस्था के प्रेम और सौन्दर्य के प्रति गहरा आकर्षण भी कवि में है। अवन्तिसुन्दरी-कथा में उसकी चेतना में परम्पराओ और शास्त्रीय पाण्डित्य से कुछ परिवर्तन आया है। इसी बीच कवि ने अनेक प्राचीन साहित्यिको का अध्ययन तथा काव्यशास्त्र का मन्थन किया, अवस्था बढने के साथ-साथ उसमें पहले का सात्विक उत्साह भी न रहा, तथा यौवन के उद्दाम प्रणत व सौन्दर्य की भावना भी उसके मन में उतनी प्रबल नही रह गयी। पर साथ ही साथ इस समयचक्र के परिवर्त्तन ने कवि को एक नयी जीवन दृष्टि भी दी-तटस्थ और अनासक्त बनने की। अवन्तिसुन्दरी के रचयिता में हम वैसा उत्साह नही पाते, पर उसकी तटस्थता के कारण उसकी कला मे परिष्कार और सतर्कता अवश्य आयी है। दशकुमारचरित की अश्लीलता और असंयम उसमे नही रहा। कवि अब दशकुमारचरित के कार्य व्यापार की 'थ्रिल' का छोडकर प्रशान्त अनुप्रासात्मक सगीत या लयबद्ध गद्यशैली मे रमने लगा है। दशकुमारचरित की वैदर्भी रीति मे भी प्रासादिकता के साथ-साथ शैलीगत सौन्दर्य और अनुप्रासो की झकार मिल जाती है। पर अवन्तिसुन्दरी मे आकर कवि ने इनकी तरफ अधिक ध्यान दिया है। अयुग्मशरः शरशयने शाययिष्यति(दशकुमार०पृ०८४) जैसे वाक्य अब क्षरितनीहारे निजनिलयनिलीननिःशेषजने नितान्तशीते निशीथे (अवन्ति० पृ०१७२) या यस्मिश्च भूभुजि भुंजति भुजस्तम्भमेव न भुवं भोगभंगो भुजंगमाना न च भुजगकाः (वही, पृ०८१) अथवा प्रतिरूपया प्रतिपत्या प्रकृत. प्रहारवर्मा प्रियसुहृद् प्रवासेपि प्राणान् न पर्यत्यजत् (पृ० १७२)जैसे वाक्यो मे ढल गये है। यमक और श्लेष की ओर भी कवि की रुचि बढ़ी है।[2]

उपसंहार

दण्डी का संस्कृत कवियो मे विशिष्ट व्यक्तित्व है। यह ठीक है कि उसके व्यक्तित्व

---

१. द्रष्टव्य—दशकुमार (काले सस्करण पृ० १३८,

२. जैसे—भारवि रविमिवेन्दुः- अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० १०। शान्तशर्मदया नर्मदया—पृ० १३९, उपचक्रमे क्रमेण, विबुधो बुधः, नहुषनन्दनो नन्दनः, बहुविधनयावधानो बहुविधः, तपत्या कृतसंवरणः संवरणः, तपनीयपत्रचित्रधन्वा सुधन्वा आदि, अवन्ति० पृ० १४८-४९।

मे वह उदात्तता तथा उच्चादर्शानुप्राणित चिन्तन नही है, पर दण्डी के जैसी प्रखर सामाजिक चेतना और यथार्थवादी प्रवृत्ति भी अन्य संस्कृत के कवियो मे उतनी नहीं है। शूद्रक की मध्यमवर्गीय समाज मे कुछ पैठ है, पर उसकी चेतना चारुदत्त जैसे महाशय पात्रो मे ही अटकी रह गयी है, जुआरिओ, धूर्तों और पाखण्डियो के लोक का उतनी सचाई और ईमानदारी के साथ वह उद्‌घाटन न कर सका। यह तो दण्डी का क्षेत्र है, और जिसमे दण्डी अद्वितीय हैं। वास्तव मे दण्डी की चेतना आधुनिक व्यंग्य लेखको के अत्यधिक समीप है।

विशाखदत्त का व्यक्तित्व दण्डी की तुलना मे महनीय है। उनमे भारवि की भाति राष्ट्रीय चेतना और नैतिक दायित्व-बोध है। दण्डी धूर्तता और कपट का उपयोग संकुचित स्वार्थों के लिए करते हुए दिखाते हैं। विशाखदत्त ऊंचे लक्ष्य की पूर्ति के लिए दोनों के व्यक्तित्व मे भी यही अन्तर है। दण्डी मे वह सन्दर्शन- (Vision) नही है जो विशाखदत्त या भारवि मे है। चाणक्य के चरित्र द्वारा विशाखदत्त एक सुनिर्धारित लक्ष्य के लिए अनवरत उद्यम का आदर्श रखते है। उसी प्रकार का आदर्श भारवि भी अर्जुन के चरित्र के द्वारा प्रस्तुत करते है, जबकि दण्डी के किसी पात्र मे इस प्रकार की उदात्त चेतना नही दिखती। विशाखदत्त, दण्डी और भारवि- तीनो की चेतना प्रायः यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित है, पर भारवि का व्यक्तित्व निश्चय ही दण्डी या विशाखदत्त की अपेक्षा अधिक परिष्कृत प्रतीत होता है, यद्यपि उनकी कविता का क्षेत्र भी उतना ही सीमित है। दण्डी और विशाखदत्त दोनो अनुभव की समृद्धि और जीवन और जगत् के यथार्थ अंकन मे भारवि से बढे चढे है। अपने व्यक्तित्व की उदात्तता, नैतिक मूल्यो मे आस्था और चिन्तन मे भारवि निश्चय ही इन दोनो कवियोसे वरीय है, विशाखदत्त पात्रो के आन्तरिक जगत् का बाह्य परिस्थितियो के वात्याचक्र के बीच उद्‌घाटन करने मे तलावगाही दृष्टिका परिचय देते है और दण्डी जगत की कुटिलता का उद्‌घाटन करने मे। भारवि मे संयम और साधना है, विशाखदत्त मे नाटककार की पैनी प्रतिमा और दण्डी मे व्यंग्यकार की दृष्टि। परन्तु दण्डी एक अच्छे व्यंग्यकार की भाँति अपने पात्रो से सदैव निर्लिप्त और परे नही रह पाते, वे उनसे तादात्म्य अनुभव करने लगते हैं, उनकी कुटिलता और तज्जन्य सफलता पर स्वयं प्रसन्न होते प्रतीत होते है। माघ की भांति वे कई बार शारीरिकता और ऐन्द्रिय वृत्तियो मे भी डूबते-उतराते हुए लगते हैं। उनकी ये दुर्बलताएं उन्हे विशाखदत्त या भारवि की तुलना में छोटा बना देती हैं।

पंचम अध्याय

भवभूति और भर्तृहरि

भवभूति और भर्तृहरि इन दोनो कवियो और भारवि, माघ तथा बाणभट्ट जैसे कवियों मे समय की दृष्टि से बहुत दूरी नही है, ये दोनो कवि जिस परिवेश मे जिये वह माघ, भारवि आदि के समकालीन वातावरण से बहुत भिन्न नही था। फिर भी इनदोनो कवियो में हम दरबारी कवियो से बहुत कुछ भिन्न प्रवृत्तिया देखते हैं। राजसभा और सामन्तीय वातावरण मे रचे जाने वाले काव्य से इन दोनो कवियो की रचनाएं एकदम अलग हैं। ऐसी बात नही है कि अपने समय की काव्य प्रवृत्तियो और सामन्तीय वातावरण से ये दोनो कवि अपरिचित हो, वस्तुतः ये दोनो कवि स्वतन्त्र मेधा से सम्पन्न हैं, साथ ही दोनो में वैयक्तिकता बहुत अधिक है तथा दोनो ही आत्मकेन्द्रित हैं। इसलिये एक-सी परिस्थितियो मे रहते हुए भी इन दोनो का रचना-संसार अपने समय के बाकी कवियो से अलग ही है। अपने समसामयिक वातावरण से प्रभावित होकर भी ये दोनो कवि रचना के क्षेत्र मे अपना मार्ग स्वयं बनाते है और जटिल नियमों और कवि के स्वातन्त्र्य को अवरुद्ध करने वाली व्यवस्थाओ के बीच भी उनकी स्वतन्त्र चेतना बनी रही है।

भवभूति-आभिजात्य और जीवन

भवभूति संभवतः दक्षिण के किसी पद्मपुर नगर मे जन्मे थे[1]। पद्मपुर मे तैत्तिरीय शाखा के काश्यपवंशीय चरणगुरु पंक्तिपावन[2] पचाग्नि के उपासक तथा व्रतशील सोमपायी उदुम्बर नामधारी ब्राह्मण रहते थे। इन्ही के वंश में भवभूति हुए। इनके पिता भट्टगोपाल कवि थे तथा पवित्र कीर्ति वाले नीलकण्ठ इनके पिता थे। भवभूति की माता

१. भवभूति के जन्मस्थान के लिए देखिये–Bhavabhuti. His Life & Lit. P. 16 महावीरचरित सं० टोडरमल, भूमिका, पृष्ट xxiii–iv तथा सागरिका ५।५मे प्रकाशित डा०मिराशी का लेख। उत्तर रामचरित के टीकाकार घनश्याम ने भवभूति को स्पष्ट रूप से दाक्षिणात्य घोषित किया है। उ० रा० च० मे २।७ के बाद वासन्ती की उक्ति मातर्जीवामि की व्याख्या मे उन्होंने कहा है—द्रविडस्त्री स्वभावोक्तिः। एवं वदता कविना निजद्राविडत्वं प्रकटीकृत-मित्यूह्यम्।

का नाम जतुकर्णी था। महावीरचरित की एक हस्तलिखित प्रति मे प्रस्तावना में कहा गया है–तदामुष्यायणस्य तत्रभवतो वाजपेयिनां महाकवेः सिंहभूतेः पंचमः इससे भवभूति के पंचम पुरुष का नाम महाकवि सिंहभूति ज्ञात होता है। जिनके विषय में कोई जानकारी नही मिल सकी है[1]।

भवभूति के गुरु का नाम ज्ञाननिधि था, जिनपर भवभूति की बडी श्रद्धा थी[2]। भवभूति के प्रसिद्ध टीकाकार वीरराघव के अनुसार भवभूति का वास्तविक नाम श्रीकण्ठ था और उनके आश्रयदाता मे उन्हें 'साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्ति.' इस पद्य पर भवभूति की उपाधि मिली[3]।

भवभूति के नाटको का अभिनय कालप्रियानाथ की यात्रा मे हुआ था।[4] अभिनेताओ से भवभूति के बड़े ही अच्छे संबंध थे। टोडरमल का मत है कि भवभूति अवश्य ही किसी राजा की सभा मे थे क्योकि उनके नाटको में दरबारी जीवन का यथावत् चित्रण हुआ है।[5] यह मत उचित प्रतीत नही होता। भवभूति के नाटको का केन्द्र अन्तःपुर या राजदरबार नही है, वे संस्कृत नाटक को उस सकीर्ण परिधि से बाहर निकालकर लाये है। अतः यह कहना उचित लगता है कि अपने साहित्यिक जीवन मे संभवत भवभूति को राज्याश्रय नही मिला। उत्तररामचरित की रचना के पश्चात् संभव है, उन्हें किसी राजा की सभा में आश्रय प्राप्त हुआ हो। कल्हण ने उन्हे यशोवर्मा का सभाकवि माना है, पर कल्हण भवभूति से चार शताब्दी पश्चात् हुए थे, उनका कथन प्रत्यक्ष प्रमाण पर

२. पक्तिपावन–वैदिक आचार तथा प्रवचन आदि करने वालो मे अग्रगण्य ब्राह्मणो को कहते हैं। पक्तिपावनाः पंक्तौ भोजनादिगोष्ठ्या पावना अग्रभोजिनः पवित्रा वेत्यर्थः। यद्वायजुषा पारगो यस्तु साम्नां यश्चापि पारगः। अथर्वशिरसोऽध्येता ब्राह्मणः पंक्तिपावनः-जगद्धर। अग्रयाः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च। श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पक्तिपावना.। त्रिणाचिकेतः पचाग्निस्त्रिसुपर्णः षडंगविद्। ब्रह्मदेयात्मसन्तानो ज्येष्ठ सामग एव च। वेदार्थवित्प्रवक्ता च ब्रह्मचारी सहस्रदः। शतायुश्चैव विज्ञेया ब्राह्मणाः पंक्तिपावनाः॥ –
मनु० ३।१८४-८६

१. महावीरचरित, सं० टोडरमल, भूमिका XXIV
२. महावीरचरित, १।५
३. महावीरचरित, चौखम्बा संस्करण, पृष्ठ २
४. महावीरचरित, पृष्ठ ६, मालतीमाधव, सं० काले, पृष्ठ ८
५. महावीरचरित, टोडरमल, भूमिका, पृष्ठ XXIV

आधारित नही है । सभव है वाक्पतिराज द्वारा भवभूति की सहृदय प्रशस्ति के आधार पर ही कल्हण ने उन्हे यशोवर्मा का सभाकवि मान लिया हो ।

भवभूति को अपने जीवन मे अपेक्षित सम्मान नही मिला था । उनका दाम्पत्यजीवन सम्भवतः सुखी नही रहा ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि नारी के सम्पर्क से भी भवभूति दूर रहे थे । इसीलिये नारी के सबंध मे उनकी धारणा बडी ही आदर्शानुप्राणित है, यथार्थ और अनुभूति का पुट उसमे कम हैं ।

आस्था

भवभूति संभवतः वेदान्ती थे[2] पर उनमें साम्प्रदायिक संकीर्णता नही थी । शिव,[3] गणेश,[4] सूर्य[5] सरस्वती[6] आदि देवताओ के प्रति उन्होने यत्र-तत्र आस्था व्यक्त की हैं । राम के प्रति उनकी भक्ति अगाध थी[7]। एक और चैतन्य ज्योतिः ब्रह्म तथा उसकी कला वाक् के निराकार रूपो के प्रति वे अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं, तो दूसरी ओर शिव एवं गणेश के प्रति भी अपनी समान आस्था प्रकट करते हैं । वे अपने को राम का भक्त भी कहते हैं (महा० १।७) । यही कारण है कि कुछ विद्वानो को उनके शैव, वैष्णव अथवा ब्रह्मोपासक होने में भ्रम हो जाता है । दूसरे धार्मिक सम्प्रदायो को भी वे आदर की दृष्टि से देखते थे । बौद्ध सन्यासिनी कामन्दकी के प्रति दूसरे पात्रो के जो सम्मान-भाव उन्होने जगाये हैं, उनमें उनका निजी आदर भाव फूटता दिखाई देता है । ये सारे तथ्य इस बात की ओर संकेत करते हैं कि धार्मिक क्षेत्र में उनकी दृष्टि उदार और समन्वयवादी थी । डा० शारदारंजन रे के मतानुसार राम ही भवभूति के इष्ट हैं ।[8] गंगा और पृथ्वी को भी भवभूति देवताओं के समान पूज्य मानते थे [9]। आदिकवि और निःस्पृह सन्त के रूप में वाल्मीकि के लिये भवभूति के मन में अकृत्रिम श्रद्धा थी[10] । मीमांसा तथा कर्मकाण्ड मे भी भवभूति की आस्था थी[11]। भूत पिशाच, बेताल आदि में वे विश्वास करते थे[12]। मन्त्रशक्ति, अभिचार,[13] जडी बूटी तथा शकुन आदि पर भी उनको विश्वास था[14] ।

---

१. भवभूति और उनकी नाट्यकला: अयोध्याप्रसाद सिह, पृष्ठ १८

२. उत्तर रामचरित, ३।४७ ३. मालतीमाधव, १। १।२

४. वही, १।२ ५. वही, १।३ ६ उत्तर रामचरित, १।१

७. महावीरचरित १।४, ६, ७।२ उत्तररामचरित ७।३०, २।१३

८. उत्तररामचरित:सं० शारदारंजन रे, भूमिका

दृष्टिकोण तथा आदर्श

काव्यदर्शन

भवभूति की कविता और कला-विषयक अवधारणाओ मे क्रमिक विकास देखा जा सकता है। महावीरचरित का कवि पाण्डित्य और उसके काव्य मे प्रदर्शन का पक्षधर है। मालतीमाधव मे आकर कवि को इस बात की प्रतीति होती है कि वेद, उपनिषद्, साख्य, योग तथा दर्शन का अध्ययन और ज्ञान नाटक मे कोई गुण उत्पन्न नही कर सकता (मा० मा० १।७)। कवि को लगा कि पाण्डित्य और वैदग्ध्य के सबसे बडे सूचक वाणी की प्रौढता और उदारता तथा अर्थगौरव ही है (वही)। तब कवि की दृष्टि पाण्डित्य की अपेक्षा उन गुणो की ओर जाती है जो नाटक को उत्कृष्ट बनाते है, जैसे कि रस-पेशलता, सौहार्द से प्रेरित चेष्टाएं, प्रेमभाव का साहस पूर्ण चित्रण, रुचिर कथानक और वैदग्ध्यपूर्ण संवाद आदि (वही १।४)। इसप्रकार यहा आकर भवभूति पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ की रचना से काव्य-सर्जना के ससार को पृथक् समझने मे समर्थ हुए है, जो निश्चय ही उनकी काव्य-चिन्तन की प्रगति का द्योतक है। पर उत्तररामचरित मे आकर कवि का काव्य-चिन्तन और भी आगे बढता है। कवि को लगता है कि सच्ची कविता वैदग्ध्य मय भणिति या रसपरिपूर्ण-प्रणय-वर्णन मात्र नही वरन् कवि के अन्तर्दर्शन और आतरिक भावनाओ की निश्छल अभिव्यक्ति है। करुण को सर्वव्यापी रस और वाणी को आत्मा की अमृत कला (उ० रा० च० १।१) कहने मे भवभूति का स्वारस्य यही है तथा उत्तर चरित के दूसरे अंक मे क्रौचवध के प्रसंग मे वाल्मीकि मे स्वतः काव्य की स्फूर्ति का उल्लेख तथा ब्रह्मा का यह कथन-ऋषे, प्रबुद्धोसि वागात्मनि ब्रह्मणि, तद् ब्रूहि रामचरितम्, अव्याहतज्योति'र्षं ते प्रतिभाचक्षुः—उनके अभिप्राय को और भी स्पष्ट कर देता है।

भवभूति की धारणा थी कि प्रतिभासम्पन्न कवि के मन मे नवीन अर्थ स्वत. होड़ बद-बद कर स्फुरित होते चले जाते है।[1] मालतीमाधव मे 'भूम्ना रसाना गहना. प्रयोगाः' (१।४) कहकर कवि ने काव्य मे रस को तथा "वाचि विदग्धता च" कहकर विदग्धता को आवश्यक माना है। रसो मे से वे करुण को सर्वव्यापी तथा सर्वप्रमुख मानते हैं परंतु करुण के संबध में भवभूति की अवधारणा शास्त्रीय परिभाषा के सकरे दायरे मे परिसीमित नही है। करुण रस से उनका तात्पर्य विस्वजनीन मानवीय सवेदना से है।

---

९. उत्तर रामचरित, १।२३
१०. महावीरचरित, १।७
११. मालती माधव, १।५
१२. मालती माधव, ५।११, १६-१८
१३. महावीर चरित, १।६२
१४. महावीर चरित, ७।५३, मालती माधव, १।६

"प्रसन्नकर्कशा यत्र विपुलार्था च भारती" कहकर भवभूति ने काव्य में प्रसाद और ओज दोनों ही गुणों को समान रूप से वरेण्य माना है। काव्य के अन्य गुणों मे वे प्रौढता, उदारता और अर्थगौरव आदि का नाम लेते हैं[२]।

नारी के संबंध में

भवभूति की दृष्टि में नारीत्व एक अत्यन्त ही महनीय और गरिमामय तत्व है जो समस्त जगत् को पवित्र बनाता है[३]। आदर्श नारी के जन्म से ही यह जगत् धन्य होता है।[४] ऐसे नारीत्व के समक्ष भवभूति की दृष्टि में यह चराचर जगत् नतमस्तक है। तभी तो जनक अपनी ही पुत्री सीता को "मातः देवयजनसम्भवे" कहकर नमन करते हैं[५] तथा अरुन्धती भी भक्तिपूर्वक सीता के लिये कहती है—"ननु वन्द्यासि जगताम्"[६] । ऐसा नारीत्व चराचर जगत् के लिये सहानुभूति, अपार सहनशीलता तथा उदारता का भाव है। अपनी पीडा के बोध और स्वार्थ को तिलांजलि देकर दूसरो के दुख पर व्यथित होना तथा कठोर अपराधी को भी हृदय से क्षमा कर देना—यह नारीत्व का भवभूति द्वारा निरूपित आदर्श है जिसे उन्होंने सीता के चरित्र के द्वारा उपस्थापित किया है।

भवभूति अपने समय के स्त्री-समाज की दुर्दशा से दुःखी थे। मालतीमाधव में उन्होने इस सम्बन्ध मे अपने उद्गार प्रकट किये हैं—"गृहे-गृहे पुरुषाः कुलकन्यकाः समुद्वहन्ति। न खलु कोपि लज्जापराधीनमनपराद्ध मुग्धसुकुमारस्वभावं कुलकुमारीजनं प्रभवामीति वाचानलेन प्रत्यालपति। एते खलु हृदयशल्यनिक्षेपा आमरण-स्मर्यमाणदुस्सहाः पतिगृहनिवासवैराग्यकारिणो महापरिभवा येषा कृते स्त्रीजनलाभं जुगुप्सन्ते बान्धवाः।" (मालतीमाधव, सप्तमांक) । नारी के सम्बन्ध मे इससे अधिक सुकुमार और सहृदय टिप्पणी और क्या होती है? किसी भी नारी के लिये पुरुष का 'मेरा तुम पर अधिकार है।" यह कहना या समझना भवभूति के लिये "हृदय-मर्म काटने वाला शोक-शंकु" या "मन के भीतर तिरछना चुभा अलात-शल्य या श्रालर्क विष हो गया, जिसे उसने इन पंक्तियो मे खोल कर दिखा दिया।

स्त्रियों के साथ सम्मानपूर्ण व मधुर व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि "पुरन्ध्रीणाचित्तं कुसुमसुकुमारं हि भवति।" (उत्तर रामचरित, १।१४) । मालतीमाधव मे भी भवभूति

---

१. यं ब्रह्माणमियं देवी वाग् वश्येवानुवर्तते। उत्तर रामचरित, १।१

२. यत् प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थ तो गौरवम्—मालतीमाधव, १।७

३. उत्तररामचरित, १।१३ ४. वही, १।४२ के बाद का गद्य तथा १।४३, १।५१

५. वही, ४।४ के पूर्व का गद्य ६. उत्तर रामचरित, ४।११

ने कहा है—"कुसुमधर्माणो हि योषितः, सुकुमारोपक्रमाः। तास्वनधिगतविश्वासाः प्रसभप्रक्रम्यमाणाः क्रियाः सम्प्रयोगविद्वेषिण्यो भवन्ति— (मालतीमाधव-सप्तमाक)। भवभूति की दृष्टि में सीता नारी संसार को पवित्र करने वाली है, उसे स्वयं किसा शोधन की आवश्यकता नही।† पतिव्रता का तेज उनकी दृष्टि मे स्वयं शुद्ध है। यह तेज कभी-कभी प्रचण्ड भी हो सकता है और स्निग्ध तथा शान्त भी।‡

प्रेमदर्शन

प्रेम को भवभूति एक दिव्य शक्ति मानते हैं,जो चराचर जगत् को सचालित करती है तथा संसारके कण-कण मे व्याप्त है और एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से जोडती है।[१] यह एक ऐसी शक्ति है जो जड और चेतन को परिचालित करती है। भवभूति की दृष्टि में यह प्रेम ही सर्वात्मकसत्ता है, जिसे दार्शनिक भाषा मे ब्रह्म कहा जाता है। प्रेम की इस अमृतमय शक्ति से व्यक्ति कब विगलित हृदय बन जाता है, कहा नही जा सकता। कब, क्यो और कैसे—ये तार्किक प्रश्न इस शक्ति के कार्यकलापो मे नही हो सकते।[२] परशुराम जैसे उद्धत दर्पप्रचण्ड व्यक्ति अपने प्रतिद्वन्द्वी राम को समक्ष देखकर स्नेह विगलित हो जाते हैं। एक ओर क्रोध से उनका हृदय आविष्ट है, दूसरी ओर प्रेम उनके भीतर छलका पड रहा है। उन्हे राम को गले लगाने के लिये बलपूर्वक प्रेरित कर रहा है[3]। युद्ध करते हुए राम और रावण को वात्सल्य से गद्‌गद् बना देना भवभूति के ही बस का है।[४] भवभूति की दृष्टि मे प्रेम की शक्ति पत्थर को भी पिघला देती है, चाहे कितना ही वीतराग व्यक्ति क्यो न हो, उसे भी अभिभूत और द्रवित कर देती है।[५] सुमन्त्र और चन्द्रकेतु अपने शत्रु के रूप मे भी लव को देखकर

---

†. महावीरचरित, ७।४ ‡. वही, ६।६

१. व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोपि हेतुर्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतंगस्योदये पुण्डरीकं द्रवति च हिमरश्मावुद्‌गते चन्द्रकान्तः॥
मानुषे लोके वात्सल्यं नाम केवलमखिलेन्द्रियचूर्णमुष्टिः॥
— महावीरचरित, १।४१ के पूर्व।

स्नेहश्चनिमित्तसव्यपेक्ष इति विप्रतिषिद्धमेतत्। मालतीमाधव १।२४ के पश्चात्।

३. महावीरचरित, २।३२, ३८ ४. वही, ६।४१

५. भवत्याः संसाराद् विरतमपि चित्तं द्रवयति—उत्तर रामचरित, ४।६
अत्रभवती विश्वम्भरा व्यथते इति जितमपत्यस्नेहेन।
यद्वा सर्वसाधारणो ह्येष मनसो गूढग्रन्थिरान्तरश्चेतनावतामुपप्लवः ससारतन्तुः।
—उत्तर रामचरित, ७।४ के पूर्व

स्नेह से भर जाते हैं और लव की भी चन्द्रकेतु को देखकर यही स्थिति होती है। राम का हृदय लव और कुश के प्रथम दर्शन मे ही परिचय न होने पर भी स्नेह से उमड़ने लगता है।

प्रेमपात्र अपने प्रेम के लिये अमूल्य निधि बन जाता है, वह कुछ-न-कुछ करता हुआ भी अपने सामीप्यमात्र से उसके दुःख को दूर कर देता है।* यह प्रेम हृदय को इस प्रकार वशीभूत कर लेता है कि इसका कोई प्रतीकार नही किया जा सकता। यह तो मानो स्नेहमय सूत्र की तरह प्राणियों के हृदयो को एक दूसरे से सी देता है,† तब अपरिचय की दीवारें टूट जाती हैं और प्रेम की इस शक्ति से वशीभूत व्यक्ति यह समझ नही पाता कि आखिर वह क्या है, जिसने उसके हृदय को दूसरे के हृदय मे जोड़ दिया है? "संयोगवश हुआ समागम, या गुणों का उत्कर्ष या जन्मजन्मान्तर का परिचय या अन्य कोई अविदित सम्बन्ध?[1] ऐसे प्रेम मे व्यक्ति को चराचर जगत् ही अपना कुटुम्ब लगता है।[2]

वात्सल्य, मित्रस्नेह, प्रणय, श्रद्धा—ये सभी इस दिव्य प्रेमशक्ति के प्रतिरूप हैं। इसके सर्वोच्च प्रतिफलन दाम्पत्य प्रेम मे ये सभी रूप घुल-मिल जाते हैं।[3] भवभूति इस प्रेम को शारीरिकता से अलग नही मानते। उनके दाम्पत्य प्रेम मे काम है, पर वह काम से परिचालित नही होता।[4] राम के सीता के प्रति-प्रेम मे काम है, पर उसके

---

* न किंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥ उत्तररामचरित, २।१९

† अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति॥ वही, ५।१७
भूयसा जीवधर्म एष यद् अलौकिकी रसमयी क्वचित् कस्यचित् प्रतीतिः
यत्र लौकिकानामुपचारं तारामैत्रं चक्षूराग इति॥ वही, ५।१६ के पूर्व

१. वही, ५।१६ २. यत्र द्रुमा अपि मृगा बन्धवो मे। वही, ३।२८

३. प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा।
स्त्रीणां भर्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु॥
मालतीमाधव, ६।१८

४. द्रष्टव्य, उत्तररामचरित, ६।३५, १।१८
रामलला यदुपालसिंह ने राम जैसे मर्यादा रक्षक नायक के मुख से उत्तर रामचरित मे अलसलुलितमुग्धान्यध्व०—तथा किमपि किमपि मन्द मन्दमासत्तियोगा० जैसी उक्तियो को असभ्य तथा भौड़ी बतलाया है जो सर्वथा अनुचित है। उत्तररामचरित स० रामलला यदुपालसिंह, भूमिका, पृ० ५६।

ऊपर अनन्य दाम्पत्यनिष्ठा और हार्दिक मंगलकामना छायी हुयी है[५]। इसलिए वह हिंसात्मक पाशविक प्रेम से बहुत अलग और ऊपर है : ऐसा प्रेम समाजनिरपेक्ष या समाजपराङ्मुख नही होता, अपितु वह जागतिक विकास के लिये बड़ा से बड़ा बलिदान करने को तत्पर रहता है। मालतीमाधव मे मालती के चरित्र द्वारा भवभूति स्पष्ट रूप से यह उद्‌घोष कर देते हैं कि परिवार, समाज या समष्टि की अनपेक्षा करके जो प्रेम, किया जाता है, वह उन्हे इष्ट नही।[६] मकरन्द और मदयन्तिका का समाज-विमुख प्रेम, जिसके कारण वे दूसरो को धोखा देकर केवल अपने लिये भाग निकलते हैं, कवि पसन्द नही करता। वास्तविक प्रेम मे सम्पूर्ण समाज के साथ संवेदना और हृदयसंवाद होना ही चाहिये। मालतीमाधव की कवि ने दो अंको मे आठवे अंक के पश्चात् इसीलिये आगे बढाया है कि मालती और उसके पिता मे पुनः हृदय संवाद स्थापित हो। माधव को चाहती हुई भी मालती अपने पिता की पवचना करके उसके साथ भागने को तैयार नही होती एवं कामन्दकी की योजना के अनुसार उससे छलपूर्वक विवाहित कर दिये जाने पर वह अपने भीतर ही भीतर भयंकर अन्तर्व्यथा से पीडित होती रहती है। अन्ततः कपाल-कुण्डला द्वारा उसका अपहरण किये जाने पर जब मालती के पिता आत्मघात तक करने को तैयार हो जाते हैं और मालती को बाद मे यह वृत्तान्त ज्ञात होता है, तो वह निश्चिन्त हो जाती है कि उसके पिता की सद्‌भावना अभी उसके साथ है। उत्तररामचरित मे भी राम और सीता का प्रेम अपने लिये नही अपितु चराचर जगत् के लिए है और उनका पुनर्मिलन सम्पूर्ण जगत् की परितुष्टि के साथ ही होता है। सीता के मन पर आरोपित द्वैत को समूल नष्ट करने तथा उसे पुनः 'अद्वैत सुखदु.खयो.' मे परिवर्तित करने के लिये कवि जिन उपस्करो का प्रयोग करता है, उनमे उसकी सम्पूर्ण पारिवारिक या सामाजिक चेतना झलकती है। कवि सीता या राम के वैयक्तिक सुख-दुःख को जनक या कौशल्या जैसे गुरुजनो के सुख-दु.ख से छाटकर देखना नही चाहता। राम और सीता तो मिल जाएं, पर जनक और कौशल्या जैसे लोग नही मिलें, यह उसे अभीष्ट नही। राम और सीता पतिपत्नी ही नही, अपने संबंधो को विशालता मे कई महानुभावो से जुडे हुए

५. इतरेतरानुरागो हि परार्घ्यं मगलम्। गीतश्चायमर्थो अगिरसा यस्या मनश्चक्षुषोः निबन्धस्तस्या ऋद्धिरिति। —मालतीमाधव, द्वितीयाक।

६. द्रष्टव्य—ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः किंवा मृत्योः परेण विधास्यति।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया,
कुलममलिनं नत्वैवायं जनो न च जीवितम्॥ –मालतीमाधव, ।२।२

हैं। प्रेम की शक्ति ने भवभूति के राम के निश्चय को बाल्मीकि का शुष्क व कठोर राजधर्म मात्र नही रहने दिया है अपितु उसे लोकधर्म या समाजधर्म के इस प्रकार निकट ला दिया है कि राम का त्याग अधिक लौकिक और अधिक सामाजिक हो जाता है, उसके कुछ धार्मिक स्वरूप मे यह एक नया भावात्मक विकास एक अभिनव पूर्ति बनाकर प्रकट होता है।'

दाम्पत्य प्रेम का संस्कार अपत्यलाभ के पश्चात् वात्सल्य की भावना के द्वारा होता है। भवभूति की दृष्टि मे शिशु दम्पत्ति को बाधने वाली आनन्द ग्रन्थि है [1]।

प्रकृति दर्शन

भवभूति के प्रकृति चित्रो के आकलन से उनका स्थूल मे सूक्ष्म की ओर अभिगमन तथा शरीर भावो से अध्यात्म की अतल गहराइयो मे क्रमश: अवरोहण स्पष्ट है। प्रारंभ मे भौतिक जीवन के अभावो पर ही कवि की दृष्टि केन्द्रित थी, अत: महावीरचरित मे प्रकृति के उदार और विशाल क्रोड मे उसका मन उन्मुक्त होकर रमा नही। इसीलिये प्रथम नाटक मे भवभूति ने प्रकृति चित्रण के अनेक अवसर हाथ से खो दिये हैं। महावीर चरित मे प्रकृति के उस स्नेहमय रूप का वर्णन नहीं मिल सकी है, जो मालविकाग्निमित्र और उत्तररामचरित मे परिव्याप्त है। आगे चलकर प्रकृति भवभूति के लिये अधिकाधिक करुणामयी और मानवीय होती गयी है एवं किसी दिव्य आन्तर हेतु से प्रेरित सी विश्व के विकास मे सौहार्द्रमय सहयोग देती रहती है। उत्तर रामचरित मे वनदेवता सीता के दुख से रो पडती हैं, तमसा, मुरला तथा गोदावरी सीता और राम के दुख से व्यथित तथा उन दोनो के पुनर्मिलन के लिये सक्रिय है। गंगा और पृथिवी को माताओ के समान राम और सीता के मिलन के लिये चिन्ता है। गोदावरी के लिये लोपामुद्रा का सन्देश है।

वीचीवातैः सीकरक्षोदशीतैराकर्षद्भिः पद्मकिञ्जल्कगन्धान्।
मोहे मोहे रामभद्रस्य जीवं स्वैरं स्वैरं प्रेरितैस्तर्पयेति॥

आदर्श गुण तथा नैतिक मान्यताएं

भवभूति प्रारम्भ मे भले ही कुछ अक्खड रहे हो, पर वे आदर्श व्यक्ति मे विनम्रता को आवश्यक मानते हैं। महावीरचरित मे राम का परशुराम से व्यवहार इसका उदाहरण है। परनिन्दा नही सुननी चाहिये, यह भी भवभूति का आदर्श था [2]।

---

१. उत्तर रामचरित, ३।१७

२. उत्तर रामचरित १।२१ के बाद का सवाद द्रष्टव्य। सुष्ठु शोभसे आर्य अनेन विनयमहात्म्येन — सीता, उत्तर रामचरित १।१६ के पूर्व का सवाद।

भवभूति की दृष्टि मे आदर्श ब्राह्मण वही है जो तत्वविनिश्चय के साथ शास्त्रानुशीलन भी करे, इष्टापूर्तकर्मों के लिये ही धनोपार्जन करे तथा तप के लिये जीवन समर्पित कर दे [1]। जीवन मे सफलता के लिये शास्त्रो मे निष्ठा, सहजबोध शक्ति, प्रागल्भ्य, गुणवती वाणी, समय का ज्ञान तथा प्रतिभा–ये गुण कामधेनु के समान है।[2] मधुर वाणी को भवभूति ने बहुत महत्व दिया है। 'मधुर वाणी से क्या नही मिल सकता ? वह अभिलाषा को पूर्ण करती है, अलक्ष्मी को दूर करती है, कीर्ति को जन्म देती है तथा शत्रुओं को नष्ट करती है, वह कल्याण समुदाय की जन्मदात्री है[3]।

स्वभाव

भवभूति के स्वाभिमान और अहंकार की भावना प्रारम्भ मे बडा जागरूक और तीव्र थी। वे अपने अभावो पर जल्दी ही क्षुब्ध हो उठते थे। ऐसा नही है कि कालिदास को कभी भी जीवनसंघर्ष का सामना नही करना पड़ा हो या राजशेखर और माघ जैसे कवियो को कभी उपेक्षा नही सहना पड़ी हो परन्तु इन कवियो का व्यक्तितव प्रारम्भ से ही इतना आत्मकेन्द्रित नही था, जितना भवभूति का। भवभूति की कृतियो के अध्ययन से उनके व्यक्तिव का जो रूप हमारे सामने आता है, वह निःसन्देह सहज और लोकसामान्य नही है। भवभूति विरोधियो से चिढे रहते थे, आत्मनिष्ठ तथा स्वाभिमानी थे, एकान्त प्रिय तथा असामान्य गम्भीर प्रकृति के थे, अपने भीतर और बाहर कई प्रकार के संघर्षो से निरन्तर जूझते रहने के कारण उनका अन्तरतम कई कुंठाओ से ग्रस्त हो गया था, जिससे वे स्वयं बहुत कम हंसते तथा दूसरो को हसने का बहुत कम अवसर देते थे। हीन- भावना से ग्रस्त होने तथा सघर्षशील बने रहने के कारण इनका स्वभाव कुछ चिड़चिडा भी हो तो कोई आश्चर्य नही। ऊनके व्यक्तितव की रेखायें यही सिद्ध करती है कि न तो अपने व्यक्तिगत जीवन मे वे सन्तुष्ट थे और न सामाजिक जीवन मे।'

डा० अयोध्याप्रसादसिह द्वारा भवभूति के व्यक्तितत्व का उपरोक्त विशेषण सही है। पर वह महावीरचरित और मालती के कवि पर ही लागू होता है। उत्तररामचरित के कवि पर अधिकांशतः नही। मालतीमाधव के बाद भवभूति ने अपने भीतर ही भीतर एक बहुत लम्बी यात्रा तय की है और उत्तररामचरित मे आकर वह उस हीनभावना से उपर उठ चुका है, जिससे वह आरम्भ मे ग्रस्त था। उसका आक्रोश और विक्षोभ घुलकर बह चुका है, मालतीमाधव और उत्तररामरित के (सभवतः काफी लम्बे)

---

१. मालतीमाधव. १।५ २. वही, ३।११ ३. उत्तररामचतित, २।२

अन्तराल मे भवभूति ने लगता है, एक बडी साधना की है, जिसका परिणाम है, उसके व्यक्तित्व का परिष्कार। उत्तररामचरित मे आकर लगता है कि कवि ने अपने भीतर ही भीतर कुछ ऐसा पा लिया है जिससे उसका शुष्क जीवन अभिषिक्त हो उठा है। मालतीमाधव का विद्रोही कवि उत्तररामचरित मे आकर प्रशान्त और गरिमामय बना गया है, उसे एक जीवनदृष्टि मिल गयी हे।

उसकी स्थिति अपने प्रिय पात्र लव के समान हो गयी है—

> विरोधो विश्रान्तः प्रसरति रसो निवृतिधनस्।
> तदौधत्यं क्वापि व्रजति विनयः प्रह्वयति माम्॥

उसका विरोध शान्त हो गया है, कोई सुख से गाढ़ा रस उसकी चेतना मे प्रसरित होने लगा हैं। कहाँ गया वह औधत्य ? अब तो विनय उसे अवनत बनाये दे रहा है। लव को ही भाति संभव है, भवभूति ने भी कोई ऐसा अनुभव किया हो, जिसने उसकी चेतना को झकझोरा हो और उसे एक नयी जीवनदृष्टि दी हो। लव और वासन्ती ये दो पात्र हैं जिनके द्वारा लगता है भवभूति ने खुलकर-सीधे रूप मे ही अपनी बात कह दी है। उन्हें स्वयं राम से शिकायत है, जो उन्होने इन दोनो पात्रो के मुख से कहलवायी है। भवभूति को समाज मे प्रतारणा का जो अनुभव हुआ- उसकी स्पष्ट छाया लव के उस आक्रोश मे है, जिसे वह राम के सेवकों के दुर्व्यवहार पर व्यक्त करता है।[1] पर लव का अन्ततः स्वयं विनयावनत बन जाना भवभूति के परिवर्तित दृष्टिकोण का सूचक है।

भवभूति अनुभूति-प्रवण थे पर उनकी इसी प्रवृत्ति ने आगे चलकर उत्तररामचरित के अत्यन्त ही प्रशान्त, गम्भीर पर स्नेहमय और सवेदनशील तथा सहानुभूति से भरे हुए कवि को जन्म दिया है अन्यथा उत्तररामचरित कर्त्तव्य और प्रेम के प्रश्न पर एक शुष्क परिचर्चा जैसी चीज बनकर रह जाता। भवभूति का आत्मकेन्द्रित मन जैसे जैसे अपनी सकीर्ण परिधि से ऊपर उठा है, उनकी अनुभुति-प्रवणता वात्सल्य, स्नेह, ममत्व, करुणा दया और रागात्मकता के सतरगी इन्द्रधनुष का निर्माण करती गई है।

कालिदास मे जितनी शृंगारिकता है. भवभूति मे उससे कही अधिक वात्सल्य है। यही नही, उनकी शृ गारभावना भी वात्सल्य के ताने-बाने मे गुथी हुयी है। वे उत्तररामचरित मे हाथी और हथिनी की प्रणयक्रीडा का वर्णन करने चलते है, पर उनका

---

१. उत्तररामचरित, ५।२८ तथा बाद का लव का संवाद।

हृदय उन पशुओ के लिये वात्सल्य से भर आता है[१] और कोई कवि होता तो उत्तररामचरित का छाया सीता वाले अंक राम और सीता के कामुक उद्‌गारो से भर देता पर भवभूति ने तो सीता को अपने वत्सल पुत्रो का स्मरण दिलाकर प्रस्नुतस्तनी बना दिया है।[२] यही नही वे बार-बार सीता के वात्सल्य के प्रसग को खीच-खीच कर लाते है–कही तो मयूर की चर्चा करते हैं, जिसे सीता प्रतिदिन खिलाती थी, जिसे देखकर राम कहते है—'सुतमिव मनसा त्वा वत्सलेन स्मरामि।' (३।१६)। कही वे सीता द्वारा संवर्धित कदम्ब वृक्ष की चर्चा कहते है और कहीं गिरि मयूर की जो आज भी सीता का स्मरण कर रहा है।[3] कही वे हरिणो का स्मरण करते हैं जिन्हें सीता घास खिलाती थी और जो सीता को ऐसा घेर लेते थे कि छोड़ते ही नहीं थे।[४] कही वे हसो का उल्लेख करते है जिन्होने खिलाने मे सीता रम जाती थी। चतुर्थांक मे जनक के इस कथन मे पुनः भवभूति का वात्सल्यमय हृदय छलक पडा है—

अनियतरुदितस्मितं विराजत्कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रम्।
वदनकमलकं शिशो: स्मरामि स्खलदसमंजसमंजुजल्पितं ते ।। ४।४

चतुर्थांक मे ही कौशल्या का सीता के लिये करुण विलाप वात्सल्य से परिसिक्त है। इसी अंक मे लव को उपस्थित कराकर भवभूति बार-बार वात्सल्य का उद्रक कराते हैं। यही स्थिति षष्ठ अंक मे भी है।

विनोदशीलता की भवभूति मे कमी थी पर उनमे व्यंग्य की प्रवृत्ति पर्याप्त थी। वे संस्कृत के इने-गिने सफल व्यग्य कवियो मे से हैं। मालतीमाधव मे कापालिक अघोरघंट के प्रसंग मे धार्मिक स्थिति पर व्यंग्य है। उत्तररामचरित के चतुर्थांक मे दाण्डायन और सौधातकि के वार्तालाप मे ब्राह्मणधर्म की विकृतियो पर तथा अपने समय के शिष्यो पर भवभूति ने तीखा व्यंग प्रहार किया है।

भवभूति मे वीरता की भी भावना थी, जो तीनो नाटको मे स्थान-स्थान पर अभिव्यक्त हुई है।[५] स्वाभिमानी होने के नाते वे जीवन मे तेजस्विता ऊर्जस्विता तथा शौर्य के आशंसक थे।[६]

---

१. उत्तररामचरित ३।१५, १६ तथा पूर्व के संवाद।

२. उत्तररामचरित (चौखम्भा संस्करण, १९४९) पृष्ठ १५४ तथा वही, ५।१७

३. वही, ३।२०   ४. वही, ३।२१

५. महावीर चरित, १।३३,३४   ६. द्रष्टव्य-उत्तररामचरित, ६।१४,१९

रुचि

भवभूति की रुचि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म तथा मूर्त से अमूर्त भावो मे जाने की ओर थी। वे अतिशय कोमल मनोवृत्ति के व्यक्ति थे पर साथ ही विराट्, गहन और भयावह के प्रति उनमे आकर्षण था। इसीलिये प्रकृति के मृदुल पक्ष ने भी उन्हे आकर्षित किया और भयानक रूप ने भी। भाषा और रस के क्षेत्र मे उनकी यह बहुरंगी रुचि प्रकट हुई हैं। संगीत और नाटक मे उनकी रुचि थी। अपने नाटको के अभिनय मे वे स्वयं रुचि लेते थे ऐसा उनके अपने उल्लेखो से प्रतीत होता है। डा० अयोध्याप्रसाद सिंह का यह कथन उचित प्रतीत नही होता कि 'भवभूति आमिष रुचि के थे। महावीरचरित मे वशिष्ठ तथा विश्वामित्र परशुराम के क्रोध को शान्त करने के लिये वत्सतरी के संज्ञपित होने की बात करते है तथा उत्तररामचरित के चतुर्थांक मे भी ऐसा ही उल्लेख हैं। इस प्रसंग से यह निष्कर्ष बडी आसानी से निकाला जा सकता है कि भवभूति स्वयं भी आमिषभोजी थे। यदि ऐसा न होता तो वे अपने नाटको मे श्रोत्रियो को दिये जाने वाले समाँस मधुपर्क के लिये इतना आग्रह नही दिखाते। वे इसका आसानी से परिहार कर सकते थे और अभ्यागत अतिथि वर्ग के सम्मान मे प्रयुक्त कुछ अन्य श्रौत विधियो का वर्णन करके वे अपने कवि धर्म का निर्वाह कर सकते थे। भवभूति के सामिष आहार को, सम्भव है, उनके कुछ समसामयिक मित्र या अन्य लोग प्रशंसा की दृष्टि से न देखते हो। फलतः उत्तररामचरित मे प्रकारान्तर से वे स्वयं अपने मासाहार को धर्मसम्मत सिद्ध करते हुए प्रतीत होते हैं।" वस्तुत. यत्र द्रुमा अपि मृगा अपि बन्धवो मे के उद्गाता तथा पचवटी के हंसो, हाथियो तथा सभी पशुओ के लिए परम वात्सल्य से परिपूर्ण हृदय वाले नितान्त अशरीरी अभिरुचि के कवि भवभूति के लिये यह कथन एकदमगलत है। उत्तररामचरित्त के चतुर्थांक का विष्कम्भक हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण है, उनमे भवभूति तत्कालीन मासाहारी ब्राह्मणो पर व्यंग्य प्रहार करने की मनः स्थिति मे हैं। जो शब्दावली उन्होने दाण्डायन और सौधातकि के मुख से वशिष्ठ आदि के लिये प्रयुक्त करवायी हैं, उसमे उपहास का ही भाव हैं। साथ ही, जनक के प्रति आदर भाव दिखाते हुए उनका समास मधुपर्क अस्वीकार करना बताकर भवभूति ने अपना दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट कर दिया हैं। यही बात महावीर चरित में परशुराम के संबंध मे भी लागू होती है। परशुराम का चरित्र भवभूति के लिये आदर्श कदापि नही है और वे उनके आचरण से अपनी कोई मान्यता सत्यापित करना चाहे-यह सम्भव नही।

पाण्डित्य

भवभूति मीमांसा के अधिकारी विद्वान थे। उत्तररामचरित मे द्वादशवार्षिक यज्ञ

तथा अग्निहोत्र आदि करने वालो की गृहस्थता के प्रत्यवाय संकुल होने का उल्लेख ‡ इसका प्रमाण है। उत्तररामचरित के चतुर्थांक मे लवके मुख से उन्होने अश्वमेध यज्ञ की प्रक्रिया का वर्णन कराया है। राम के मुख से अर्थवाद इस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग भी उनके पाण्डित्य का सूचक हैं। उत्तररामचरित (२।१३)मे उन्होंने निगमान्त विद्या (वेदान्त)का उल्लेख किया है तथा ३।४७ मे आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् आदि की उपमा तो स्पष्टतः वेदान्त से ली गयी हैं। इसी प्रकार ब्रह्म मे विवर्त्त के विलय होने का उल्लेख वही, (६।६) भी इस बात को प्रमाणित करता है कि भवभूति ने वेदान्त का अच्छा अध्ययन किया था। अपने नाटको मे उन्होंने स्वयं को, पदवाक्यप्रमाणज्ञः कहा है, जिससे उनका व्याकरण, पूर्वमीमासा और न्याय पर अधिकार सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त भवभूति ने स्थान-स्थान पर वेद, उपनिषद् और स्मृतियो से उद्धरण दिये है, जो उनके व्यापक पाण्डित्य के प्रमाण हैं[१]। इसके अतिरिक्त भवभूति ने योगशास्त्र,[२] नीतिशास्त्र,[३] रामायण,[४]धर्मशास्त्र,[५] तथा इतिहासपुरायण,[६] कामशास्त्र,[७] अर्थशास्त्र आदि का विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया था।

संस्कृत पर उनका असामान्य अधिकार था। दक्षिणभारतीय भाषाओ का भी भवभूति से संभवतः अध्ययन किया था,[९] उनका शब्द ज्ञान तो इतना व्यापक है कि ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति ने अपने अध्ययनकाल मे अनेक सस्कृत कोषो को कंठाग्र किया होगा। उनका अपने 'आपको वश्यवाक्' कवि कहना उचित ही है।

पर्यवेक्षण

भवभूति को मनुष्य के हृदय की भावनाओ का अन्तरंग परिचय था। उत्तरराम-

‡. उत्तररामचरित, १।८

१. उत्तररामचरित २।६२ मे वैदिकमन्त्र-यत्रानन्दार्श्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते-की छाया हैं। इसी प्रकार मालतीमाधव ३।१८ भी ऐतरेय ब्राह्मण के ४० वे अध्याय के पुरोहित प्रशंसा वाले प्रकरण से प्रभावित है।

२. महावीरचरित, पृष्ठ ६४-६५, मालतीमाधव, ५।१-२

३. द्रष्टव्य-महावीरचरित्र ९ व ४ अंको मे माल्यवान् के संवाद।

४. उत्तररामचरित, २।५,६।३१,३२

५. महावीरचरित पृष्ठ १००, उत्तररामचरित ४।२ के पश्चात् तथा ५।२०, २१

६. मालतीमाधव, २।३ ७. वही, ८।१ ८. वही, १।६, २।१३

९. उत्तररामचरित. सं० पी० वी० काण. भूमिका; पृष्ठ २७

चरित के तृतीयाक मे सीता की मनोदशा का चित्रण जितना ही हृदय-स्पर्शी है, उतना ही सजीव और यथार्थ भी[10] युवामन की प्रणय-भावना का जितना सूक्ष्म चित्रण भवभूति ने किया है, उतना बाण को छोडकर संस्कृत का अन्य कोइ कवि नही कर सका[11] नवयुवतियो की चेष्टाओ और वार्तालाप आदि का सूक्ष्म अध्ययन भवभूति ने किया था[12] प्रकृति को जितने निकट से और जितनी सूक्ष्मता से भवभूति ने निरखा-परखा था, उतना संस्कृत के बहुत कम कवियों ने निरखा परखा हैं। उत्तररामचरित में पुरा यत्र स्रोत:पुलिनमधुना तत्र सरिताम्—(२।१) तथा "स्निग्धश्यामा क्वचिदपरतो भीषणाभोगरूक्षा:, आदि दण्डकारण्य के वर्णनो मे प्रकृति के बाहरी रूप का सूक्ष्म अंकन है, जो क्षणपरिवर्तित होता हुआ चिर नवीन बना रहता हैं। प्रकृति के सुन्दर और कोमल तथा भयावह-दोनो ही रूपो पर कवि की दृष्टिपडी है। प्रकृति के विराट् सौन्दर्य का जितना सुन्दर उन्मीलन भवभूति ने अपनी पैनी दृष्टि से किया है, उतना और कोई कवि नही कर सका[1]।

पशु-पक्षियो की प्रकृति एव चेष्टाओ का भी भवभूति ने स्वयं अवलोकन किया था[2]। मालतीमाधव मे श्मशान का चित्रण (५।११-१६) कुछ अतिशयोक्तिमय होते हुए भी भवभूति के स्वयं के पर्यवेक्षण से प्रसूत है। अपने समाज का भी सूक्ष्म अध्ययन भवभूति ने किया था। अघोरघंट और कपालकुण्डला जैसे पात्र मालतीमाधव मे उनके युग की धार्मिक प्रवृत्तियो, तान्त्रिक साधना आदि का परिचय देते है। कामन्दकी के चरित्र द्वारा भवभूति अपने युग की बौद्ध धर्म की स्थिति पर प्रकाश डाला हैं। बौद्ध भिक्षुणिया दूसरो के विवाह-प्रणय आदि मे रुचि लेने लगी थी यह कामन्दकी के चरित्र द्वारा स्पष्ट है।

विवाह की प्रथाओ[3] तथा अपने समय के सामन्तीय जीवन का भी सूक्ष्म अध्ययन भवभूति ने किया था।

---

१०. दिष्टचा अपरिहीनधर्मः स राजा—३।८ के पूर्व तथा मांप्रेक्ष्याम्यनुज्ञातेन सन्निधानेन राजा अधिकं कोपिष्यति ३।१२ के बाद सीता के सवाद द्रष्टव्य ३।१३ भी।

११. द्रष्टव्य-मालतीमाधव, पृष्ठ ३३१-३२

१२. द्रष्टव्य—वही, १।१८-२१, २३, ३१, २६, ३०, २।१, ५।३, ४, ६, तथा पृष्ठ-३२५-३०। उत्तररामचरित १।२४, तस्मै कोपिष्यामि यदि त प्रेक्षमाणा आत्मन: प्रभवामि। ३।११, १२, ३७ आदि। मालतीमाधव, ६।१७-३० मे विरह की भावनाओ का यथार्थ चित्रण है।

---

१. द्रष्टव्य—मालतीमाधव, ६।१५, १६, उत्तररामचरित २।१४, १६, २१, २७, २६, ३०

२. द्रष्टव्य—मालतीमाधव, १।४०, ६।७, उत्तररामचरिन, ६।१५, १६, आदि,

४. द्रष्टव्य—वही, पृष्ठ २६१

प्रतिभा

भवभूति स्वतन्त्र-चेता कवि हैं। वे अन्तर्मुखी और एकांगो वृत्ति के थे और अपने समकालीन सामाजिक जीवन से असन्तुष्ट और विक्षुब्ध भी। उनके इस क्षोभ ने उन्हे और अन्तर्मुख बनाते हुए अपने ही भीतर अपने लिये जीवन-मानो और आदर्शों को खोजने और साक्षात्कार करने के लिये प्रेरित किया। भवभूति यथार्थ के धरातल से अलग हटकर नये मूल्यो का सृजन करते हैं, इतने अर्थ में वे क्रान्तदर्शी कवि हैं, पर अपनी अन्तर्मुखी वृत्ति तथा आदर्शवाद के कारण वे किसी की काल्पनिक वायवीय लोक में अधिक रमण करते हैं, इसीलिये उनके चरित्र प्रायः अमूर्त भावनाओं और आदर्शों से गढे हुए लगते हैं। पर भवभूति की निजी कवि दृष्टि और अनुभूति की गहराई को नकारा नही जा सकता। बहुविवाह तथा सामन्तीय विलास-प्रवृत्तियो मे नारी वर्ग की दयनीय स्थिति देखकर भवभूति ने नारीत्व का वह गरिमामय उदात्त रूप अपनी कृति मे उपस्थापित किया, जिसके समक्ष चराचर जगत् नतमस्तक है। सीता को विशाल हृदय वाली ममत्व से भरी हुई आदर्श मूर्ति का और साथ ही राम को मानव सुलभ रूप देकर भवभूति ने अपनी क्रान्तदर्शिता का परिचय दिया है। राम नये राजा होने और प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यपालन के उत्साह तथा कीर्ति की रक्षा की भावना के आवेग में सीता के परित्याग को भूल कर बैठते हैं। उनकी यह भूल उन्हे पाश्चात्य दु:खान्तिका के नायक के रूप मे हमारे सामने ला देती है, पर भवभूति ने अपनी मानवीय सद्भावना और प्रेम की आस्था तथा नाटककार की पैना दृष्टि के द्वारा अपनी कृति को दु:खान्तिका होने से उबार लिया है। सीतात्याग की समस्या का एक दूसरा पक्ष वासन्ती, कौशल्या, जनक और लव के मुख से उपस्थापित करवाकर तथा राम को अपनी भूल का अहसास कराते हुए भवभूति ने सीता और राम के पुर्नमिलन की पृष्ठ-भूमि दोनो के अन्तः करण मे भी निर्मित की हैं और बाहर भी। उनका यह नाटकीय कौशल मौलिक प्रतिभा और कवि दृष्टि की उपज है। राम और सीता के चरित्र तथा सीता-त्याग की घटना को भवभूति ने एकदम नयी दृष्टि से देखा है। इसीप्रकार उनकी कृति मे अनेक घटनाएं और कथन नये सन्दर्भो से जुड़कर विशिष्ट बन गये हैं। प्रथमांक में चित्रदर्शन, जृम्भकास्त्र का उल्लेख या तृतीयांक मे छायासीता का प्रसंग उल्लेख्य हैं।

भवभूति की कल्पना प्रायः भावुकता की बाढ मे खो जाती है, और वह समंजन और सन्तुलन बनाये रखने का गुण खो देती है। नई घटनाए, नये प्रतिमान और नये बिम्ब उपस्थित करने की उसमे पर्याप्त सामर्थ है, पर उसमे औचित्य और सन्तुलन का बिचार प्रायः नही रहता।

वर्ण्य को विशद बनाने के लिए सटीक और अमूर्त उपमानो का उपस्थापन भवभूति की अपनी विशेषता है, जितने सुन्दर अमूर्त उपमान उन्होंने जुटायेहैं, उतने अन्य कवियो मे नही मिलते । भवभूति का रुझान मूर्त से अमूर्त को ओर, शरीर से आत्मा की ओर तथा यथार्थ से भावात्मक आदर्श की और होता चला गया है । इसीलिये अमूर्त उपमाएं भी उनमे अधिक होती गयी है । यद्यपि वाल्मीकि ने भो अमूर्त उपमाओं का सुन्दर प्रयोगकिया हैं, विशेषतः अशोकवाटिका में विरहिणी सीता के वर्णन मे (सुन्दरकाकाण्ड-१५ वां अध्याय,) पर अलंकारो के क्षेत्र मे अमूर्त उपमाएं भवभूति की अपनी ही चीज हैं ।

मौलिकता का उनकी कल्पना में अभाव नही है, पूर्व प्रयुक्त परिचित बिम्बों को वे नये सन्दर्भो मे प्रयोग करके चकमा देते हैं[2] । जैसे दिव्यौषधि से तरोताजा हुए लक्ष्मण के वर्णन मे-सान पर चढाये मणि की तरह, मेघ मुक्त सूर्य की तरह, म्यान से निकली तलवार की तरह लक्ष्मण इस समय एकदम दमक उठे है (महावीरचरित, २।५३) या सीता का यह चित्र—

किसलयमिव मुग्ध बन्धनाद् विप्रलूनं हृदयकुसुमशोषीदारुणो दीर्घशोकः ।
ग्लपयति परिपाण्डुः क्षाममस्याः शरीरं शरदिज इव धर्मः केतकीगर्भपत्रम् ॥

किसी एक स्वय-प्राप्त कल्पना से लगाव हो जाने की प्रवृत्ति भवभूति मे प्रायः मिलती है । "आलर्क विष" और "तिरश्चीनमलातशल्यम्" का दुखित हृदय की विशेषता बताने के लिये उन्होने पुनः पुनः प्रयोग किया है । किसा भावना से, किसी आदर्श से, तथा किसी विशिष्ट कल्पना से जिसे उन्होने अपनो कवि चेतना मे जिया है, लगाव भवभूति की प्रकृति है ।

संवेदना और भावबोध

भाव मे डूब जाने की –सराबोर हो जाने की–प्रवृत्ति भवभूति की विशेषता है । दो परस्पर विरोधी भावो का समंजन भवभूति ही कर सकते हैं, क्योंकि उनकी कवि चेतना में सभी भाव आवर्तबुद्बुदतरंगमय विकारो के समान एक ही विश्वजनीन करुणा से जन्मते हैं। वीरता और ओजस्विता के प्रति उनका आग्रह है, पर भवभूति का मन तो वही रमता है, जहां प्रगाढ करुणा और संवेदना है । परशुराम के मुख से इस तरह को बात भवभूति ही निकलवा सकते हैं—

---

१ महावीरचरित, २।४१, उत्तररामचरित, ३।४, ६।६, १० ।
२ द्रष्टव्य—उत्तरगमचरित, ५।११

सम्भूयैव सुखानि चेतसि परं भूमानमातन्वते
यत्रालोकयथावतारिणि रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सवः ।
सत्वं नूतन एव कंकण-धरः श्रीमान् प्रियश्चेतसो
हन्तव्यः परिभूतवान् गुरुमिति प्रागेव दूयामहे ॥
अमृताध्मातजीमूतस्निग्धसहंननस्य ते ।
कुठारः कम्बु-कण्ठस्य कष्टं कण्ठे पतिष्यति ॥—२।४५-४६

तुम जिसे देखकर ही हृदय मै सुख की लहर दौड जाती है, नेत्र आनन्द से थिरक उठते हैं, हाय उसी अभिनवकंकण धारी तुमको, चूकि गुरु का अपमान किया है, इसलिये मारना होगा-यह सोच -सोचकर तो पहले ही हृदय मे कसक हो रही है । खेद हैं, अमृत से भरे हुए बादल के समान अगो वाले तथा कम्बुकण्ठ वाले तुम्हारे ऊपर कुठार ही होगा ।

कालिदास की भांति भवभूति तटस्थ और निस्पृह नही रह सकते, वे अपने आपको भावसरिता मे डूब जाने देते हैं । उनकी चेतना अपने पात्रो की भावनाओसे तदाकारित हो जाती है और भावो के प्रगाढ उद्वेलन मे अभि-व्यक्ति का स्रोत स्वतः फूट पडता हैं । भवभूति के भावबोध और अभिव्यक्तिमे इसीलिये एक उन्मुक्त निश्छलता है । राम माधव, जनक, वासन्ती, सीता आदि सभी अपने पात्रो के उद्वेग, विक्षोभ और पीडा को भवभूति ने अपने अन्तस्तल मे अनुभव किया है । उनकी अनुमति इतनी तीव्र और सच्ची है कि छद के बाद छद उनके हृदय से निसृत होते चले जाते है, फिर भी भवभूति को लगता है, जैसे अभी भी हृदय की पूरी कसक और पूरा उफान वे उड़ेल नही सके है । वे उस बुलबुल को तरह है जो दर्द भरे गीत गाती जाती है, गाती जाती है पर थकती नही ।

सौन्दर्यबोध

भवभूति को सहज प्राकृत सौन्दर्य से लगाव है । मनुष्य मे भी वे प्रकृति के सौन्दर्य की सहज छवि देखना चाहते हैं[1] । बाह्य सौन्दर्य के साथ-साथ आन्तरिक सौन्दर्य भी उन्हें इष्ट है । भवभूति माघ जैसे कवियो की तरह मासल सौन्दर्य तथा ऊपरी टीम-टाम

---

१. द्रष्टव्य सीता का यह वर्णन—
प्रतनुविरलैः प्रान्तोन्मीलन्मनोहरकुन्तलैर्दशनकुसुमैर्मुग्धालोकं शिशुर्दधती मुखम् ॥
ललितललितैर्ज्योत्स्नाप्रायैरकृत्रिमविभ्रमैरकृत मधुरैरम्बाना मे कुतूहलमंगकैः ॥
१।२०, उत्तररामचरित ।

पर नहीं रीझते, वे तो आन्तरिक पवित्रता और अन्तःसौन्दर्य के पुजारी हैं। सच्चा सौन्दर्य शिव से समन्वित होता है, उसमें अशिव का लेश भी भवभूति को स्वीकार्य नही है।[1] सौन्दर्य पवित्रता, सदाशयता तथा मंगल का संचार करता रहता है[2]। बाह्य सौन्दर्य क्षीण हो जाता है, पर हृदय का—भावनाओं का सौन्दर्य सदैव अपना मंगलमयी सुषमा बिखेरता रहता है और बाह्य जगत् को भी रमणीय बनाता रहता है[3]।

भवभूति के सौन्दर्य मे विराट् के प्रति आकर्षण और स्थावर-जंगम जगत् मे अनुस्यूत चैतन्य के साक्षात्कार की प्रवृत्ति सर्वोपरि है। दण्डकारण्य के भीषण कान्तार मे विस्तीर्ण विराट् के व्यापक सौन्दर्य का भवभूति के अतिरिक्त और कोई साक्षात्कार नही कर सका। कालिदास की भाति टुकडो मे विभक्त सौन्दर्य के प्रतिरूपो पर भी भवभूति मुग्ध होते हैं[4], पर उनका आकर्षण प्रायः बाह्य आवरण को चीर कर जगत मे फैले हुए आन्तरिक सौन्दर्य के अन्वेषण मे है। इसीलिये दण्डकारण्य का भयावह प्रदेश भवभूति के लिए सौन्दर्यमण्डित बन गया है। भीषणता और भयावहता में अनुस्यूत सौन्दर्य का साक्षात्कार भवभूति ही कर सके हैं।

भवभूति की भाषा और शब्दावली में भी यही बात मिलती है। कालिदास की भांति केवल मधुर प्रासादिक शब्दविन्यास मे ही उनकी शैली केन्द्रित नहीं, वह उत्कट उदग्र पदगुम्फन को भी समेटती है। भवभूति "जहाँ यदि इयं किंवदन्ती महाराज प्रति स्यन्देत" (उत्तररामचरित-प्रस्तावना) जैसे सारप्राण वाक्यांश लिख सकते हैं, वही जटिल

---

१. द्रष्टव्य—शरीरनिर्माणसदृशोऽस्यानुभावः। महावीरचरित (चौखम्बा संस्करण ५५) पृष्ठ २५

भिद्येत किं सदृशमीदृशस्य निर्माणस्य—उत्तररामचरित, ४।२१ के पूर्व।

२ द्रष्टव्य—महावीरचरित, २।३२

३. द्रष्टव्य—उत्तररामचरित, ३।६ के पूर्व सीता का संवाद।

४ द्रष्टव्य—लव और कुश का यह वर्णन

कठोरपारावतकण्ठमेचकं वपुर्वृषस्कन्धसुबन्धुरसयोः।
प्रसन्नसिंहस्तिमितं च वीक्षितं ध्वनिश्च मांगल्यमृदंगमांसलः ॥-६।२५
(उत्तररामचरित)

या—श्रमाम्बुशिशिरीभवत्प्रसृतमन्दमन्दाकिनी, मरुत्तरलितालका ललाटचन्द्रद्युति।
अकुंकुमकलंकितोज्ज्वलकपोलमुत्प्रेक्ष्यते, निराभरणसुन्दरं श्रवणपाशमुग्धंमुखम् ॥
६।३७

समासबद्ध शैली का सौन्दर्य तथा नाद की मधुर झंकार भी अपनी कविता में उत्पन्न कर सकते हैं। उनकी इस विशेषता पर धनपाल की यह टिप्पणी उचित ही है,

स्पष्टभावरसाचितैः पदन्यासैः प्रवर्त्तिता।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ॥

तिलकमंजरी, पद्य ३०

सशक्त, समर्थ पदावली तथा शब्द विन्यास की सृष्टि में भवभूति वाल्मीकि, कालिदास, भास और अश्वघोष को पीछे छोड़ देते हैं। उनके परवर्ती कवि उनसे प्रभावित होकर तथा उनका अनुकरण करके भी इस क्षेत्र मे उनसे होड़ नही ले सके हैं[1]।

उपसंहार

वर्णन तथा पाण्डित्य के क्षेत्र में भले ही भवभूति एक बड़े मीमामक हो या वेदान्ती, पर कवि के रूप मे वे उस स्वतंत्र अनन्त पथ के पथिक हैं जो किसी सम्प्रदाय या वाद के घेरे मे नही अंटता। संस्कृत के कवियो मे उनका व्यक्तित्व निराला ही है। सामाजिक विकृतियो के प्रति विक्षोभ और वैयक्तिक जीवन की अतृप्ति-इन दोनो चीजो मे वे अंग्रेजी कवि शैली के समकक्ष हैं। उनकी स्वतंत्र चेतना ने भी उन्मुक्त होकर शैली की भाति नये आदर्शों को गढा, पर भवभूति इसलिए बडे नही हैं कि उन्होने विकृत परम्पराओ से विद्रोह किया, या अपने जीवन मे मिली उपेक्षा पर आक्रोश प्रकट किया, अथवा वे केवल इसलिये भी महान् कवि नही हैं कि उन्होने मन को करुणा विगलित बना देने वाले अनेक मार्मिक पद्यो की सृष्टि की या करुणा की प्रगाढ धारा बहाया संस्कृत कविता को नये शिल्प, नयी परिकल्पनाओ, नये अनगढ शब्द—सौन्दर्य से मण्डित किया, बल्कि उनकी महानता उस महती साधना मे है जो उन्होने अपनी सीमित वैयक्तिकता से ऊपर उठकर अनन्त के साक्षात्कार और व्यष्टि को छोडकर समष्टि से ऐकात्म्य पाने के लिये की।

भर्तृहरि

सातवी शताब्दी में भारत में आये यात्री इत्सिंग ने ७ बार बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर फिर ससार में वापस आने वाले राजा भर्तृहरि का उल्लेख किया है। भर्तृहरि

१. द्रष्टव्य—महावीरचरित, १।६, १।१२, २३, ३०, ४०, ६, २। २।३२, ६।२३, ५।५, ६, ६, २०, ६।१ आदि।
विशेष रूप से द्रष्टव्य—महावीरचरित, ७।११,१२।

की कविता मे प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व मे पड़े हुए एक कवि का जो व्यक्तित्व उद्घाटित होता है, उससे इत्सिंग के इस उल्लेख का साम्य बैठ जाता है। पर भर्तृहरि के काव्य मे उनके बौद्ध होने का कोई सन्दर्भ नही मिल पाता। उनकी हिन्दू देवी-देवताओं और वेदान्त पर आस्था अवश्य कही-कही झलकती है। इसी प्रकार भर्तृहरि के गुरु गोरखनाथ से दीक्षा लेने तथा पूर्ण वैराग्य न होने पाने के संबंध मे कुछ दन्त कथाएं प्रचलित हैं, जिनकी प्रामाणिकता के संबध मे कुछ कहा नही जा सकता। १५ वीं शती में विरचित सस्कृत-नाटक भर्तृहरिनिर्वेदम्-इन्ही दन्तकथाओं पर आधृत है। 'वाक्यपदीयम्' के रचयिता महान् भाषावैज्ञानिक और विचारक भर्तृहरि और कवि भर्तृहरि एक ही हैं या अलग-अलग—इस संबंध मे भी कुछ कहा नही जा सकता।

मान्यताएं एवं दृष्टिकोण

भर्तृहरि के आदर्श संस्कृति के उच्च मानदण्डों के आधार पर निर्मित हुए थे। परधन-हरण मे संयम, सत्यवचन, दान, तृष्णा का त्याग, विनय तथा सभी प्राणियों पर दया[१] - ये उनकी दृष्टि में आदर्श गुण हैं। भर्तृहरि के अनुसार विपत्ति में धैर्य, उन्नति मे क्षमा, सभा में वाक्पटुता, युद्ध मे विक्रम तथा यश मे रुचि, शास्त्र मे व्यसन[२] - यह महात्माओ के आदर्श हैं। गुण-ग्राहिना को भर्तृहरि अत्यन्त ही वरेण्य मानते हैं। अपरिग्रह और अनासक्ति उनकी दृष्टि मे जीवन के उच्च मानदण्ड हैं[३]।

भर्तृहरि कवि और विद्वानो को समाज मे सर्वोच्च स्थान देना चाहते थे। राजा को चाहिये कि वह कवियो और पण्डितो का सम्मान करें तथा उनके सामने हेकडी छोड दे। पण्डितो से स्पर्द्धा करना राजा के बूते के बाहर है[४]। कवियो का यश:काय अविनाशी होता है, अतः वे अमर हैं[५]।

भर्तृहरि कर्मवादी हैं। उनका कथन है—नमः सत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति[६] -किन्तु कभी-कभी भाग्य की महिमा से भी वे अभिभूत दिखायी देते हैं[७]।

भर्तृहरि भोगवाद को छोड़कर त्याग और अपरिग्रह के मार्ग का अवलम्बन करने का उपदेश देते हैं[८]। बाहरी आडम्बर से उन्हें घृणा है, वे मन की पवित्रता को वरेण्य मानते हैं[९]। वे मनुष्य मे नैतिक गुणो का विकास देखना चाहते हैं[१०]। भर्तृहरि के मत में विवेक तथा तर्कबुद्धि कर्तव्याकर्तव्य के प्रश्न मे सबसे बडी कसौटी हैं[११]।

१. भर्तृहरिकृतशतकत्रादिसुभाषित संग्रह—सं० डी० डी० कोसाम्बी, १।३

२. वही,नीतिश्लोकाः, १४ ३. वही, २१ ४. द्रष्टव्य, वही, १३, १५, १६

५. वही, ५५ ६. वही, २२ ७. वही,२६,३६,४० ८ वही, २८, ३०, ३१

९. वही,३७ १०. वही, ३८ ११. वही, ४५

भर्तृहरि अनवरत उद्यमी,[१] दानी[२] तथा परोपकारी[३] बनने का उपदेश देते हैं। वे जीवन को तेजस्विता और वर्चस्व से मण्डित देना चाहते हैं[४]। मधुर वाणी उनके अनुसार मनुष्य का सबसे बडा अलंकार हैं[५]।

स्त्री के आकर्षण का लोहा भर्तृहरि मानते थे। उन्होने स्वय अनुभव किया था कि कृती लोगो का विवेक दीपक तभी तक प्रज्ज्वलित रहता है, जबकि वे कुरगलोचनाओ के चटुललोचनांचल से ताडित नही होते[६]। स्त्रिया अपने मनोहर हावभावो से किसका मन वश मे नही कर लेती[७]। भर्तृहरि की मान्यता थी कि स्त्रियो से बढ़कर मनोहर और साथ मे दुखदायक इस संसार मे और कोई नही है[८]। उनकी चेतना पर काम और स्त्रियो के विलास का इतना जबर्दस्त सम्मोहन छाया हुआ था कि उसके आगे वे ब्रह्मा को भी परास्त समझते थे, मनुष्यो की तो बात ही क्या[९]? सुन्दरी की दृष्टि से दष्ट पुरुष के लिये न तो कोई मंत्र हैं, न कोई चिकित्सक, न औषधि[१०]।

एक ओर तो भर्तृहरि की सहज प्रवृत्तियां उन्हे विषयो और स्त्रियो की ओर खीचती थी और दूसरी ओर उनका विवेक उन्हे दूसरे रास्ते ले जाना चाहता था। उनकी चेतना मे इन दोनो का द्वन्द्व सर्वत्र ही दिखाई देता है। एक तरफ तो वे स्त्रियो के आकर्षण का लोहा मानते हुए करीब-करीब यह निश्चय कर ही लेते है कि वक्ष पर मदालस प्रियतमा हो तो यही सबसे बड़ा स्वर्ग है[११] और यही संसार का सर्वश्रेष्ठ फल है, इसे छोड़कर जो मूर्ख अन्यत्र सुख ढूढते है, वे कामदेव के द्वारा नग्न, मुण्डित, पंच-शिख या जटिल कापालिक बना दिये जाते है[१२]। युवतियो की निन्दा करने वाला अलीक पण्डित अपनी और दूसरो की प्रतारणा ही करता है, क्योकि तप का फल स्वर्ग है और स्वर्ग का भी फल स्त्रिया है[१३]। वे लोग भाग्यवान् है, जो अस्त व्यस्त धम्मिल्ल, मुकुलित नयन तथा सुरत खेद से स्विन्नगण्डस्थल वाली वधुओ के अधर-मधु का पान करते है[१४]। इन विचारो से प्रेरित होकर भर्तृहरि कभी तो सुरत सुख मे ही जीवन के समग्र ऐतिह्य को इतिश्री मान लेते हैं और मृगशावाक्षी

१ वही, ५२,७४
२. वही, ५०, ५४
३. वही; ५४, ६४, २२१
४. वही, ७५
५. वही, ७६
६. वही, ७७
७. वही, ८०
८. वही, ८१
९. वही, ११५
१०. वही, १२९, ११७-१९, १३३-४७ भी द्रष्टव्य
११. वही, ११६
१२. वही, ११३
१३. वही, १२०
१४. वही, १२३

के बिना उन्हे सारा जगत्‌नमोमृत दिखाई देना है[२]। तो कभी एक दूसरी विचारधारा उनकी चेतना पर छाने लगती है, और उन्हे लगता है कि नारी विष से भी भयंकर है[3] तथा--

स्मितेन भावेन च लज्जया धिया पराड्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षितैः।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया समस्तभावैः खलुबन्धनं स्त्रियः॥
७९, शतकत्रयादि०

नामृतं न विषं किंचिदेका मुक्त्वा नितम्बिनीम्।
सेवामृतलता रक्ता विरक्ता विषवल्लरी॥ -वही, ९१
आवर्त्तः संशयानामविनयभवनं पत्तनं साहसानां
दोषानासन्निधानं कपटशतमयं क्षेममप्रत्ययानाम्।
स्वर्गद्वारस्थविध्नं नरकपुरमुखं सर्वमायाकरण्डं
स्त्रीयन्त्रं केन सृष्टं विषममृतमयं प्राणिलोकस्य पाशः॥ वही, ९४

कामाक्षियो की कुटिला भ्रूलता कुंजिका के समान नरक रूपी नगर के द्वार का उद्‌घाटन कर देती है और इनके रहते कोई कितना ही शास्त्रज्ञ या विवेकशील क्यों न हो, सद्‌गति का भाजन हो नही सकता[४]। यदि भवसागर मे डूबना न हो तो स्त्री को दूर से ही छोड देना चाहिये[५]। भवसागर दुस्तर नही है यदि उसमे मदिरेक्षणाएं न हों[६]। इन विचारो से प्रेरित होकर भर्तृहरि कभी एकदम विरक्त होकर अनुभव करते हैं—

इह हि मधुरं गीतमेतद् रसोयं, स्फुरितपरिमलोसौ स्पर्श एष स्तनानाम्।
इति हृतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः, स्वहितकरणधूर्तैः पंचभिर्वंचितोस्मि॥
नो सत्येन मृगांक एष वदनीभूतो न चेन्दीवर-
द्वंद्वं लोचनता गतं न कनकैरप्यंगयष्टिः कृता।
किं त्वेवं कविभिः प्रतारितमनास्तत्वंविजानन्नपि,
त्वङ्मासास्थिमयं वपुर्मृगदृशा मत्वा जनः सेवते॥ वही, १०८

इस प्रकार के विचारो से झकझोरे जाकर भर्तृहरि अपने आपसे कह उठते हैं,

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे।
मा संचर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः॥ वही, १०४

परन्तु भर्तृहरि का चित्त इस विचारधारा पर भी स्थिर नही हो पाता। फिर उन्हें सांसारिक आकर्षण खीचते हैं और उनके मन मे द्वन्द्व मचा रहता है कि

---

१. वही १२४, १३० २. वही, १२५ ३. वही, १००
४. वही, १०१ ५. वही, १०३

सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुतस्मरस्मेरविलासिनीनाम् ।। वही ८४

और वे सोचते है—

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै—
र्द्वयमिह पुरुषाणा सर्वदा सेवनीयम् ।
अभिनवमदलीलालालसं सुन्दरीणां,
स्तनभरपरिखिन्नं यौवनं वा वनं वा ।। –वही, ८५

आवासः क्रियता गागे पापहारिणि वारिणि ।
स्तनमध्ये तरुण्या वा पापहारिणि हारिणि ।। –वही, १३५

ऐसा प्रतीत होता है कि भर्तृहरि की इस प्रकार की मनोदशा वर्षों तक रही । यहा तक कि वृद्धावस्था के आ जाने पर भी वे अनुभव करते रहे,

न ध्यातं पदमीश्वरस्य विधिवत् संसारविच्छित्तये,
स्वर्गद्वारकपाटपाटनपटुर्धर्मोऽपि नोपार्जित. ।।
नारी पीनपयोधरोरुयुगलं स्वप्नेपि नालिगितं
मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारा वयम् ।। —वही, १५४

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेप यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेवजीर्णाः ।।
वलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरकितं शिरः ।
गात्राणि शिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ।। —वही, १५५-५६

इन मनःस्थिति मे भर्तृहरि बार-बार तृष्णा और आशा को कोसते हैं,[1] विषयो के नाम गालियां सुनाते है[2] और भोगो की निरर्थकता तथा संसार की नश्वरता एव दुख-मयता [3] की दुहाई देते है तथा संसार को छोडकर वैराग्य और मोक्ष के मार्ग पर चलने का निश्चय करते हैं जो अधिक टिक नही पाता[4] ।

आस्था

शिव मे भर्तृहरि की आस्था थी[5]। पुनर्जन्म[6] गंगा[7] तथा तप[8] की शक्ति मे उन्हे विश्वास था । दार्शनिक विचारो मे वेदान्ती थे और भावना की दृष्टि से भक्ति उन्हे

१. वही, १४६,१५५-५६, १७३, १५०
२ वही, १५६, ३११
३. वही; १६६-७२, १६२, २३५, १६६, २००
४
५. वही, ११
६. वही, ४६, ४७
७. वही, १३५, ३०३
८. वही, ३४३

अभिभूत करती थी। इत्सिंग ने उनके बौद्ध होने का उल्लेख किया है, जिसकी पुष्टि उनकी रचनाओ से नही होती।

पर्यवेक्षण

भर्तृहरि ने अपने स्वयं के तथा अपने आसपास के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की क्षुद्रता, वासना और आसक्ति को खुली आखो से देखा था, पर उनकी प्रकृति विशिष्ट को सामान्य बना देने की थी। अत. सामयिक जीवन के पर्यवेक्षण ने कवि को आन्दोलित किया और उसके द्वारा फिर सामान्य सत्यो को वाणी मिली। मानव की सहज प्रवृत्तियो का जितना तलावगाही उद्घाटन भर्तृहरि ने सामान्यीकृत रूप मे किया है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है[1]। भर्तृहरि ने अपने आसपास के भौतिक जीवन की दीनता को देखा, पर उनकी दार्शनिक के जैसी चिन्तन की प्रवृत्ति ने तुरन्त उन्हे उसके द्वारा सामान्य सत्य के उद्घाटन के लिये प्रवृत्त कर दिया। उदाहरण के लिए

दीनादीनमुखैरसक्तशिशुकै.राकृष्टजीर्णाम्बरा,
क्रोशद्भि: क्षुधितैनरैर्न विधुरा दृश्येत चेद् गेहिनी।
याच्ञा भंगभयेन गद्गदगलत्त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी जन: ॥ –वही, १५२

सौन्दर्यबोध

भर्तृहरि के सौन्दर्यबोध मे गहराई नही है। वे सौन्दर्य के बाहरी आवरण पर रीझते है, और उससे कभी-कभी घृणा भी करने लगते है। कभी वे कहते है

वक्त्रं चन्द्रविडम्बि पंकजपरीहासक्षमे लोचने
वर्ण: स्वर्णमपाकरिष्णुरलिनीजिष्णु: कचानां चय.।
वक्षोजाविभकुम्भविभ्रमहरौ गुर्वी नितम्बस्थली,
वाचा हारि च मार्दवं युवतिषु स्वाभाविकं मण्डनम् ॥–वही, ६०

या—स्मितं किंचिद्वक्त्रं सरलतरलो द्रष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरस:।
गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकर:
स्पशन्त्यास्तारुण्यं किमिव नहि रम्यं मृगदृश: ॥–वही, ६३

दूसरी ओर उसी रूप मे भर्तृहरि को जुगुप्सित घिनोनापन दिखाई देता है–

स्तनौ मासग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ,
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाकेन तुलितम्।

---

१. वही, द्रष्टव्य ३०, १५१-५२, १३८, २६०, २४२, ३३२

स्रन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्धिजघनं,
अहो निन्द्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम् ।। –वही, १५६

एक ओर तो भर्तृहरि के सौन्दर्यबोध मे मांसलता की ऊष्मा है, दूसरी ओर वैराग्य का शुष्क ठण्डापन। कृत्रिमता के प्रति उनकी सौन्दर्यवृत्ति मे आग्रह कम है पर अलंकरण और कृत्रिम सौन्दर्य-यमक, श्लेष आदि से भी भर्तृहरि को परहेज नही है। कहं कही उन्होने यमक आदि शब्दालंकारो का स्वयं प्रयोग किया है[1]।

भर्तृहरि मे प्रेम को आत्मिक और आध्यात्मिक मिलन से अलग करके शारीरिक अद्वैत स्थापित करने में ही सीमित करने का आग्रह है। प्रेम के जिस गरिमामय स्वरूप को कालिदास या भवभूति ने पहचाना, उसे पाने मे असमर्थ है। उनके प्रेम मे आन्तरिकता के स्थान पर पूर्णतः स्थूलता की प्रतिष्ठा है एवं तदनुरूप ही भर्तृहरि का व्यक्तित्व भी है। वे जीवन को उसकी सम्पूर्णता में नही ले पाते। उनके विचारो और धारणाओ मे सर्वत्र उथलापन है। एक ओर उनमे वाल्मीकि जैसी मानवीय अन्तर्दृष्टि का अभाव है, दूसरी ओर वे विवेक से सन्तुलित निर्णय लेने की अपेक्षा भावना के प्रवाह मे अधिक कहते हैं। भर्तृहरि के भीतर कालिदास, अश्वघोष, माघ और कल्हण जैसे कवियो के कृती व्यक्तित्वो का समवेत रुप तथा उनका पारस्परिक द्वन्द्व भी एक साथ देखा जा सकता हैं। उनमे अश्वघोष तथा कल्हण का सा वैराग्य कभी-कभी आविर्भूत होता है पर इन दोनो के जैसी स्थिरता और आत्मसंयम नही हैं। उनकी ऐन्द्रिय रूप पर आसक्ति और रागात्मकता मे कालिदास और माघ की छाया है पर कालिदास के जैसा अनासक्त और व्यापक सौन्दर्यबोध नही है। भर्तृहरि को जीवन के विराट् प्रश्नो ने आन्दोलित और उद्वेलित किया है पर उनके मन की अस्थिरता ने उन्हे कही का भी नही रख छोडा। एक ओर तो उनमे नारी के शारीरिक उपभोग की तीव्र लालसा हैं, दूसरी ओर उनकी वैराग्यपरक उक्तियो मे हम उन्हे अध्यात्म की ओर उन्मुख पाते हैं। कालिदास इन दोनो ध्रुवो के बीच सन्तुलन स्थापित कर सके थे, इसलिये उनकी वाणी सन्तुलन की है। पर भर्तृहरि मे यह सन्तुलन नही है। उनमें या तो असन्तुष्ट हृदय की प्रतिहिंसात्मक खोज है, अथवा सांसारिकता की क्षणभंगुरता के विचार से प्रसूत ऊब। उनकी उक्तियो से ऐसा प्रतीत होता है कि अभावग्रस्त प्रताडित जीवन का आक्रोश ही अन्यत्र स्त्री निन्दा के रूप मे प्रस्फुटित हुआ है[2]। प्रवृत्ति और निवृत्ति के प्रश्न को लेकर भर्तृहरि के मन मे सदैव खींच-तान मची रही। वे कालिदास की भांति इनका नीर क्षीरवत् समन्वय नहीं कर पाये। भर्तृहरि ने आदर्श नैतिक मूल्यों का भी राग बार-बार

१. द्रष्टव्य, वही, १३५, १३१, १३२
२. गीति काव्य का विकास, पृष्ठ २३०

अलापा है, पर उन आदर्शों को उन्होंने स्वयं जिया नही, वे उनकी स्वयं की अन्तश्चेतना से स्फुरित नही हुए और भर्तृहरि के लिए वे सदैव एक स्वप्नलोक मे ही अवस्थित बने रहे, जहां वे नही पहुँच सकते थे। इसीलिये भर्तृहरि को भारतीय दर्शन और संस्कृति को उच्च परम्पराओ मे पला हुआ ऋषि परम्परा का सन्त कवि कहना उचित नही लगता[1]।

परन्तु भर्तृहरि के व्यक्तित्व की कुछ विशेषताएं उन्हे पाठक के एकदम निकट ला देती है। वे सरल और निश्छल मन के कवि हैं, छद्म तथा कथ्यहीनता से कोसो दूर वे अपने मन की बात सीधी और साफ भाषा मे कहना जानते हैं– दुराव-छिपाव या घुमा-फिराकर कहने की उन्हे आदत नही। दूसरे उनके मन मे जगत् के सुख-दुख के प्रति व्यापक और गहरी संवेदना है, यद्यपि वह संवेदना उनके दार्शनिक मन को ही अधिक झिझोडती हैं, पाठक के हृदय तक सीधे वह इसीलिये सम्प्रेषित नही हो पाती।

भर्तृहरि की मनोदशा बहुत कुछ समकालीन वातावरण की प्रतिच्छवि लिये हुए है। उनके युग मे एक ओर तो ब्राह्मण धर्म के कट्टर आदर्शो द्वारा वैराग्य की भावना पनप रही थी और दूसरी ओर सम्पन्न वर्ग विलास मे बेसुध था। भर्तृहरि को इन दोनों ध्रुवो ने अपनी ओर खीचा और वे अपनी दुर्बलताओ के कारण सदैव सीमाओ पर ही बने रहे।

भर्तृहरि और भवभूति दोनो ही अतिशय भावनाप्रवण और संवेदन-शील कलाकार हैं। दोनो ही आत्मकेन्द्रित ओर व्यक्तिगत जीवन से असन्तुष्ट भी रहे हैं, पर जहा भर्तृहरि का असन्तोष, अतृप्ति और कुण्ठाए सदैव बनी रही, वहा भवभूति ने अपने भीतर अपनी आस्था की तलाश की और उसे पाया भी। प्रारम्भ मे दोनो ही भटकते से लगते हैं, पर भवभूति ने अपनी साधना और सन्दर्शन से चरम विश्रान्ति पायी, और भर्तृहरि अपने अन्तर्द्वन्द्व और उलझन से उबर नही पाये। भवभूति ने अपने आदर्श को जीवन्त अनुभूति और जीवन के बीच से पाया, जबकि भर्तृहरि के लिये उनका आदर्श सदैव सुदूर और स्पृहणीय बना रहा।

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृष्ठ ४-५

छठवां अध्याय

राजशेखर और श्रीहर्ष

राजशेखर और श्रीहर्ष—ये दोनो कवि कान्यकुब्ज की राजसभा मे रहे, यद्यपि दोनो के समय मे थोड़ा सा अन्तराल है[1]। दोनो ही कवि उस युग मे हुए जब महाकाव्यो और नाटको की रचना एक ढाचें पर ही की जाती थी, और कवि-प्रतिभा के स्वतत्र विकास के लिये अवकाश कम रह गया था। इन दोनो कवियो ने भी अपने-अपने क्षेत्र मे बंधी बंधाई लीक पर चलते हुए अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग ही अधिक किया। सामान्तीय वातावरण और पाण्डित्य:-प्रदर्शन की प्रवृत्ति की छाप भारवि और माघ से भी अधिक इन दोनो कवियो पर दिखाई देती है।

राजशेखर: आभिजात्य और जीवन

राजशेखर ने अपने को यायावर वंश का बतलाया है[2]। आश्रमोपनिषद् मे यायावर को गृहस्थ का ही एक भेद माना गया है। यायावर स्वाध्याय और यज्ञ करते हैं तथा दान देते या लेते हैं। इस विवरण से यायावरो के ब्राह्मण होने का अनुमान होता है[3]। यायावर का अर्थ जा-जाकर याचना करने वाला है। श्रीमद्भागवत में ब्राह्मणो की चार वृत्तियो मे से एक यायावरी वृत्ति भी मानी गयी है[4]। श्रीधर ने श्रीमद्भागवत की टीका मे लिखा है "यायावर शब्द प्रतिदिन अन्न याचना करने का सूचक है।" ब्राह्मणो की यायावर वृत्ति अत्यन्त ही प्राचीन है। महाभारत में जरत्कारु को यायावरो मे प्रवर (श्रेष्ठ) कहा गया है[5]। इससे अनुमान होता है कि राजशेखर यायावर कोटि के ब्राह्मणो के वश मे हुए थे। कुछ विद्वानो ने अवन्तिसुन्दरी नामक क्षत्रिय कन्या से विवाह

---

१. श्रीहर्ष को प्रायः कन्नौज के राजा जयचन्द की सभा मे ११ वी शती में माना जाता है, परन्तु श्री गजानन शास्त्री मुसलगावकर ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की पत्रिका प्रज्ञा (१९७०) मे प्रकाशित (Date of Sri Harsa) नामक अपने लेख मे उनकी अवस्थिति कान्यकुब्ज मे ही नवी शती मे सिद्ध की है। उनके प्रमाण विचारणीय हैं। कुछ भी हो, राजशेखर और हर्ष मे एक शताब्दी से अधिक अन्तर नही है।

२. बालरामायण १।६,१३तथा विद्धशालभंजिका १।५ ३. ओझा निबन्धावली पृष्ठ२५०.

४. भागवतपुराण, ७।११।१६ ५. ओझा नि० पृ० २५०

के आधार पर राजशेखर को क्षत्रिय माना है, पर यह मानने का आधार अयुक्त है। म० म० गौरीशंकर ओझा ने वि० सं० ८८४ तथा ८१८ के तीन शिलालेखो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उस समय ब्राह्मण-क्षत्रियों मे अनुलोम और प्रतिलोम दोनो प्रकार के विवाह प्रचलित थे।

राजशेखर का आश्रयदाता कन्नौज का प्रतीहारवंशी महेन्द्रपाल था, जो राजा भोजदेव (आदि वराहमिहिर) का पुत्र था। उक्त भोजदेव वि० स० ६०० से ६३८ तक कन्नौज का शासक रहा है। उसके पश्चात् उसका पुत्र महेन्द्रपाल और महेन्द्रपाल के पश्चात् उसका पुत्र महीपाल कन्नौज के राज सिंहासन पर बैठा। इन तीनों राजाओ के शिलालेखो और दानपत्रो के आधार पर हम यह निश्चित कर सकते हैं कि राजशेखर वि० सं० ९५० से ९७० तक कन्नौज मे थे[1]। वे कुछ समय तक कलचुरि के राजा युवराजदेव या केयूरवर्ष के आश्रय मे भी रहे थे जो कन्नौज के महीपाल का समकालीन था[2]।

राजशेखर का घराना यशस्वी कलाकारो एवं सम्मानित दरबारियों का था। उन्होने अपने प्रपितामह अकालजलद को महाराष्ट्र का भूषण तथा सकलगुणनिधान बतलाते हुए प्रशस्ति की है[3]। राजशेखर ने कवि के रूप मे अकालजलद की प्रशस्ति में कहा है-

अकालजलदेरिन्दोः सा हृद्या वचनचन्द्रिका।
नित्यं कविचकोरैर्या पीयते न च हीयते॥
अकालजलदश्लोकैश्चित्रकाव्यकृतैरिव।
जात कादम्बरीरामो नाटके प्रवरः कविः॥

(सूक्तिमुक्तावली से उद्धृत)

अकालजलद के पश्चात् कवि ने अपने पूर्वजो मे सुरानन्द का नाम लिया है। आप्टे के मत में सुरानन्द राजशेखर के पितामह थे।[4] सुरानन्द को राजशेखर ने मधुरभणिति वाला कवि कहा है।[5] सुरानन्द का संभवतः राजदरबार मे अच्छा स्थान था और उनके

---

१. द्रष्टव्य-ओझा निबन्धावली, पृष्ठ १६५-१६६

२. वही, पृष्ठ २६६-२६७

३. शार्ङ्गधरपद्धति में अकालजलद के नाम से एक पद्य उद्धृत है।

४. Karpuramanjari : Ed. N. G. Suru, Introduction, p. LXVI तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजदस्य चतुर्थो दौर्दुकिःशीलवती सूनुरुपाध्यायश्रीराजशेखर ... बालरामायण, प्रस्तावना। ५. वही १।१३।

प्रभाव से राजशेखर को भी वहां अपना स्थान बताने में सुविधा हुई होगी[१]। अपनी काव्य-मीमासा मे राजशेखर ने सुरानन्द को उद्धृत किया है[२]।

राजशेखर के वंश मे तरल और कविराज नामक दो कवि और हुए थे, पर उनके विषय मे कुछ ज्ञात नही है। कविराज के नाम से उद्धृत कुछ पद्य सुभाषित संग्रहो मे मिलते हैं। वामन ने भी एक पद्य कविराज का पदानुप्रास के उदाहरण मे उद्धृत किया है।[3]

विद्धशालभंजिका मे कवि ने अपने को दौहिक (दुहिक का पुत्र) तथा बालरामायण में दौदुंकि (दुदुंक का पुत्र) कहा है और माता का नाम शीलवती बताया है। यह कहना कठिन है कि राजशेखर के पिता का वास्तविक नाम दुहिक था या दुर्दुक साथ हो, राजशेखर ने स्वयं को महामन्त्री का पुत्र भी कहा है[४]। परन्तु उन्होने इस बात का कहीं भी उल्लेख नही किया कि उनके पिता किस राजा के महामन्त्री थे। सभवत: कवि को इस प्रकार के विवरण देना अनावश्यक लगा होगा, क्योकि उनके पिता उनके समय के सामाजिको के लिये पूर्ण परिचित रहे होगे। राजा महेन्द्रपाल के शिलालेख तथा अन्य प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि उनके एक घोइक नामक तंत्रपाल था। अपने पिता के प्रभाव से ही राजशेखर राजा के उपाध्याय के गौरवशाली पद पर पहुँचे होगे। ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर के पिता मे अपने पुत्र या पूर्वजो की भाति काव्य प्रतिभा नही थी और न साहित्यिक अभिरुचि ही। अत: राजशेखर ने उनका केवल नामोल्लेख भर कर दिया है, जबकि अपने पितामह आदि की साहित्यिक उपलब्धियो को समुज्ज्वल रूप मे उन्होने वर्णित किया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर के पूर्वज राजाश्रय की खोज मे चेदि देश आये थे। राजशेखर के एक सुभाषित मे नर्मदा नदी, राजा रणविग्रह और कवि सुरानन्द को चेदिमण्डल का आभूषण कहा गया है।[५] राष्ट्रकूट नरेश चतुर्थ गोविन्द के सम्भात और सांगली ताम्रपत्र लेखो से ज्ञात होता है कि रणविग्रह त्रिपुरो के कल्चुरि राजा द्वितीय

---

१. Karpuramanjari : N. G Suru Introduction, P. LXVI
२. काव्यमीमासा १३ वां अध्याय
३. Karpuramanjari : N. G. Suru : Introductioo, p LXVI
४. बालरामायण १।८, भारत, १।६
५. नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम् ।। सूक्तिमुक्तावली

शंकरगण का विरुद था। इस प्रकार सुरानन्द द्वितीय शंकरगण का आश्रित रहा होगा यद्यपि राजशेखर स्वयं गुर्जर प्रतिहार साम्राज्य के आश्रय मे कन्नौज मे रहे थे, पर त्रिपुरी के प्रति उनका वंश-परम्परागत अनुराग बना रहा, जो बालरामायण (३।३८) मे प्रकट हुआ है।

राजशेखर साहित्यकारो और पण्डितों के घराने मे हुए थे, पडितो के सम्पर्क मे रहे थे, तथा शास्त्रीय ज्ञान की परम्परा मे पढे हुए थे। साथ ही उन्हे विदुषी पत्नी और प्राकृत भाषा की कवयित्री अवन्तिसुन्दरी का साहचर्य भी मिला था[1]। इस सबका प्रभाव राजशेखर के साहित्यिक जीवन पर पडा।

सामन्तीय परिवेश के बीच रहने के कारण राजशेखर का विवाह अवन्ति सुन्दरी के साथ सम्भव हुआ होगा। सम्भव है कि राजशेखर अवन्ति सुन्दरी के सम्पर्क मे विवाह के पूर्व ही आये हो तथा उसके वैदुष्य से प्रभावित हुए हो और राजशेखर तथा अवन्ति सुन्दरी दोनो के पिताओ ने दोनो को समान रुचि देखकर यह संबंध करना स्वीकार किया हो।

राजशेखर ने राजकीय जीवन के वैभव विलास तथा उसकी विडम्बनाओ को एक साथ देखा और भोगा था। राजा के उपाध्याय के पद पर होने के कारण उन्होने शासन तथा राजनीति से अतरग परिचय प्राप्त किया था। यही कारण है कि वे अपने या मत्रियो के पद की जटिलताओ का बार-बार उल्लेख करते है[2]। परन्तु राजशेखर व्यावहारिक बुद्धि के व्यक्ति थे, अतः उन्होने अपने सुलझे हुए मस्तिष्क के द्वारा अपने कर्तव्य की जटिलताओ को भी अपने साहित्यिक जीवन के साथ निभाया होगा। राजशेखर का जो व्यक्तित्व उनकी रचनाओ के अध्ययन के पश्चात् हमारे समक्ष आता है, वह ऐसे प्रसन्नमुख और व्यवहार कुशल व्यक्ति का है जो राजकार्य मे पर्याप्त रुचि तथा हस्तक्षेप रखता था और जो जीवन मे प्राप्त उच्च पद

---

१. अवन्तिसुन्दरी के काव्यशास्त्र विषयक स्वतत्र मतो का काव्य-मीमासा मे तीन बार उल्लेख आया है। हेमचन्द्र ने अपनी देशीनाममाला मे उसके बनाये हुए तीन प्राकृत पद्यो को उद्धृत किया है। अलग से अवन्तिसुन्दरी की कोई रचना उपलब्ध नही है।

२. द्रष्टव्य—बालरामायण १।२५

स्वेच्छया कुरुते स्वामी यत्किंचन यतस्ततः।
तत् तत् प्रतिचिकीर्षन्तो दुःख जीवन्ति मन्त्रिणः॥

ऐश्वर्य, वैभवविलास के साथ अपने व्यस्त जीवन का सन्तुलन बनाये हुए दीर्घकाल तक सम्पन्नता के साथ जीवित रहा। वह महेन्द्रपाल और उसके पश्चात् उसके पुत्र महीपाल की सभा मे भी रहा। महेन्द्रपाल के आश्रय मे रहकर राजशेखर ने बालरामायण तथा कर्पूरमजरी और महीपाल के आश्रय मे प्रचण्डपाण्डव की रचना की थी—ऐसा इन नाटको की प्रस्तावनाओं से ज्ञात होता है। इसके पश्चात् महीपाल के शासन काल के उत्तरार्द्ध मे या उसके देहान्त के पश्चात् संभवतः प्रतिहार राजशक्ति के ह्रास के कारण आश्रयदाता की खोज मे राजशेखर कलचुरि नरेश प्रथम युवराजदेव की राजसभा में त्रिपुरी आया और यहाँ रहकर उसने विद्धशालभंजिका की रचना की—यह इस नाटिका की प्रस्तावना से ज्ञात होता है। डा० दशरथ शर्मा ने सर्वप्रथम इस मत को उपस्थापित किया था कि विद्धशालभजिका का नायक यह त्रिपुरी नरेश ही है और नाटिका का वीरपाल चण्ड महासेन राष्ट्रकूट वद्दिग तृतीय अमोघवर्ष तथा नायिका मृगांकावली युवराजदेव की चालुक्यवशीय रानी नोहलदेवी है। इस प्रकार नाटिका राजशेखर की समसामयिक ऐतिहासिक घटनाओ पर आधृत है। डा० अल्टेकर तथा आगे चलकर डा० मिराशी ने भी इस मत को माना पर अभी इसे सभी विद्वानो की सहमति प्राप्त नही है। पर यह निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि विद्धशालभजिका से केयूरवर्ष युवराजदेव से संबधित कुछ ऐतिहासिक जानकारी मिलती है।

राजशेखर कलचुरि राजसभा के सर्वोच्च कवि के रूप मे प्रतिष्ठित हुए और चेदि देश के कवियो पर उनका प्रभाव भी पडा। बालरामायण तथा बालभारत का एक-एक श्लोक कलचुरि अभिलेखो मे उद्धृत है। द्वितीय युवराजदेव के काल मे बिलहरी पाषाण लेख मे शार्दूलविक्रीडित छंद तथा अन्य बातो मे राजशेखर का प्रभाव स्पष्ट है। यही नही, लेख के अंत मे तो राजशेखर का स्पष्ट उल्लेख है। प्रशस्ति मे कहा गया है—"यह प्रशस्ति विस्मित कवि राजशेखर द्वारा भी प्रशंसनीय है।" इससे राजशेखर की प्रतिष्ठा का अनुमान किया जा सकता है।

मान्यताएं

प्रेम के संबंध में

राजशेखर की प्रेम की अवधारणा मे भवभूति को अन्तर्दृष्टि नही है। वे प्रेम की ऊपरी सतह पर ही तैरते रहते है, उसकी अतल गहराइयो मे वे नही झाक पाते। उनका प्रेम यही तक सीमित है कि—

चित्ते पहुट्टइ न खुट्टइ सा गुणेसुं सेज्जासु लोट्टइ विसट्टइ दिंमुहेसुं।
बोलम्मि वट्टइ पवट्टइ कव्वबन्धे झाणेण खुट्टइ चिरं तरुणी तरट्टी॥

कर्पूरमंजरी, । २।४

शारीरिक आकर्षण के साथ प्रेम की मृदुल भावनाओं में भी राजशेखर संतरण करना जानते हैं और प्रेम मे हृदयसंवाद तथा अंतःकालुष्य दूर होने की बात कहते हैं,[1] पर उनके ये कथन अंतस् की स्वानुभुति से उद्भूत नही होते, अपितु भवभूति जैसे कवियो से उधार लिये जान पडते हैं[2]। वस्तुतः राशेखर प्रेम की शारीरिक मीमासा के घेरे से बाहर निकल कर उसके विस्तृत क्षेत्र मे विचरण करने मे असमर्थ थे। उनका प्रेम प्रायः यौन भावना का ब्यौरा देने मे ही सीमित है[3]।

सम्मपेम्परसं समरूपजोव्वणं समविलासवेअट्टम्।
समदुहुदुःख अजणं समपुणेहिं जणो लहइ॥
बालरामायण, ५।१७

भवभूति के अनुकरण पर राजशेखर ने इस पद्य मे समदुहदु.ख और समपुर्णेहि जणो लहइ कहा है पर उनकी दृष्टि समरूपजोव्वणं समविलासवेअट्टम् पर ही केन्द्रित है।

आस्था

शिव मे राजशेखर की दृढ आस्था थी[4]। कालिदास की भाति वे भी वेदान्ती थे, तथा एक ही सर्वात्मक सत्ता ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में सर्जन, पालन और संहार करती है—इस मत के समर्थक थे[5]। राम को वे विष्णु का अवतार मानते थे तथा उनके गुणो के कीर्त्तन मे उनकी श्रद्धा थी[6]। वाल्मीकि को वे एक महान संत मानते थे तथा उनपर भी राजशेखर की हार्दिक श्रद्धाभावना थी[7]। बालभारत मे उन्होने व्यास के मुख से कहलवाया है।

---

१. कर्पूरमंजरी ३।१०   २. द्रष्टव्य, वही, ३।६

३. द्रष्टव्य, वही, ३।११, १२, २।३२

४. विद्धशालभंजिका; १।३,   कर्पूरमंजरी, १।३,४   बालरामायण, १।१–२, २।१०

५. Karpuramanjari-Introduction, p Xcv

६. धीरोदात्तं जयति चरितं रामनाम्नश्च विष्णोः।
काव्यव्यायत्तदियमपरा काप्यहो कामधेनुः ॥–बालरामायण १।६

७. भाव, ननु भणामि—प्रत्यक्षीकृतसकलशब्दार्थात् तत्रभवतो महर्षेरतिक्रम्य किमेष राजशेखरः चर्मचक्षुः प्रेक्षिष्यते ?

योगीन्द्रश्छन्दसां स्रष्टा रामायणमहाकविः।
वल्मीकजन्मा जयति प्राच्यः प्राचेतसो मुनिः॥
बालरामायण, १।६ (पृष्ठ ७)

पुन: पुनरविनयोद्घाटनेन मा लज्जयतु मामुपाध्याय: ।
के वयंनाम रामायण कवे: पुरत. ?
ये विद्यापरमेश्वरा: स्तुतधियो ये ब्रह्मपारायणा ।
येषा वेदवदादृता स्मृतिमयी वाग्लोकयात्राविधौ ।।
स्नाताः स्वगतरंगिणीमपि सदा पूतां पुनन्त्यत्र ये ।
व्युत्पत्या परमा रसोपनिषदा रामायणस्य ते ।। १।१६

किं च भगवन् प्रथमकवे,

यदुक्तिमुद्रासु हृदर्थवीथीकथारसोयश्चलुकैश्चुलुम्प्य: ।
तथामृतस्यन्दि च यद् वचासि रामायण तत् कवितृन् पुनाति ।। १।१७

रुचि

राजशेखर की अभिरुचि अपने समसामयिक सामन्तीय वातावरण के बीच विकसित हुई थी । ऐश्वर्य और वैभव-विलास के बीच रहकर शृगार की प्रवृत्ति सर्वाधिक उनमें पनपी थी । अपने युग की प्रवृत्तियो का राजशेखर की रुचि पर इतना अधिक प्रभाव पडा था, यह इस बात से ही जाना जा सकता है कि उन्होने विद्धशालभजिका की नान्दी मे शष सब देवताओ को ताक मे रखकर कामदेव और वामलोचनाओ की स्तुति की है । यही स्थिति कर्पूरमजरी मे भी है (कर्पूरमंजरी १।२) विदूषक के द्वारा कर्पूरमंजरी के नग्न शरीर का वर्णन (२।३३-४०) तथा विलक्षणा को आलिगन करना (कर्पूरमंजरी, पृष्ठ ५१), विद्धशालमजिका मे स्नान करती हुई अर्धनग्न नायिका का मंच पर उपस्थित होना तथा उसके नग्न शरोर का वर्णन राजशेखर की ऐन्द्रिय विलासिता के परिचायक हैं ।

संगीत, नाटक, चित्र तथा अन्य ललित कलाओं मे राजशेखर की रुचि थी ।

स्वभाव

भवभूति की भाति राजशेखर मे अपने पाण्डित्य और उपलब्धियों पर गर्व है, पर वे इतने आत्मकेन्द्रित नही हैं, जितने भवभूति । उन्होने अपने आपको परोपकार-व्यसन-निधि: तथा अगणितगुणग्रमन्न और सकलकलाकलापरघुकुलतिलक महेन्द्रपाल का गुरु कहा है[1] । अपनी कवित्वशक्ति पर राजशेखर को भवभूति से कम गर्व नही है । उनका कथन है,

1. विद्धशालमंजिका, १।६ कर्पूरमंजरो, १।५

पातुं श्रोतृरसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता,
व्युत्पत्तिंपरमामपाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः शृणु राजशेखर कवेः सूक्तीः सुधा स्यन्दिनीः[१] ॥
विद्धशालभंजिका, १।७

राजशेखर का दावा है कि उनके गुणों से त्रिभुवन धवलित हो गये हैं तथा उन्होंने अपने प्रभाव की महत्ता से क्रमशः बालकवि, कविराज तथा निर्भयराज के उपाध्याय की उत्तरोत्तर गौरवशाली पदवियों को पाया है[२]। अपने सट्टक (कर्पूरमंजरी) को उन्होंने सट्टकों में श्रेष्ठ तथा रसस्रोत कहा है[३]। राजशेखर का यह गर्व उनकी योग्यता के अनुपात से अधिक है। उन्होंने अपने को वाल्मीकि का अवतार कहा है[४]। अपनी बुद्धि का उनका अत्यधिक गर्व था। बालरामायण में उन्होंने सूत्रधार के मुख से अपने लिये कहलवाया है,

प्राज्ञश्चायम्। वस्त्वन्तरमतिशयानो हि प्रज्ञाप्रकर्षः[५]।

व्यंग्य और विनोद की प्रवृत्ति राजशेखर में पर्याप्त मात्रा में है, यद्यपि उनमें शिष्टता और पालिश का वह पुट नहीं है जो कालिदास में हम पाते हैं। पर उनके विदूषकों के कथन अनेक स्थानों पर काफी रोचक हैं[६]। कहीं-कहीं विदूषक की उक्तियों में तीखा व्यंग्य है जो राजशेखर की प्रत्युत्पन्न मति और व्यंग्य प्रतिभा का परिचायक

---

१. इस प्रकार की उक्तियां बालरामायण में भी द्रष्टव्य हैं—
यद्वा किं विनयोक्तिभिर्मम गिरो यद्यस्ति सूक्तामृतं।
माद्यन्ति स्वयमेव तत् सुमनसो याच्ञा परं दैन्यभूः॥ १।१९
गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः।
स भव्योपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम्॥
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे।
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेस्मिन् कविवृषा॥ १।११

२. कर्पूरमंजरी, १।९

३. वही, १।१२

४. बालरामायण १।१६, पृष्ठ १३

५. वही पृष्ठ ८

६. जैसे—परिणामोत्पीडितमिव दाडिमफलं स्फुटनभूयिष्ठं वर्त्तते मे हृदयं कौतूहलेन।
विद्धशालभंजिका, १२।

है* । कर्पूरमंजरी मे भैरवानन्द के चरित्र द्वारा कोलमार्गियो और तान्त्रिको पर अच्छा व्यंग्य है[1] । पर राजशेखर अपनी इस प्रवृत्ति को शिष्टता और शालीनता से मर्यादित नही रख सके । कर्पूरमंजरी और विद्धशालभंजिका दोनो मे राजा की कामुकता पर व्यंग्य करते हुए भी वे उनकी रानियों को उस गरिमा से मण्डित नही कर सके, जैसा कालिदास ने किया । यही नही, राजशेखर अपनी इन दोनो ही नाटिकाओ मे अन्त मे इन दोनो रानियो को मूर्ख बनाकर स्वय प्रसन्न लगते हैं ।

पाण्डित्य और पर्यवेक्षण

राजशेखर को राजनीति,[2] नाट्यशास्त्र[3] तथा व्याकरण आदि पर अच्छा अधिकार था । कचुकी के लिए सौविदल्ल जैसे शब्दो का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने कोष ग्रन्थो का अच्छा अध्ययन किया था । सस्कृत तथा प्राकृत भाषाओ और अपभ्रंश पर उनका पूर्ण अधिकार था । उनका शब्दभण्डार भी विशाल है । राजशेखर अपनी रचनाओ मे वैदिक साहित्य तथा उसकी विभिन्न शाखाओ का अध्ययन प्रकट करते हैं । काव्यमीमांसा मे उन्होने ऋग्वेद के चत्वारिशृंगात्रयोस्य पादा—इत्यादि मन्त्र को उद्धृत किया हैं और व्याकरण, निरुक्त और निघण्टु का यत्र-तत्र उल्लेख किया है[4] । पुराणो से भी वे परिचित हैं। साख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, लोकायत, बौद्ध अर्हत्, पंचरात्र, मीमासा, वेदान्त आदि दर्शनो का भी उन्होने उल्लेख किया है[5] । रत्नपरीक्षा, धनुर्वेद, कामसूत्र और अर्थशास्त्र का सन्दर्भ भी उनकी रचनाओ मे मिलता है[6] । प्रकृति का उतना सूक्ष्म पर्यवेक्षण हम राजशेखर मे नही पाते, जितना वाल्मीकि या कालिदास मे। पर सामन्तीय परिवेश और अन्तपुर के जीवन को उन्होने गहराई से देखा है । कर्पूरमजरी मे दोलावर्णन[7] या विद्धशालभजिका मे विवाह आदि के वर्णन मे[8] हम राजशेखर की पर्यवेक्षण शक्ति के उदाहरण देख सकते है । वैवाहिक विधि को राजशेखर ने अपनी दोनो नाटिकाओ मे रगमच पर प्रदर्शित कराया है जिसमे उनका सूक्ष्म लोकाचार परिज्ञान प्रकट हुआ है ।

---

* जैसे—राजा के हस कर "संस्कृतेपि प्रगल्भ से" यह कहने पर विदूषक कहता है—"त्वमपि अस्मादृशजनोयोग्ये प्राकृतमार्गे प्रवृत्तोसि" ।। विद्धशालभंजिका ।

१. विद्धशालभंजिका, १।१६
२. वही, १।१६ के पश्चात् का संवाद ।
३. कपूरमंजरी, २।३०-३६
४. काव्यमीमासा, पृष्ठ २१
५. वही, पृष्ठ ३५-४१
६. वही, पृष्ठ ३६-४०
७. विद्धशालभंजिका, पृष्ठ ५३
८. वही, १।२८

काव्यशास्त्रीय चिन्तन

राजशेखर के पूर्व भामह, दण्डी, उद्भट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, रुद्रट जैसे काव्यशास्त्र के महान् आचार्य हो चुके थे। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इनमें से अधिकांश को उद्धृत भी किया है तथा इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे आचार्यों के मत भी उन्होंने दिये हैं, जिनके ग्रन्थ अप्राप्त हैं। पर राजशेखर में काव्यशास्त्र के संम्बध में स्वतन्त्र चिन्तन की शक्ति है और काव्य हेतु या काव्य की सृजन-प्रक्रिया, शब्दार्थ हरण, काव्यपाक आदि विषयों पर उनके अपने विचार काव्यमीमांसा में प्रकट हुए हैं जो मौलिक और महत्वपूर्ण हैं। कवि शिक्षा के सम्बध में अनेक प्रामाणिक निर्देश राजशेखर ने प्रस्तुत किये हैं।

कल्पना

राजशेखर की कल्पना प्रायः अनुकरणात्मक ही है। कुछ स्थानों में उसमें मौलिकता का स्फुरण भी देखने को मिल जाता है। जैसे – विरहिनःश्वासों से मलय मारुत के मांसल होने की कल्पना में[1]। अतिशयोक्ति की प्रवृत्ति राजशेखर में पूर्ववर्ती कवियों की अपेक्षा अधिक है और इस कारण उनकी कल्पनाएं कहीं-कहीं हास्यास्पदता की सीमा तक पहुंच गयी हैं। विद्धशालभंजिका में विरहिणी नायिका की गठिया के रोगी से तुलना[2] या उसके विरहताप को पानी को भी गर्म कर देने वाला बताना[3]—ऐसे ही स्थल हैं। कर्पूरमंजरी में भी सखियाँ विरहिणी नायिका का ताप देखने के लिए उसके वक्ष पर हाथ रखती हैं और हाथ जलने लगता है तो वे तुरन्त उसे हटाती हैं, अथवा नायिका चन्द्रमा की किरणों के ताप से छाया ढूंढती फिरती है।[4] इस प्रकार राजशेखर की कल्पना में सन्तुलन और सामंजस्य का अभाव है।

सौन्दर्यबोध

राजशेखर के सौन्दर्यबोध की परिधि स्वच्छ मंजी हुई मुहावरेदार भाषा या शब्दालंकारों के सुघड विन्यास तक ही प्रायः सीमित है[5]। इसके आगे उनकी सौन्दर्य दृष्टि

---

१. वही, २।२० २ वही, २।२१ ३ कर्पूरमंजरी, २।२६ ४. कर्पूरमंजरी, २।२९

५. उदाहरण के लिए–कथमद्यापि पटिष्ठं भोजिष्ठं च मंजुमार्त्तण्डीयं तेजः
बालरामायण, पृष्ठ १६।
भगवन्, साम्प्रतपदोनं सख्य माम् मुखरयति तत्पृष्टुकामोस्मि—बालरामायण, पृष्ठ २१
किं नाम राक्षोप्येवमुच्यते–?
वाडवीयमपि ज्योतिरर्णवार्णवानार्थमभ्यर्थ्यते–? वही, पृष्ठ ८५
न विना हिमानीमचण्डो मार्त्तण्डः वही, पृष्ठ ११४

प्रायः धूमिल पड जाती है और वह सन्तुलन खो देती है। उनका सौन्दर्य वर्णन प्रायः ऐन्द्रिय आकर्षण की आधार भित्ति पर ही अवस्थित है। राजशेखर की रुचि शारीरिकता के अतिरेक मे बहुत कुछ विकृत हो गयी है। इसीलिये उनमे स्वस्थ सौन्दर्यचेतना के दर्शन नही होते। उनकी नायिकाएं शिशुओ की मुष्टि से ग्राह्यकटि और दोनो भुजाओं को फैलाने पर भी न नापे जा सकने वाले नितम्बो वाली है[1]। स्तनो, नितम्बो और आँखो की हास्यास्पद विशालता और गुरुता का चित्रण अन्य स्थानो पर भी राजशेखर ने किया है[2]।

अलंकरण के राजशेखर प्रेमी हैं। उनका कथन है कि नैसर्गिक सौन्दर्य से विहीन स्त्रियाँ भी प्रसाधन के द्वारा रमणीय लगने लगती है। फिर जो स्वभावतः सुन्दर हैं, वे तो अलकरण के द्वारा और भी अधिक सुन्दर बन जाती हैं[3]।

राजशेखर के सौन्दर्यबोध मे मौलिकता तथा ताजगी का अभाव है। अन्य कवियों के स्वर मे स्वर मिलाकर साधारण कवि की भाति वे इसी प्रकार के सौन्दर्य चित्र अकित कर सकते हैं—

इन्दुर्लिप्त इवाजनेन जडिता दृष्टिभृगीणामिव,
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमद्युतिः।
पारुष्यं कलया च कोकिलवधू कण्ठेष्विव प्रस्तुतं,
सीतायाः पुरतश्च हन्त, शिखिना बर्हाः सगर्हा इव ॥

बालरामायण, १।४२

इस प्रकार की चर्चाओ का राजशेखर ने बार-बार पिष्टपेषण किया है, जो उनमे मौलिक चेतना के अभाव को सूचित करता है।

मूल्यांकन

राजशेखर के व्यक्तित्व मे मौलिक चिन्तन या स्वतंत्र अन्तर्दृष्टि का उन्मेष नही है। वे सामन्तीय जीवन मे इतने रचे-पचे हैं कि उसके बाहर जीवन को व्यापक परिप्रेक्ष्य मे नही देख सकते। उनकी प्रतिभा प्रायः अनुकरणात्मक है और उसमे पाण्डित्य प्रदर्शन और चमत्कृत करने की प्रवृत्ति अधिक है। राजशेखर के व्यक्तित्व मे सामन्तीय विलास का छिछलापन है, पर उनमे कवि हृदय की उद्बुद्ध रागात्मकता तथा संवेदनशीलता

१. कर्पूरमंजरी, १।३० २ वही, पृष्ठ १।३४ ३. वही, १।३१

का अभाव है। वे उस कवि परम्परा के प्रतीक हैं जिसकी काव्यधारा सकीर्ण वातावरण मे अवरुद्ध होकर गन्दली हो गयी थी।

श्रीहर्ष

श्रीहर्ष के पिता हीरे अपने समय के प्रतिष्ठित विद्वान थे। श्रीहर्ष ने उन्हे "कविराज राजिमुकुटालकार हीर" कहा है। श्रीहर्ष की माता का नाम मामल्लदेवी था। काश्मीर से उनका किसी-न किसी प्रकार से संबंध अवश्य था। अपने काव्य नैषधीयचरित के संबंध मे उन्होने कहा है कि यह चौदह विद्याओ को जानने वाले काश्मीर निवासी विद्वानों के द्वारा सम्मानित किया गया है[1]। सम्भव है, मम्मट द्वारा नैषधीयचरित की आलोचना की किवदन्ती उनके इस कथन से ही चल पडी हो।

श्रीहर्ष ने चिन्तामणि मंत्र का अभ्यास किया था[2]। योग साधना भी उन्होने की थी[3]। अपने पाण्डित्यप्रकर्ष तथा काव्यरचना द्वारा उन्होने कान्यकुब्जेश्वर की सभा मे सम्मान प्राप्त किया था[4]।

कवि को चिरकाल तक अपनी माता के श्रीचरणों की सेवा करने का अवसर मिला था और उसके ऊपर स्नेहिल माता के हृदय की छाप पड़ी थी, तभी उसने कहा है कि तस्य द्वादश सर्ग एष मातृचरणाम्भोजालिमौलेर्महा० (१२।११३) इत्यादि। इनके पिता हीर स्वय एक उच्च कोटि के कवि थे।

श्रीहर्ष की पत्नी तथा पुत्रो के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है। हाँ, इतना अवश्य ज्ञात है कि उनके कमलाकर गुप्त नामक एक पौत्र था, जिसने नैषध पर एक टीका लिखी थी[5]।

मान्यताएं तथा आदर्श

काव्य के संबंध मे

श्रीहर्ष काव्य मे रस को सर्वोच्च स्थान देते हैं[1]। वैदर्भी रीति के प्रति उनका पक्षपात था[2]। अपने युग की प्रवृत्तियो से प्रभावित होकर वे काव्य में पाण्डित्य प्रदर्शन,

---

१. नैषध, १६।१३० २. वही, ३।१४५ ३ वही, कवि प्रशस्ति—४।

४. पं० गजानन शास्त्री मुसलगावकर हर्ष के कान्यकुब्जेश्वर जयचन्द की सभा मे होने का खण्डन करते हैं तथा उनका समय ९ वी शती मानते है।
देखिये—प्रज्ञा १९७० मे उनका 'डेट आफ श्रीहर्ष' नामक लेख।

५. हर्ष–ए० एन० जानी, पृष्ठ ९२ १. नैषध, १।२,३ २. वही, ३।११६

अनुप्रास की सायास समुत्पादित छटा, चित्रकाव्य, यमक, श्लेष तथा नाद सौन्दर्य को आवश्यक मानते है[3]। कविता मे श्लेष को वे कवित्व शक्ति का विलास मानते थे[४]। श्रीहर्ष यह भी मानते थे कि कवि अपने काव्य मे एक विशिष्ट शैली अपनाता है, जो उसकी अपनी हुआ करती है। इसी को उन्होने कवि की भंगीकहा है[५]। गुणो मे श्रीहर्ष विशदता अथवा प्रसाद तथा माधुर्य को काव्य मे उच्च स्थान देते हैं[६]।

अपने पहले की समृद्ध काव्यशास्त्रीय चिन्तन परम्परा के प्रभाव के कारण यद्यपि श्रीहर्ष श्रेष्ठ कविता को गुणानाम् आस्थाना, रसस्फीता तथा वैदर्भी रीति से युक्त मानते हैं फिर भी उनकी दृष्टि उस परारम्भ क्रीडाचरणशरणा बनाने पर ही अधिक है[७]। यद्यपि क्रुशेतररसस्वादु काव्य को ही उन्होने वरेण्य माना[८], पर रस—निर्भरता मे उनकी दृष्टि शृंगार क पल्लवन को ही सवप्रमुख मानती थी। इसीलिये अपने काव्य की प्रशंसा मे उन्हान 'शृगारामृतशातगु' यह विशेपण बार—बार प्रयुक्त किया है। श्रीहर्ष यह भी मानते थे कि सर्जना की मनोभूमि मे कवि भावोद्वेलित हो जाता है। उसकी यह मनोदशा असामान्य हुआ करती है तथा वह सर्जना की भूमि मे विश्वजनीन सवेदना से अभिभूत हो जाता है। इसी स्थिति मे काव्य उसके मानस मे जन्मता है जितनी ही गहराई से कवि दूसरे की पाड़ा या आनंद को अपने अन्तस् मे अनुभव करेगा और जितना ही अधिक वह स्वय 'की सीमा से मुक्त होकर' पर के साथ तादात्म्य स्थापित करेगा, उतना हो महान् कविता की सृष्टि उसके द्वारा होगी[९]।

श्रीहर्ष ने वाणी के दो विषतुल्य दोष माने है। एक तो पल्लवन और दूसरा अर्थ-सकोच। यहां पर ऐसा लगता हैं कि जैसे श्रीहर्ष भारवि के अर्थगौरव की ही पुनर्व्याख्या कर रहे हो। उनके मत मे काव्य मे शब्दो की परिमितता तथा अर्थ की गुरुता होनी चाहिए[१०]

---

३. वही, १३।५३, १४।१२

४. श्लिष्यन्ति वाचो यदमूरमुष्याः कवित्वशक्तेः खलु ते विलासाः। वही, १४।१४

५. सा भंगीरस्याः खलु वाचि कापि यद् भारती मूर्त्तिमती मतीयम्। वही, १४।१२

६. वैशद्यहृद्यैर्म्रदिमाभिरामैरामोदि मिस्तानथजातिजाते। वही, १४।६

७. वही, १४।८८ ८. वहो, १५।६३

९. क्रौचदुःखमपि वीक्ष्य शुचा यः श्लोकमेकमसृजत् कविराद्यः।
स त्वदुत्थकरुणः खलु काव्यं श्लोकसिन्धुमुचितं प्रबबन्ध ॥ वही, २१।७३

१०. वही ८।९

इसके अतिरिक्त हर्ष ने उद्भावनागत औचित्य[1] । वचनवक्रता[2]। तथा ध्वनिविजृम्भण[3] की ओर सकेत किया है । पर काव्य को वे पण्डितो की ही वस्तु मानते थे । अपण्डित तथा अविदग्ध को उनके मत मे काव्य पढने का और उसका रसास्वादन करने का अधिकार नही । श्रीहर्ष उन कवियो की परम्परा मे आते हैं जो अपने काव्य को जनसामान्य से अधिक से अधिक दूर रखना चाहते थे । उनकी काव्य स्वच्छन्द प्रवहमाण धारा के समान न रहकर अलकारो से सजी-धजी कामिनी के समान बन गयी थी, जिसके लावण्य का दर्शन कुछ लोग ही कर सकते थे । इसीलिये हर्ष ने कहा है कि मैंने अपने काव्य मे अपण्डित लोग इसे छूने का साहस न कर सके, इसलिये स्थान स्थान पर ग्रन्थियां डाल दी है । कवि अपने काव्य को विद्वदौषध ही बनाना चाहता था ।[4]

नैतिक मान्यताएं और आदर्श

प्रतिज्ञा करके उसे निभाना हर्ष की दृष्टि मे श्रेष्ठ पुरुष का गुण है[5] । उपकार परायणता की उन्होंने स्थान-स्थान पर आशसा की है[6] । शृंगार के प्रति अत्यधिक रुचि होने पर भी हर्ष शृंगार भावना को नैतिकता से मर्यादित देखना चाहते थे[7] । उनका यह आदर्श निम्न पक्तियो मे स्फुरित हुआ है—

आत्मवित्सह तथा दिवानिश भोगभागपि न पापमाप सः ।
आहृता हि विषयकतानता ज्ञानधौतमनस न लिम्पति ॥ नैषध, १८।२

[आत्मज्ञानी उस नल ने दमयन्ती के साथ रात-दिन भोग करते हुए भी पाप को प्राप्त नही किया, क्योकि विषयो मे कृत्रिम एकाग्रता ज्ञान से धोये हुए मन वाले व्यक्ति को दूषित नही करती ।]

कर्त्तव्य मे बाधा देने वाले विषय राग को श्रीहर्ष अनुचित मानते हैं ।[8] परन्तु मन की सहज वृत्तियो से पलायन भी वे उचित नही समझते । वे गृहस्थाश्रम मे रहकर जीवन की सहज प्रवृत्तियो के साथ धर्म का समन्वय देखना चाहते हैं ।[9] गृहस्थाश्रम का

---

१. वही, ६।१० २. वही, ६।५० ३. वही ६।५०
४. वही, कविप्रशस्ति, २। ५. वही, ६।२१ ६. वही, २।१४, ६१,३।८८
७. द्रष्टव्य—वही, ६।१३, १८, २५, ८।५३
८ वही, १६।२२—२४
९. वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु ।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययाहं शर्मोर्मिकर्मोरितधर्मलिप्सुः ॥ —६।९७

उन्होने इसीलिये स्थान-स्थान पर गुणगान किया है।[१] पत्नी को उन्होने 'भवदैवत' (सासारिक सुख की देवी) बताया है। (१८।१२०) कालिदास के 'सर्वोपकारक्षम आश्रम' के वजन पर श्रीहर्ष ने भी कहा है ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा सन्यासी तीनो ही गृहस्थ का आश्रय लेते हैं।[२]

अतिथि सत्कार को श्रीहर्ष बहुत बडा गुण मानते थे। अतिथि सत्कार कैसे करना चाहिये इस संबंध मे वे कहते हैं—

स्वात्मापि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि।
आनन्दवाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुरैर्वचोभिः ॥ नैषध, ८।२१

उदारता, परोपकार और दान-श्रीहर्ष के आदर्श थे। दान न देने वाले का जन्म वे वृथा मानते थे (५।८८)।

आस्था :—

विष्णु मे श्रीहर्ष की सुदृढ आस्था थी। एक ओर वैचारिक क्षेत्र मे वे पक्के वेदान्ती थे, तो भावना के क्षेत्र मे भक्त भी[३]। विष्णु के अवतार कृष्ण,[४] राम[५] तथा परशुराम[६] मे भी उनकी समान रूप से श्रद्धा थी। शिव के भी वे उतने ही भक्त थे जितने विष्णु के[७]। उनके जीवन-दर्शन का निचोड यही प्रतीत होता है —

प्राग्भवैरुदगुदग्भवगुल्फान्मुक्तियुक्ति विहताविह तावत्।
नापर. स्फुरति कस्यचनापि त्वत्समाधिमवधूय समाधिः ॥ २१–१०३

अर्थात् पूर्वजन्मो के कर्मों से भावी जन्मो की परम्परा बनती है। फिर मोक्ष कैसे मिले? इसका एक ही उपाय है — समाधि मे विष्णु का ध्यान।

भगवन्नामकीर्त्तन से मनुष्य बडे-बडे पापो से छुटकारा पा जाता है—यह श्रीहर्ष का विश्वास था[८]। भगवत्कृपा से चारो पुरुषार्थों की प्राप्ति सहज ही सम्भव है[९]। चिन्तामणि मत्र मे श्रीहर्ष की बडी आस्था थी[१०]। श्रौत तथा स्मार्त्त धर्म के वे अनुयायी थे[११]। चार्वाक मत के वे घोर विरोधी थे[१२]। ज्योतिष और सामुद्रिक विद्या,[१३]

---

१. वही, ६।६७, ६८, १७।१२
२. वही, १७।३२
३. द्रष्टव्य – वही, २१।९५, २१।९७–१०३
४. वही, २१।७५–८२
५. वही, २१।६५–७४
६. वही, २१।८३, १४।८५, १०।७३
७. वही, २१।३२–३८
८. वही, २१।९७–१००
९. वही, २१।९६
१०. वही, १४।८६
११. वही, १७।१८५–१९९
१२. वही, १७।८३
१३. वही, १।१८, १।५१, ८।५४, १५।४२

शकुन[1] आदि मे उनका विश्वास था पर कर्म सिद्धान्त मे भी उनकी अटल आस्था थी[2]। भाग्य की शक्ति पर भी उनका विश्वास था।[3] प्राचीन ऋषियो पर उन्हे श्रद्धा थी।[4]

बुद्ध मे भी श्रीहर्ष की श्रद्धा थी[5]। वे वैदिक धर्म के अन्धानुयायी नही थे। यज्ञ में वे हिंसा का समर्थन नही करते थे[6]।

स्वभाव

श्रीहर्ष स्वाभिमानी प्रकृति के व्यक्ति थे और उनके स्वाभिमान मे गर्व का पुट भी अत्यधिक था। ऐसा प्रतीत होता है कि त्यजन्त्यसून् शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेवमयाचितव्रतम् (नैषध, १।५०) यह सिद्धान्त उनके व्यक्तित्व मे अविभाज्य रूप से जुड गया था।

अपने पाण्डित्य तथा कवित्व पर हर्ष को अतिशय गर्व था। अपनी उक्तियो को वे अमृत के समान समझते थे। उनका दावा था,

> दिशि दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वतीं
> तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्ध्वनिडम्बराम्।
> स परमपरः क्षीरोदन्वान् तदीयमुदीर्यते
> कथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम्॥—नैषध, २२।२

स्पष्ट ही अपनी उपलब्धियो पर गर्व के साथ श्रीहर्ष के व्यक्तित्व मे दूसरो के प्रति अवज्ञा का भाव भी वर्तमान था। अपने संबंध मे तभी तो उन्होने कहा तत्काव्य मधुवर्षिधर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः (नैषध कवि प्रशस्ति ४)। अपनी उपलब्धियो का बखान करने मे हर्ष का आत्मिक सन्तोष मिलता था। बार-बार अपने को जितेन्द्रियचय तथा 'यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परब्रह्मप्रमोदार्णवम् आदि के द्वारा प्रशंसित करने में उन्हे कोई संकोच नही होता था। अपने काव्य के लिए उन्होंने "अन्याक्षुण्णरसप्रमेय भणितिः (२०।१६१), शृंगारामृतशीतगु' क्षुशेतरसास्वादाविहार्य (१५।९३), चारु (१५।९८), शरदिजज्योत्स्नाच्छसूक्ति (१५।९८) आदि विशेषणों का प्रयोग किया है।

विनोद की प्रवृत्ति हर्ष के स्वभाव में थी, यद्यपि कही-कही उनका विनोद भोंडेपन की सीमा तक पहुँचा हुआ है। पर अनेक स्थानो पर हम उन्हे मीठी चुटकियां लेते हुए भी

---

१. वही २।६५ २ वही २२।११, ७७, १०३ ३ १।१५,१, ६।१०२,१०३, १३।५०, १४।६४, २।२६७ ४. वही १७।१६ ५ वही २२।२४
६. वही २।१६

देखते हैं। जैसे – कुण्डिनपुरी के बाजार मे कस्तूरी के साथ सुगन्ध के लोभ से न उडने वाले तथा गुंजन करते हुए भ्रमर को कस्तूरी के साथ ही दुकानदार के तौल देने पर भी खरीददार लोगो के कोलाहल के कारण नही जान पाता था [1]। हंस का पीछा करती हुई दमयन्ती का चित्र भी कवि की मधुर हास्य की प्रवृत्ति का उदाहरण है। दमयन्ती का हाथ जब-जब हंस को पकड़ने के लिए उसके निकट होता था, तभी वह हंस उडकर दूर हट जाता था और इस प्रकार दमयन्ती का उसका पकड़ने का प्रयास असफल होने पर उसकी सखियां हस रही थी [२] पर अनेक स्थानो पर हर्ष अपनी इस प्रवृत्ति को शील और शिष्टता से मर्यादित नही रख पाते। जैसे – नल के गुण वर्णन के समय पार्वती पातिव्रत्य के भंग के भय से कान खुजलाने के बहाने कान बन्द कर लेती थी [3]। इस प्रवृत्ति के अतिरेक मे आकर ब्रह्मा को जड कहना, [४] उन्हे दमयन्ती का स्वयवर देखने के लिए उत्सुक दिखलाना और यह कहना कि – लैगांमद्रष्ट्वापि शिर : श्रियं यो दृष्टो मृषावादितकेतकोक:" (१०।५१) अथवा दही के लिये जिह्वालालुप होकर ब्रह्मा को उसे चाटते हुए प्रदर्शित करना [५] अनुचित लगता है। इन्द्र का नल के समक्ष अपने को उल्लू समझना [६] या नल के विवाह के अवसर पर बरातियो के भद्दे अश्लील परिहास [७] श्रीहर्ष की विकृत हास्य रुचि के परिचायक हैं।

श्रीहर्ष स्नेहमयी प्रकृत्ति के थे। अपने संबधियो से माता-पिता आदि से – उन्हे हार्दिक प्रेम था [८] राष्ट्रीयता की भावना भी उनके भीतर थी तथा उन्हे सम्पूर्ण भारत से प्रेम था [९]।

रुचि

काव्य और संगीत से श्रीहर्ष को प्रेम था। [१०] पर उनकी रुचि शृंगार मे पगी हुई थी। शृंगारित रुचि श्रीहर्ष मे सीमा को लाघ गयी है। उनके लिये ससार की सभी स्त्रियां कामुकी बनकर नल का ध्यान कर रही थी [11]।

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम्।
तदात्मध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोमनोद्भवम्॥ १।३०

---

१. वही, २।९२ २ वही, ३।६,७ तथा १६।१०६, ११० और १७।६८ भी द्रष्टव्य।
३. वही, ३,२९ ४. वही, ३।३० ५. वही, १६।९३ ६. वही, ५।६४
७. वही, १६।४८,४९ ८. वही, १३।५२ ९. वही ६।९७-९८, ६।९७-१००
१० वही, ७।८ ११. वही, ६।५१,७८, ६९, ७७,८१,८३,८५,८७ ९०-२०।९२-९५ आदि द्रष्टव्य।

नग्न शृंगार प्रस्तुत करने मे श्रीहर्ष को कोई हिचक नही है । उनके काव्य मे एक दो नही, अपितु पचासो ऐसे स्थल हैं, जिनमे वे घोर अश्लीलता की सीमा तक पहुच गये हैं[१] । शृंगार के साथ-साथ वीरता की भावना और युद्ध मे भी श्रीहर्ष की रुचि थी[२] ।

पाण्डित्य

श्रीहर्ष का कवित्व उद्भट पाण्डित्य का घटाटोप लेकर आता है । उनमे मुख्यतः दार्शनिक का पाण्डित्य है, माघ की भाँति सर्वत्र स्वतत्र पाण्डित्य नही पर दार्शनिक ज्ञान मे श्रीहर्ष माघ से बहुत बढ-चढकर हैं । चार्वाक, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक और सांख्ययोग तथा मीमासा और अद्वैत वेदान्त का प्रकाण्ड पाण्डित्य नैषध से व्यक्त होता है । वेदान्त के तो वे अद्वितीय पडित हैं, पुराणो का गहरा अनुशीलन उन्होने किया था । ११वे सर्ग मे स्वयवर के प्रसंग मे जिस क्रम से सब द्वीपो तथा राजाओ का वर्णन उन्होने किया है, उसमे विष्णु पुराण के द्वितीय अश के तृतीय अध्याय की स्पष्ट छाया है । कामशास्त्र का बडा ही सूक्ष्म ज्ञान उन्हे था और इस क्षेत्र मे वे अपने सभी पूर्ववर्ती कवियो को पीछे छोड़ देते है । १।७८-१०१ मे उद्यान के वर्णन मे उनका असख्य वृक्षो, लताओ तथा पुष्पो के संबध मे गहरा ज्ञान प्रति बिम्बित है ।

पर्यवेक्षण

श्रीहर्ष मे पर्यवेक्षण की प्रबल शक्ति थी । नैषध के प्रथम सर्ग मे हस की चेष्टाओ का सूक्ष्म और विशद चित्रण इस बात का प्रमाण है कि उन्होने पशु-पक्षियो की प्रवृत्तियो का गहराइ से अध्ययन किया था[३]। ग्रामजीवन से श्रीहर्ष का परिचय था । 'पलालजालैः पिहितः स्वय हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः' (८।२) —इस प्रकार के दृश्यो के वर्णन गाव मे रहकर लिखे हुए से लगते हैं । उनका कुण्डिनपुरी का वर्णन कल्पना के ताने-बाने मे बुना हुआ है, पर कुछ स्थलो पर उनकी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति ने उनके युग की यथार्थ स्थितियो को उघाड दिया है । जैसे-'प्रत्येक बाजार के मार्गों मे चक्कियो से निकला हुआ सत्तुओ के सुगन्ध वाला घर्घर शब्द घर जाते पथिको को आकर्षित करता था[४]। दमयन्ती के मूर्च्छित होने पर उसकी सखियों की हडबडाहट का सूक्ष्म चित्रण[५] भी नैषधकार के

---

१. द्रष्टव्य —१८।१५-१७, १८।३७-४०, ५५, ६४-१४७
२. नैषध, ५।१४, ३५, ४२
३. द्रष्टव्य —वही, २।६८, १०८ ।
४. वही, २।८५ ५. वही, ४।११३-११४

मानवीय व्यवहार के गहन अध्ययन का परिचायक है। अपने नायक और नायिका की भावनाओं के चित्रण मे भी कवि ने मानव-मनोविज्ञान के ज्ञान का परिचय दिया है। विशेषतः देवताओ के द्वारा दूत बनाकर भेजे गये नल का अन्तर्द्वन्द्व उन्होने बडी सफलता के साथ चित्रित किया है। लज्जित दमयन्ती की मनोदशा तथा उसकी चेष्टाओ का चित्रण भी[1] यथार्थ और प्रभविष्णु है।

भावबोध

"श्रीहर्ष मे मानवीय सवेदना तथा भावबोध का अभाव नही हैं, परन्तु उनकी सवेदना पाण्डित्य के ठाठ-बाठ मे दबकर रह गयी है। चतुर्थ सर्ग मे दमयन्ती का विरह वर्णन इसका उदाहरण है, जहा कवि ने भावोद्बोध का यत्न किया है, पर दूरारूढ कल्पनाओ के जाल मे वह न जाने कही फंसकर रह गयी है, बहुत कम स्थलो पर श्रीहर्ष पाण्डित्य प्रदर्शन से बचकर मनोभावो से सीधा साक्षात्कार और तादात्म्य स्थापित कर सके है। प्रथम सर्ग मे हस का विलाप ऐसा ही प्रसंग है। यही पर आकर हमे लगता है कि हर्ष के हृदय मे कितनी भावप्रवणता तथा गहन सवेदना थी पर मानसिक व्यायाम और पाण्डित्य द्वारा चमत्कार प्रदर्शन की प्रवृत्तियो के दमघोटूं वातावरण मे वह कही दबकर रह गयी।

प्रतिभा

श्रीहर्ष की कल्पना का क्षेत्र त्रिकालव्यापी और विश्वात्मक है। इस सारी कल्पना के पीछे सूक्ष्मदर्शिनी बुद्धि और मृदुभावना की मसृणता पदे-पदे अभिव्यक्त है। कही-कही महत्तम वैभव का आभास कराने वाली सघटनाओ का संयोजन कल्पना द्वार से किया गया है। वास्तव मे नैषधीयचरित्त मे पाठक को कल्पना के गागेय प्रवाह मे बहना ही पडता है, जिसमे हिमालय, हरिद्वार काशी और सागरसगम का दर्शन होता है। इसमें कोई सन्देह नही कि जीवन की किसी विचारधारा को अपनाया हुआ विद्वान श्रीहर्ष की गांगेय धारा मे अवगाहन करके अपने व्यक्तित्व मे एक अनिर्वचनीय आनन्द का संस्पर्श अनुभव करता है।

"श्रीहर्ष का काव्य जगत असीम है। उनके शब्द और भावो का भण्डार कल्पना और अनुमान की परिधि से भी परे है। कवि के अलंकार विन्यासो से प्रतीत होता है कि उन्होने वास्तविक और कल्पित जगत् का पर्यवेक्षण योगिक नेत्रो से किया था।

"जगत मे जो कुछ पेशल और मार्दव गुणो से सम्पन्न है, उसके असाधारण और मनोरम पक्षो का निदर्शन कराने के लिये कवि मानो शब्दो का इन्द्रजाल रचता है। यही

---

१. वही, १४।३०, १८।२९, ३०, २०।९६, ६।१३

उसकी विशिष्ट कला है। जिस प्रकार नदी की धारा मे बहने वाला प्राणी अपनी गति खो देता है, उसी प्रकार श्रीहर्ष की काव्यनिर्झरिणी के प्रखर प्रवाह मे सहृदय पाठक अपना तत्वालोचन लुप्त हो जाता है। उसे श्रीहर्ष की आँखो से ही देखना है[1]।"

डा० रामजी उपाध्याय द्वारा श्रीहर्ष की प्रतिभा का उपरोक्त मूल्यांकन आंशिक रूप से सत्य है और यह भी सत्य है कि श्रीहर्ष की कल्पना मे सूझ-बूझ तथा मौलिकता पर्याप्त है, पर सन्तुलन तथा रागात्मक संवेदना के अभाव मे उनकी कल्पना केवल शुष्क चमत्कारवादी हो बनकर रह गयी है। दिमागी घोडे दौड़ाने मे नैषधकार अपनी सानी नही रखते पर उपयुक्त भाव-बोध की कमी मे उनकी उठक बैठक मात्र मानसिक व्यायाम बनकर रह गयी है और कही–कही बहुत अरुचिकर भी। प्रायः वर्ण्य के सौन्दर्य के स्थान पर हर्ष अपनी सूझ-बूझ से ही पाठको को चमत्कृत करना चाहते है। जैसे "ब्रह्मा ने बहुत सारा लावण्य लेकर दमयन्ती का मुख बनाया। लावण्य जिस पात्र मे रखा था, उसे पोछने पर जो मिला था, उससे चन्द्रमा बना दिया। फिर पानी से हाथ धोया। जो लावण्य पानी में बह गया, उससे कमल उत्पन्न हुए[2]।" इसी प्रकार सन्ध्या के वर्णन मे कवि की दृष्टि मे काल ने सूर्य रूपी दाडिम फल को खाकर तारो के रूप मे बीजो को फेंक दिया है[3] या सूर्य कवि को परिव्राजक के रूप मे दिखाई पडता है, जिसने सन्धया के समय बादल रूपी कषाय को धारण कर लिया है[4]। इस प्रकार की कल्पनाओ के अम्बार श्रीहर्ष ने नैषध मे लगा दिये हैं[5]। कही-कही उनकी ये कल्पनाए हास्यास्पता की स्थिति तक भी पहुँच गयी है। जैसे कामाग्नि से सन्तप्त दमयन्ती ने बहुत से ताजे कमलों को अनेको बार तापशान्ति के लिये हृदय आदि पर रखने के लिये आधे मार्ग मे आते ही अत्युष्ण निःश्वास वायु से फेंक दिया[6]। कही-कही पाण्डित्य प्रदर्शन ने उनकी कल्पना की रागात्मकता और संवेद्यशक्ति को मटियामेट कर दिया है। प्रातःकाल कौवा "कौ–कौ" तथा कोयल "तुहि–तुहि" करती है, श्रीहर्ष की इसपर उत्प्रेक्षा है कि "इस प्रातःकाल मे "कौ-कौ" करता हुआ कौवा पाणिनीयमहाभाष्य में तातङ् के स्थानीय कौन–कौन हैं ऐसा प्रश्न करता हैं ? और कोयल ",तुहि–तुहि" करता हुआ उसका उत्तर देता है कि पाणिनीयमहाभाष्य मे तातङ् के स्थानीय तु-हि, तु–हि

---

१. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ३४९–५१

२. नैषध, २२।१४२ ३. वही, २२।१२ ४. वही, २२।१२

५. द्रष्टव्य —१।११, १२२, १२५, २।३१ ६।४९, ८।५६, २।२१, ४८, २।९५, ३।२३, ४।११, २३।६, १२, १३, १४, ३६

६. वही, ४।२६

है[1] । इसी प्रकार प्रातःकाल घु घु करता हुआ कबूतरमानो पाणिनी के "घु" संज्ञा करने वाले सूत्र दाधाघ्वदाप् का स्मरण कराने का प्रयास करता है[2] । फिर भी अनेक स्थानो पर हर्ष की कल्पना मौलिक होने के साथ-साथ बडी ही सटोक और उपयुक्त है[3] ।

सौन्दर्यबोध

श्रीहर्ष की सौन्दर्य भावना के साथ ऐन्द्रिकता तथा पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति अनिवार्यतः जुडी हुई है । सौन्दर्य वर्णनो मे उनकी प्रतिभा कल्पना की कलाबाजियां दिखाकर प्रभावित करने की चेष्टा मे ही अधिक संलग्न रहती हैं । अपने इस व्यामोह को तोडकर उन्मुक्त मन से साधा साक्षात्कार श्रीहर्ष नही कर पाते । प्रकृति के विशुद्ध चित्र नैषध मे प्रायः दुर्लभ है । उन्नीसवें सर्ग का प्रातःकाल का वर्णन घोर शृंगार में डूबा हुआ है और माघ के प्रातःकाल के वर्णन के समकक्ष एकदम गया बीता लगता है । नल के रूप का वर्णन (१।२०—२७), उद्यान वर्णन (१।७८—१०१), तथा दमयन्ती के वर्णन (२।१०—३८)आदि स्थलो मे यह बात देखी जा सकती है । ७।१०—१०६ मे दमयन्ती के सौन्दर्य का विस्तृत वर्णन सुन्दर होते हुए भी पुनरुक्ति तथा कवि की ऐन्द्रिय प्रवृत्ति से अत्यधिक बोझिल है । श्रीहर्ष मे स्वस्थ सौन्दर्य चेतना पर्याप्त थी, पर वह उनको पाण्डित्यप्रदर्शन तथा अत्यधिक शृंगार की वृत्तियो से विकृत कर दी गयी । दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन मे यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है, जहा वे कहते हैं, —"अमृतरूपी जल वाले मेघसमूह से सीचने के कारण दुबारा जोते गये, चीनी रूपी मिट्टी वाले खेत मे खोये के खाद से उत्तम गन्ना अंकुरित हो तथा बाद मे दाख के रसों से बार-बार सीचने पर फल धारण करें, तो तुम्हारे वचनो से समानता करने के लिये उससे तमप् प्रत्यय हो । प्रकाशमान् गुडपाक के तन्तुलता रूपी रस्सी से दान के प्रकरण मे सुने गये शर्करारूप मथनी को घुमाता हुआ अमृतरूपी कामदेव स्वयं गन्ने के रस से समुद्र से नवीन अमृत को निकाले तो वह नया अमृत हमारे कर्णद्वय को पारणारूप तुम्हारी वाणी के साथ स्पर्धा कर सकता है[4] ।"

उपसंहार

श्रीहर्ष ह्रासयुग के उन कवियो मे से हैं' जिनके भीतर थोड़ी बहुत प्रतिभा थी भी तो उसका दुरुपयाग ही किया गया । इसके कारण थे" समसामयिक विकृत साहित्यिक

---

१. वही; २१।६०   २. वही, २१।६१

३. द्रष्टव्य ६।३८, १०।११५, २२।१५
१।७७, १।१२६, १४।५०, १६।३

४. द्रष्टव्य—नैषध ३।३, २२।११८, १८।१

अभिरुचि, साहित्य का जन–सामान्य से अलग हटना और कवियो से पाण्डित्यप्रदर्शन की अपेक्षा। संस्कृत कविता केवल कुछ विदग्ध पण्डितो की गोष्ठियो मे ही सिमट कर रह गयी थी, और जन-काव्य की रचना अपभ्रंश तथा देशीय भाषाओ मे होने लगी थी, संस्कृत कविता जनता से दूर हटती जा रही थी और ऐसी स्थिति मे उसमे उन ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियो का जन्म लेना स्वाभाविक था, जो हर्ष मे हम पाते हैं।

यद्यपि श्रीहर्ष उच्च जीवनमूल्यो की अनेकत्र चर्चा करते हैं, पर उन्होने उन मूल्यों को कालिदास की भाति जिया नही है, और उनकी वर चर्चा सैद्धान्तिक मात्र ही बनकर रह गयी है। जीवन मे प्रवृत्ति और निवृत्ति के समंजन की बात उन्होने यत्र-तत्र कही है, पर उनके कथन शुष्क ज्ञानचर्चा जैसे ही लगते है, कालिदास के जैसा जीवन्त दर्शन वहाँ नही मिलता[1]।

---

१. द्रष्टव्य—नैषध ३।३, २२।११८, १८।२

सातवां अध्याय

काश्मीर के कवि-क्षेमेन्द्र, बिल्हण और कल्हण

प्रकृति के रमणीय अंचल मे बसा हुआ काश्मीर प्रदेश इस देश की सास्कृतिक परम्पराओ के विकास मे महत्त्वपूर्ण योग देता आया है। ज्ञान-विज्ञान का सवर्धन और सुरक्षा यहां विशेष रूप से हुई। ललितादित्य, अवन्तिवर्मन्, हर्ष आदि राजाओ ने काश्मीर मे कला और साहित्य को प्रश्रय देकर उनकी अभिवृद्धि की। काव्यशास्त्र और शैवदर्शन को काश्मीर का योगदान सर्वश्रेष्ठ और अद्वितीय रहा है—यह निर्विवाद है। वामन, उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, मम्मट, और रुय्यक जैसे सस्कृत के सर्वश्रेष्ठ काव्यशास्त्रियो को काश्मीर ने जन्म दिया। दण्डी और पंडितराज जगन्नाथ जैसे कुछ विद्वानो को छोडकर काश्मीर मे ही संस्कृत के सारे के सारे महान् काव्यचिन्तको की परम्परा सन्निविष्ट है। दर्शन के क्षेत्र मे शैव यत्रिक दर्शन के रूप मे काश्मीर के पण्डितो को वैचारिक प्रतिभा गम्भीरता और मौलिक दृष्टि का अपूर्व परिपाक हुआ। शैव दर्शन निश्चित रूप मे भारतीय दर्शनो मे सर्वाधिक गम्भीर और समन्वित दर्शन है।

शैव दर्शन का प्रारम्भ आठवी शती मे वसुगुप्त का 'स्पन्दकारिका' से माना जा सकता है। वसुगुप्त के पश्चात् नवी शती मे कल्लट भट्ट ने 'स्पन्दवृत्ति नामक ग्रन्थ लिखा इसके पश्चात् काश्मीर शैवदर्शन के महान् आचार्य सोमानन्द हुए जिन्होने अपनी 'शिवदृष्टि' मे शैवदर्शन को गम्भीर और परिणत रूप मे व्याख्यायित किया। दसवी शती मे 'प्रत्यभिज्ञा–हृदय' और 'स्तोत्रावली' आदि के रचयिता उपलदेव हुए, जिनके ग्रन्थ शैवदर्शन पर अत्यन्त प्रामाणिक माने गये है। शैवदर्शन के सर्वाधिक पूर्णदर्शी, परिणत प्रज्ञ, प्रतिभासम्पन्न और प्रगल्भ चिन्तक अभिनवगुप्त दसवी शती मे हुए। काव्यशास्त्र के समान दर्शन के क्षेत्र मे अभिनवगुप्त की प्रतिभा का लोहा सभी पण्डितो ने माना। अभिनव ने शैवदर्शन को सर्वोच्च विकाश प्रदान किया। अभिनव के पश्चात् भी क्षेमेन्द्र, क्षेमराज और योगराज आदि पण्डितो द्वारा शैवदर्शन पर ग्रन्थ-रचना होती रही। इसप्रकार भारतीय दर्शन की इस महत्वपूर्ण शाखा के विकास का एकान्तिक श्रेय काश्मीर को ही है।

व्याकरण मे दूसरी शताब्दी मे चन्द्र, कृष्णस्वामी, जयापीड (८ वी शती) तथा कय्यट (१० वी शती, लघुवृत्ति के रचयिता) आदि काश्मीर के विद्वान् सुप्रसिद्ध हैं। ज्योतिष के क्षेत्र मे काश्मीर के भास्कराचार्य, आर्यभट्ट और रत्नकण्ठ की रचनाए आज भी प्रमाण मानी जाती है। काम-विज्ञान के प्रसिद्ध आचार्य कोक यहा हुए। शब्दकोषो मे क्षीरस्वामी का 'शब्द संग्रह' ८०० ई० मे यहाँ लिखा गया। ज्ञान और विज्ञान की विभिन्न शाखाओ का चूडान्त व सागोपाँग अध्ययन तथा मौलिक चिन्तन काश्मीर के पाण्डित्य की विशेषता रही है।

सस्कृत-कविता को भी काश्मीर का योगदान उल्लेखनीय रहा है। यहाँ भीमभट्ट ने ७०० ई० मे 'रावणार्जुनीय', दामोदर गुप्त ने ७६० ई० मे "कुट्टनीमत" रत्नाकर ने ८५० ई० मे 'हरिविजय' तथा शिवस्वामी ने ८५० ई० मे 'कफ्फिणाभ्युदय' की रचना की। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची प्राकृत मे सम्भवतः यहीं लिखी गयी थी, जिसके रूपान्तर आगे चलकर क्षेमेन्द्र और सोमदेव ने प्रस्तुत किये। काश्मीर के कवियो मे क्षेमेन्द्र बिल्हण और कल्हण अपने प्रतिभोन्मेष के कारण सस्कृत कवियो मे अग्रगण्य हैं। इनके अतिरिक्त श्रीकण्ठचरित (११६० ई०) के रचयिता मंख और हरचरित चिन्तामणि रचयिता जयद्रथ काश्मीर मे हुए।

धार्मिक सहिष्णुता की भावना काश्मीर की विशेषता रही है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो से ही यहा पर बौद्ध धर्म हिन्दूधर्म के साथ-साथ प्रचलित रहा। अन्य प्रान्तो मे पाया जाने वाला ब्राह्मण-श्रमण-द्वेष कश्मीर मे नही पनप सका। कल्हण ने राजतरंगिणी मे ऐसे अनेक राजाओ का उल्लेख किया है, जिन्होने विष्णु, शिव आदि की मूर्तियो के साथ-साथ बुद्ध की मूर्तिया तथा विहार आदि भी बनवाये। यही नही, कश्मीर का बौद्धधर्म भी अपेक्षाकृत उदारतावादी रहा। कल्हण के काफी पहले से ही बौद्ध धर्म मे यहा भिक्षुओ के विवाह का विधान प्रचलित हो गया था। बुद्ध की हिन्दू देवताओं मे गिनती करने मे कश्मीर अग्रणी रहा। नीलमत पुराण मे बुद्ध की मूर्ति पूजा और बुद्ध के जन्म दिवस को उत्सव के रूप मे मनाने का विधान हैं। शिवस्वामी ने 'कफ्फिणाभ्युदय' मे बुद्ध का चरित लिखा और क्षेमेन्द्र ने 'दशावतारचरित' मे विष्णु के दसवें अवतार के रूप मे बुद्ध की महिमा का गान किया और 'बोधिसत्वावदानकल्पलता' जैसे विशाल बौद्ध काव्य का भी प्रणयन किया।

कश्मीर मे पाण्डित्य और काव्य के विकास व प्रचार मे गोष्ठियो और सभाओ का पर्याप्त योगदान रहा है। इस प्रकार की एक साहित्यिक गोष्ठी का विवरण मंख ने अपने श्रीकण्ठचरित के २५ वें सर्ग मे दिया है जिसमे कश्मीर के अनेक कवि एकत्र हुए थे।

कश्मीर की उपर्युक्त सांस्कृतिक विशिष्टताओ का यहां के कवियो पर प्रभाव पडा कश्मीर के कवि बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णु और बुद्ध के प्रति अधिक आस्थावान् हैं,' शैव दर्शन तथा शैव सम्प्रदाय का प्रभाव भी उनपर है तथा अध्ययन की गहनता और व्यापकता भी हम उनमे पाते है।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र के वृद्ध प्रपितामह नरेन्द्र थे, जो काश्मीर के राजा जयापीड के यहां कर्मचारी थे। क्षेमेन्द्र के अनुसार उनके पितामह सिन्धु तथा प्रपितामह योगेन्द्र और पिता प्रकाशेन्द्र थे। अपने पिता के विषय मे क्षेमेन्द्र ने लिखा है—वे गुणो के आगार, अर्थियो के लिये कल्पवृक्ष, सुमेरु पर्वत के समान सम्पत्तियो के निधान, असख्य ब्राह्मणो का भोजन कराने वाले, मन्दिरो का निर्माण करने वाले तथा शंकर के परम भक्त थे। काश्मीर मे वे इतने प्रसिद्ध थे कि इन्हे उस भू—भाग का प्रकाश कहा जाता था। इन्होंने ब्रह्माजी का मन्दिर बनाकर उशमे देवताओ की प्रतिष्ठा की थी। बोधिसत्वावदानकल्पलता के अनुसार उन्होंने एक समृद्ध विहार का भी निर्माणकराया था। शंकर पर उन्हे इतनी श्रद्धा थी कि उनका देहावसान शंकर के मन्दिर मे अपने इष्टदेव की मूर्ति को आलिंगन किये हुए ही हुआ था। अपने पिता के प्रभाव से क्षेमेन्द्र ने विद्वानो और कवियो के बीच ख्याति पाई थी। संस्कृत काव्यशास्त्र के तथा दर्शन के अप्रतिम विद्वान अभिनवगुप्त उनके गुरु थे[1]।

---

१. काश्मीर को गुणाधारः प्रकाशेन्द्राभिधोभवत्। नानार्थिजन-संकल्पपूरणे कल्पपादपः ॥
यस्य मेरोरिवोदारकल्याणापूर्णसम्पदः। अगणेयमभूद् गेहे यस्य भोज्यं द्विजन्मनाम् ॥
सूर्यग्रहे त्रिभिर्लक्षैर्दत्वा कृष्णाजिनत्रयम्। अल्पप्रदोऽस्मीत्यभवत् सलज्जानतकन्धरः ॥
स्वयम्भूतिलके श्रीमान् यः प्रतिष्ठाप्य देवताः। दत्वा कोटिचतुर्भागं देवद्विजमठादिषु ॥
पूजयित्वा स्वयं शम्भुं प्रसरद्बाष्पनिर्भरः। गाढं दोर्भ्यां समालिंग्य यस्तत्रैव व्यपद्यत ॥
क्षेमेन्द्रनामा तनयस्तस्य विद्वत्सु विश्रुतः। प्रयातः कविगोष्ठिषु नामग्रहणयोग्यताम् ॥
श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः। आचार्यशेखरमणेर्विद्याविवृतिकारिणः ॥
श्रीमद्भागवताचार्यसोमपादाब्जरेणुभिः। धन्यता स परं यातः नारायणपरायणः ॥
बृहत्कथामंजरी, उपसंहारलम्बक, ३१–४१

काश्मीरको गुणाधारः प्रकाशेन्द्राभिधोभवत्। नानार्थिसार्थसंकल्पपूरणेकल्पपादपः ॥
सम्पूर्णदानसन्तुष्टाः प्राहुस्तं ब्राह्मणाः सदा। इन्द्र एवासि किन्त्वेकः प्रकाशस्ते गुणोधिकः ॥
भारतमंजरी, उपसंहार, १–२

कविकण्ठाभरण तथा औचित्यविचारचर्चा में कवि ने अपना समय श्री मदनन्त-राजनृपति का शासन काल बताया है[1]। कल्हण के अनुसार अनन्त का शासन काल १०२८ ई० से १०६३ ई० तक है। बृहत्कथामजरी मे अपने गुरु अभिनवगुप्त के लिए "विद्याविवृतिकारिणः" यह विशेषण अभिनवगुप्त ने दिया है। विद्याविवृति प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पर लिखी हुई टीका है, जो अभिनवगुप्त ने १०१४ ई० मे पूर्ण की थी। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमदेव ने अपने पिता की "अवदानकल्पलता" का रचनाकाल १०५२ ई० बताया है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र ११वी शती के मध्य मे वर्तमान थे। इनके ग्रन्थों में प्राप्त उल्लेखों से विदित होता है कि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामजरी १०३७ ई० मे, समयमातृका १०५० ई० तथा दशावतारचरित १०६६ ई० मे लिखा था। दशावतारचरित क्षेमेन्द्र की अन्तिम रचना है। इस प्रकार क्षेमेन्द्र का मृत्युकाल १०७० ई० के लगभग अनुमानित होता है। यदि अभिनवगुप्त से विद्या ग्रहण करते समय (लगभग १०१४ ई०) कवि की आयु २५-वर्ष मान ली जाय तो यह मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती कि क्षेमेन्द्र दसवी शती के अन्तिम दशक मे उत्पन्न हुए होगे[2]।

उपरिलिखत तथ्यो और उल्लेखो से क्षेमेन्द्र का जीवनकाल ९७० ई० से १०७०ई० तक तथा रचनाकाल १०१५ ई० से १०६६ ई० तक स्थिर होता है।

क्षेमेन्द्र ने अपने को "सर्वमनीषीशिष्य" कहा है। यह सम्भव है कि विद्या या विभिन्न कलाओ की शिक्षा के लिये क्षेमेन्द्र अपनी व्यापक रुचि और अध्यवसाय के कारण अपने

काश्मीरेष्वभवत् सिन्धुजन्मा चन्द्र इवापरः।
प्रकाशेन्द्रः स्थिरा यस्य पृथिव्या कीर्तिकौमुदी ॥
सदा दयार्द्रहस्तेन महता भद्रमूर्त्तिना।
साधु कुंजरिता येन प्राप्ता कीर्त्तिपताकिना ॥
विद्वज्जनसपर्याप्तपर्याप्तस्वजनोत्सवः।
कथा सारसुधासारं क्षेमेन्द्रस्तत्सुतो व्यधात् ॥ –रामायणमंजरी, उपसहार, १ ३
आसीत् प्रकाशेन्द्र इति प्रकाशः काश्मीरदेशे त्रिदशेश्वरश्रीः।
अभूद् गृहे यस्य पवित्रसत्रमाच्छिन्नमग्रासनमग्रजानाम्।
यः श्रीस्वयम्भूभवने विचित्रे लेप्यप्रतिष्ठापितमानचक्रः।
गोभूमि कृष्णाजिनवेश्मदाता तत्रैव काले तनुमुत्ससर्ज ॥

औचित्यविचारचर्चा, १।१।२

१. समयमातृका के अत मे अन्त नृपति की प्रशस्ति है। समय०उपसंहारश्लोकाः३,४
२. Ksemendra Studies: Dr. Suryaknta, p. 7

समय के प्रसिद्ध विद्वानो और कलाविदो के पास गये हो, पर क्षेमेन्द्र ने अपने तीन गुरुओं-अभिनवगुप्त, गंगक तथा सोमपाद का ही आदरपूर्वक उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट है कि उनके गुरुओ मे से ये तीनो ही प्रमुख थे।

इनके पिता उदार हृदय तथा सम्पन्न थे। उनके वात्सल्य की छाया मे सुखपूर्वक क्षेमेन्द्र ने शैशव तथा कौमार्य बिताया होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि क्षेमेन्द्र का सम्पूर्ण जीवन सन्तुलित रूप मे सन्तोष के साथ बीता था। जीवनपर्यन्त विद्याभ्यासग, पर्यटन, सत्संग और ग्रन्थ रचना मे ही क्षेमेन्द्र लगे रहे होगे। उनके ग्रन्थो की विशाल सख्या उनकी कर्मठताका परिचय देती है। क्षेमेन्द्र की अब तक छाटी बडी ३३ पुस्तको का पता लग चुका है।[1]

क्षेमेन्द्र के सोमेन्द्र और चक्रपाल नामक दो पुत्र हुए थे। सोमेन्द्र ने अपने पिता की बोधिसत्वावदानकल्पलता मे अन्तिम १०८ वा अवदान जोड़ा था[2]।

क्षेमेन्द्र के परिचितो और मित्रो की परिधि व्यापक थी। उनके कुछ ग्रन्थो की रचना उनके प्रशंसको और मित्रो के आग्रह पर ही हुई थी। सोमेन्द्र ने बोधिसत्वावदानकल्पलता मे अपनी ओर से जोडे हुए अन्तिम अध्याय मे कहा है कि सज्जनानन्द ने बुद्ध के अवदानो का वर्णन करने के लिए क्षेमेन्द्र से प्रार्थना की थी तथा क्षेमेन्द्र के मित्र नवक ने भी इसी बात के लिये उनसे आग्रह किया। इसपर क्षेनेन्द्र ने यह विशाल कार्य हाथ मे ले लिया, पर केवल तीन अवदान लिखकर उन्होने इसे छोड दिया क्योकि उन्हे लगा कि यह कार्य उनके बूते के बाहर है तब बुद्ध ने स्वय प्रकट होकर क्षेमेन्द्र से अवदान कल्पलता को पूर्ण करने का आग्रह किया[3]। तब बौद्ध ग्रन्थो के अधिकारी विद्वान वीरभद्र ने भी क्षेमेन्द्र की इस काव्य रचना मे सहायता की। यह ग्रन्थ क्षेमेन्द्र ने सूर्यश्री नामक लेखक को ही बोल-बोलकर लिखाया था[4]।

औचित्यविचारचर्चा की रचना क्षेमेद्र ने भट्ट उदयसिंह के लिये की थी। ऐसा उन्होने स्वयं उल्लेख किया है। भट्ट उदयसिंह रत्नासिंह का पुत्र था। कल्हण ने अनन्त के पुत्र राजा कलश के एक अधिकारी उदयसिंह का उल्लेख किया है। सभव है, क्षेमेन्द्र और कल्हण द्वारा उल्लिखित उदयसिंह एक ही हो।

---

१. आचार्य क्षेमेन्द्र, पृष्ठ ८-९

२ बोधिशत्वावदानकल्पलता, भूमिका, पी० वी० काणे, पृष्ठ

३. वही, सोमेन्द्र विरचित भूमिका श्लोक, ६-१०   ४. वही,

बृहत्कथामंजरी मे क्षेमेन्द्र ने देवधर का आदरपूर्वक उल्लेख किया है, जिसकी आज्ञा से उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। देवधर द्विजराज कहलाते थे। वे अपने समय के विश्रुत विद्वान रहे होगे, तभी क्षेमेन्द्र ने उनके लिये सर्वज्ञ कहा है।[1] यह भी सम्भव है कि वे क्षेमेन्द्र के गुरुओ मे से एक हो।

बृहत्कथामंजरी मे क्षेमेन्द्र ने अपने गुरु सोमपाद का अत्यन्त ही आदर के साथ उल्लेख किया है। सोमपाद वैष्णव थे। इन्होंने ही सोमपाद को वैष्णव धर्म में दीक्षित किया था, यद्यपि सोमेन्द्र के पिता प्रकाशेन्द्र पक्के शैव थे। क्षेमेन्द्र ने अभिनवगुप्त जैसे महान् शैव दार्शनिक के चरणो मे बैठकर विद्या प्राप्त की थी और वे अभिनवगुप्त पर बहुत श्रद्धा भी रखते थे, फिर भी वे वैष्णव बन गये, इससे यह सिद्ध होता है कि सोमपाद का क्षेमेन्द्र पर बहुत अधिक प्रभाव था। यहा तक कि क्षेमेन्द्र ने अपने देशोपदेश और नर्ममाला इन दोनों काव्यो मे शैव सम्प्रदाय पर फब्तिया कसी हैं।

मान्यताएं तथा आदर्श

क्षेमेन्द्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष–इन चारो पुरुषार्थों को जीवन में समुचित स्थान देना चाहते थे। वे सन्तुलित जीवन बिताने के पक्ष मे थे। चारो पुरुषार्थों की पृथक्-पृथक् कलाओ का भी उन्होंने निरूपण किया है, जिनका उनके मत आदर्श व्यक्ति के जीवन मे अवतरण होना चाहिए। दान, दया, क्षमा, अनसूया, सत्य, अलोभ, प्रसाद,–ये धर्म की कलाएं हैं, अर्थोपार्जन, व्यवहार ज्ञान, त्याग, अनुद्वेग तथा स्त्रियो मे विश्वास न करना–ये अर्थ की कलाए हैं, वेश-शोभा, पेशलता, चारुता, गुणोत्कर्ष, स्त्रियो का चित्त-ज्ञान-ये काम की कलाएं हैं; विवेकरति, प्रशम, तृष्णाक्षय, सन्तोष आसक्ति का त्याग, समाधि और परम प्रकाश—ये मोक्ष की कलाएं है। क्षेमेन्द्र जीवन मे इन सब गुणो का समन्वय चाहते थे। उनके मत मे मात्सर्य-त्याग, प्रियभाषण, धैर्य, अक्रोध तथा पर-वस्तु मे वैराग्य—ये सुख की कलाएं हैं तथा सत्संग, कामजय, पवित्रता, गुरुसेवा, सदाचार, निर्मलश्रुति, यश मे रति-ये शील की कलाएं हैं[2]। परोपकार,[3] सत्य[4] तथा दान[5] और अहिंसा[6] के क्षेमेन्द्र बार-बार गुण गाते हैं। काम को जीवन मे स्थान देते हुए भी क्षेमेन्द्र

१. द्रष्टव्य—पादटिप्पणी —१।
२ कला विलास, १०।२-८
३. चतुर्वर्ग, १।६, २०, २७। बोधिसत्त्वावदानकल्पलता, ३।१८१
४. चतुर्वर्गसंग्रह, १।१०,११, २७
५. वही, १।६, १०, १८। बोधिसत्वावदानकल्पलता, ३।७१,७२, दर्पदलन, २।१११
६. चतुर्वर्गसंग्रह, १।१२, १३, १२, २७

स्त्रियो मे या यौनसंबंधो मे आसक्ति को हेय समझते हैं। कामभाव के प्रति उनका दृष्टि-कोण स्वस्थ है तथा स्वयं के अनुभवो और अनुभूतियो से जन्मा है। उनका कथन है।

काम: कमनीयतया किमपि निकामं करोति सम्मोहम्
विषमिव विषमं सहसा मधुरतया जीवनं हरति ।।

कविकण्ठाभरण, ३।१

भोगविलास के फेर मे पडकर मनुष्य सदैव हानि ही उठाता है। इसलिये क्षेमेन्द्र का कथन है कि स्त्रियो की प्रवंचना को समझते हुए मनुष्य को उनमे आसक्त नही होना चाहिये।

रक्ताकर्षणसक्ता मायाभिर्मोहतिमिररजनीषु।
नार्य::पिशाचिका इव हरन्ति हृदयानि मुग्धानाम् ।।
संसारचित्रमाया शम्बरमाया विचित्तिमाया च।
यो जानाति जितात्मा सोपि न जानाति योषितां मायाम् ।।
कुसुमसुकुकमारदेहा वज्रशिलाकठिनसद्भावा:।
जनयन्ति न कस्य नान्तर्विं चित्रचरिता. स्त्रियो मोहम् ।।

कविकण्ठाभरण, ३।५-८

इसा प्रकार क्षेमेन्द्र अर्थोपार्जन को मनुष्य के लिए आवश्यक समझते हैं, परन्तु केवल संग्रह के लिये अर्थ से उन्हे घृणा है। लक्ष्मी चंचल तथा अपने आप मे निस्सार है[1]। अतएव अर्थ का सत्कार्य मे ही उपयोग होना चाहिए।

क्षेमेन्द्र उत्तम आचरण को सर्वाधिक महत्व देते हैं। उनका कथन है—

आचारात् प्राप्यते स्वर्गमाचारात् प्राप्यते सुखम्।
आचारात् प्राप्यते मोक्षमाचारात् किं न सिद्धयति ।। चारुचर्या १

मनुष्य की दिनचर्या नियमित होनी चाहिये। वह ब्राह्मण मुहूर्त्त मे उठे, स्नान करे, तब ईश्वरार्धन करे। श्राद्ध, तर्पण, जप होम आदि भी उसे नियमपूर्वक करना चाहिये[2]।

क्षेमेन्द्र स्मृतियो व धर्मशास्त्रो मे विहित नियमो का समाज मे पालन आवश्यक मानते थे। मनु आदि की भांति वे उत्तर दिशा की ओर मस्तक करके सोने का निषेध करते हैं[3]। मनुष्य को परदारेच्छा, मास, मृगया, आदि व्यमनों का परित्याग करना

---

१. दशावतारचरित, ८।४६१, ६।६६, ७०

२. वही, चारुचर्या, २।५, ८ ३. वही ६

चाहिये[1] । माता-पिता की सेवा-सुश्रूषा करनी चाहिये[2] । त्याग करने मे प्रत्युपकार की स्पृहा और दान करने पर पश्चात्ताप नही करना चाहिये[3] । ब्राह्मण का अपमान नही करना चाहिये[4] । मनुष्य को करुणामय तथा मधुर भाषी होना चाहिये[5] । उसे गुणो का आदर करना चाहिये[6] ।

क्षेमेन्द्र प्राणियो मे मनुष्य को, मनुष्य मे बुद्धि को, बुद्धि मे पांडित्य को, तथा पांडित्य मे धर्म को श्रेष्ठ समझते हैं[7] । दक्षता से धन मिलता है, नीतिचातुय से सम्पत्ति बढती है, प्रगल्भता सम्पन्न बनाती है तथा सयम व्यसनो का नाश करता है, मंत्र को गुप्त रखने से लक्ष्मी की रक्षा होती है, दुर्जनो के वर्जन से विपत्तियो शान्त हाती हैं, इसलिये क्षेमेन्द्र को दृष्टि मे मनुष्य की सफलता के लिये ये सब गुण आवश्यक हैं । आलस्य को वे हेय बताते हैं तथा कर्मठ जीवन बिताने के पक्ष मे है[8] । अर्थोपार्जन के अभिलाषी व्यक्ति को शीत या आतप की असह्यता, गोष्ठी या व्यासग, लज्जा, अभिमान और नक्षत्रचर्चा का परत्याग करना चाहिये[9] । व्यक्ति को एकदम सीधा-सादा नही होना चाहिये तथा व्यसनो का उसे परित्याग करना चाहिये[10]। विषयासक्ति विपत्तियो की दूती है[11] ।

क्षेमेन्द्र जन्म से नही अपितु गुणों से ही व्यक्ति को महान् मानते हैं[12] । पुस्तकीय पाण्डित्य को वे प्रश्रय नही देते[13] । वास्तविक पाण्डित्य वह है जो जीवन के श्रेष्ठ गुणों से समन्वित करे[14] ।

आस्था

क्षेमेन्द्र की विष्णु तथा उनके दसो अवतारों मे दृढ़ आस्था थी, जो क्रमश: बढती गयी। उनके दशावतारचरित महाकाव्य तथा दशावतारस्तुति काव्य इसके प्रमाण हैं।

---

१ वही, ११, २८, ७०
२. वही १६
३. वही १८, १९
४. वही, २०
५. वही, २३, २९
६. वही, ३६
७. चतुर्वर्गसग्रह, १।५
८. चतुर्वर्गसग्रह, २।२१
९. वही, २।१२
१०. वही, २।१३
११. वही, २।१९
१२. दर्पदलन, १–१३, १४–१६, २०
१३. चतुर्वर्गसंग्रह, १।६
१४ दर्पदलन, ३।१–२

क्षेमेन्द्र का मत है कि "किं मोक्षोपायैर्यदिशुचिमनसामुच्यते भक्तिरस्ति।" शिव में भी उनकी भक्ति थी[१]। गौतम बुद्ध तथा उनके उपदेशों का क्षेमेन्द्र पर प्रभाव पडा था और वे बुद्ध के भी भक्त बन गये थे[२]। इसका कारण यही था कि क्षेमेन्द्र सज्जनों से मिलने और कुछ सीखने की अपनी चिर नवीन अभिलाषा के कारण अवश्य ही कुछ बौद्धों से प्रभावित हुए होंगे। बुद्ध को उन्होंने विष्णु का अवतार माना है।[३]

वर्णाश्रम धर्म में क्षेमेन्द्र का विश्वास था[४]। योगसाधना में भी उनकी आस्था थी[५]। व्यास और वाल्मीकि के क्षेमेन्द्र बड़े ही श्रद्धालु भक्त थे। सुवृत्ततिलक के प्रारंभ में उन्होंने व्यास की वन्दना की है —

नमश्छन्दोविधानाय सुवृत्ताचारवेधसे।
तपःसत्यनिवासाय व्यासायामिततेजसे ॥ १।३

व्यास को अपना गुरु मानकर स्वयं को व्यासदास कहा करते थे[६]। वाल्मीकि पर भी कवि ने अकृत्रिम श्रद्धा व्यक्त की है[७]।

स्वभाव

क्षेमेन्द्र शिष्ट और विनयी प्रकृति के थे। वे अपने को सर्वमनीषिशिष्य और व्यासदास कहा करते थे। गर्व उन्हें छू भी नहीं पाया था। सेव्य-सेवकोपदेश में वे अपने लिये कहते हैं,

---

१ सुवृत्ततिलक, १।१–३ २. दर्पदलन, २।१०१–११० ३. दशावतारचरित, ६।२, ३ ४. वही, ७।२८४ ५. वही, ८।८२७।

६. समयमातृका की सभी पुष्पिकाओं में "इतिश्री व्यासदासापराख्यक्षेमेन्द्र" ऐसा पाठ है। चारुचर्या के अन्त में भी यही पाठ मिलता है। द्रष्टव्य दशावतारचरित, १।३, १०।४१ आदि भी।

७ ज्येष्ठो जयति वाल्मीकिः सर्गबन्धे प्रजापतिः।
यः सर्वहृदयालीनं काव्यं रामायणं व्यधात् ॥
स्वच्छप्रवाहसुभगा मुनिमण्डलसेविता।
यस्मात् स्वर्गादिवोत्पन्ना पुण्या प्राची सरस्वती ॥
नमः सर्वोपजीव्यं तं कवीनां चक्रवर्तिनम्।
यस्येन्दुधवलैः श्लोकैर्भूषिता भुवनत्रयी ॥
स वः पुनातु वाल्मीकिः सूक्तामृतमहोदधिः।
ओंकार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनिः ॥
—वाल्मीकिप्रशंसा, (क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रह, पृष्ठ ७)

विद्वज्जनाराधनतत्परेण सन्तोषसेवारसनिर्भरेण ।
क्षेमेन्द्रनाम्ना सुधिया सदैव सुखायसेवावसरः कृतोऽयम् ॥ ६१

अन्य कवियो की भांति अपनी उपलब्धियो और योग्यताओ का अतिशयोक्तिपूर्ण बखान क्षेमेन्द्र ने कभी नही किया। वे स्नेही और वात्सल्यमय प्रकृति के थे[1]। प्रकृति से उन्हे प्रेम था[2]। स्वाभिमान की उनमे कमी नही थी। दूसरे की चाटुकारिता या सेवा करना उन्हे पसन्द नही था। उनकी कृति सेव्यसेवकोपदेश मे उनका स्वाभिमान तथा सेवावृत्ति को निन्दनीय समझने की प्रवृत्ति प्रकट हुई है[3]।

आरम्भ मे क्षेमेन्द्र अवश्य ही कुछ चञ्चल, कामुक तथा विलासी प्रकृति के रहे होगे। उनकी प्रारम्भिक कृतियो—देशोपदेश तथा नर्ममाला मे उनकी ये प्रवृत्तिया स्पष्ट हैं। इन कृतियो मे यद्यपि क्षेमेन्द्र की व्यंग्यपरक दृष्टि विद्यमान हैं, परन्तु फिर भी वे अनेक स्थानो पर भद्दी अश्लीलता की सीमा तक जा पहुँचे हैं। संभव है, क्षेमेन्द्र ने भी अपनी युवावस्था के दिन इत्वर (आवारा) होकर गुजारे हो और वे अपनी कृतियो मे बडी ही ईमानदारी से चित्रित विटो, कुट्टनियो, वेश्याओ, गणिकाओ आदि के भी सम्पर्क में आये हो परन्तु देशोपदेश और नर्ममाला के बाद की कृतियो मे क्षेमेन्द्र का स्वर बदला हुआ है। ऐसा लगता है कि जीवन के विभिन्न मीठे कडुवे अनुभवो तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रो के पर्यवेक्षण, विभिन्न प्रकार के व्यक्तियो से सम्पर्क तथा अपने स्वयं के विवेक और आत्मनिरीक्षण की शक्ति-इन सबने मिलकर क्षेमेन्द्र को जीवन से अनासक्त और निःसग बना दिया है[4]। वे जीवन से पलायन पसन्द नही करते थे, जीवन की सारी विषमताओ के बीच रहकर भी वे सन्तुलित मनोवृत्ति से जीवनयापन करना चाहते थे[5]।

जीवन के अन्तिम दिनो मे आकर क्षेमेन्द्र भक्ति, मोक्ष और वैराग्य की त्रिवेणी मे डूब गये हैं। शृगार और हास्य के स्थायी भावो के स्थान पर निर्वेद ने उनमे घेर कर लिया है। उनकी यह भावना हो गयी है कि —

---

१. द्रष्टव्य, दशावतारचरित, ८।१८०, २९५
२. द्रष्टव्य, दशावतारचरित, ८।१४१–१५०
३. द्रष्टव्य, दशावतारचरित, ५।१९०, ७।१८०, चतुर्वर्गसग्रह, २।१५
४. आत्मनिरीक्षण उनमे इतना है कि अपने दोष कही भी उनकी दृष्टि से बचते नहीं। द्रष्टव्य—सुवृत्ततिलक, पृष्ठ ४८, ५०, ५२, ५४, ६०, ६२, ६६।
५. द्रष्टव्य—दशावतारचरित, ८।८२४, ६।६६, ६७, ७१।

न नमति चरणौ भक्त्या किमिति जडमतिर्लोकः।
भवभयशमनौ शम्भोर्भुं जगशिशुसुतावग्रे ॥ -सुवृत्ततिलक, पृष्ठ १४

यह निर्वेद भर्तृहरि के निर्वेद जैसा क्षणिक नही है, अपितु यह कालिदास की भांति गहरी जीवन दृष्टि तथा सच्ची अनुभूति से प्रसूत हुआ है। अतएव क्षेमेन्द्र ने सच्चे विश्वास के साथ कहा था —

भो भवविभ्रमभंगुरभोगा गच्छत नास्त्यधूना मम मोहः।
तिष्ठति चेतसि चन्द्रकलाभृद् भक्ति जनाभयदोऽथकपाली ॥ वही पृष्ठ १६

यथा मन्युर्लीनः स च विभवमग्नः स्मरपद-
स्तथा जाने जाता ममसमयरम्या परिणतिः ॥
इदानी संसारव्यतिकरहरा तीव्रतपसे।
विविक्ता युक्ता मे गिरिवरमही सा शिखरिणी ॥ -वही, पृष्ठ ३५
पृथुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम्।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम् ॥ -पृष्ठ ११४

सैव्यसेवकोपदेश मे भी कवि का यही कथन है —

राज्ञामज्ञतया कृतं यदनिशं दैन्यं तदुत्सृज्यता,
सन्तोषाम्भसि मृज्यतामपि रजःपादप्रणामार्जितम्।
सन्तोषः परमः पुराणपुरुषः संविन्मयः सेव्यता,
यत्स्मृत्या न भवन्ति ते सुमनसा भूयो भवग्रन्थयः ॥ -५८
उत्सृज्य प्राज्यसेवा विजनसुखजुषा भूभुजा व्याजभाजां,
छित्वाशापाशबन्धान्विमलशयजलैः जीवतृष्णां निवार्य।
स्थित्वा शुद्धे समाधौकिमपरममृत मृग्यतां ज्योतिरान्त -
र्यस्मिन् दृष्टे विनष्टोत्कटतिमिरे लभ्यते मोहलक्ष्मीः ॥ -५६

पाण्डित्य और पर्यवेक्षण

क्षेमेन्द्र मे व्यावहारिक ज्ञान तथा शास्त्रीय पाण्डित्य दोनो ही प्रचुर मात्रा मे थे। उनके लोकप्रकाशकोश मे तत्कालीन हिन्दू जीवन के संबध मे बहुत अमूल्य जानकारी भरी पड़ी है। काश्मीर की भौगोलिक व राजनितिक स्थिति, परिवार मे प्रयुक्त वस्तुएं आदि के संबंध मे विस्तृत व गहरी छानबीन करके क्षेमेन्द्र ने इस कोश का निर्माण किया था। प्राचीन काव्यो, इतिहास पुराण, रामायण-महाभारत तथा अपने समय के कवियों

की रचनाओ का क्षेमेन्द्र ने अनुशीलन किया था। उनके औचित्य विचारचर्चा मे ऐसे न जाने कितने कवियो से उद्धरण दिये गये हैं, जिनका और कही उल्लेख भी नही मिलता[१]।

प्राचीन मिथको का क्षेमेन्द्र को विस्तृत ज्ञान था। अपनी बात की पुष्टि के लिये दृष्टान्त के रूप मे उन्होने कई बार इतिहास पुराणो की प्राचीन कथाओ का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिये—चारुचर्या मे ही बलि, ययाति, हरिश्चन्द्र विदूरथ, माण्डव्य ऋषि, नल आदि से संबधित कथाओ तथा इन्द्र द्वारा क्षिति गर्भ का पाटन, पाण्डुनिधन की कथा प्रद्युम्न व शम्बरस्त्री की कथा, हिरण्यकशयपु की कथा, नहुषवृत्तान्त आदि का दृष्टान्त के रूप मे उल्लेख है।

प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण क्षेमेन्द्र ने किया था[२]। यद्यपि उनका क्षेत्र प्रमुखतया नागरिक जीवन ही था। प्रणय, यौनप्रवृत्ति तथा युवामन की आदिम भावना मे उनकी सूक्ष्म दृष्टि थी[३]। परन्तु क्षेमेन्द्र ने अपने समय के समाज को जितनी गहराई से निरखा परखा था, उतना संस्कृत के शायद ही किसी कवि ने देखा हो। बाणभट्ट मे हमे यह प्रवृत्ति मिलती है, पर बाण का क्षेत्र आदर्श के घेरे मे परिसीमित हो गया है, निम्न मध्यम वर्ग के जीवन को वे समूचे रूप मे प्रस्तुत नहीं कर सके। दण्डी और शूद्रक जरूर इस दिशा में क्षेमेन्द्र से जबरदस्त होड कर सकते है, परंतु वैश्याओ, कुट्टनियो, विटो, स्वर्णकारो, नापितो तथा समाज के अन्य वर्गो को जीवन–प्रवृत्तियों और व्यवहार मे जितनी गहरी पकड क्षेमेन्द्र की थी, उतनी इनकी नही है। क्षेमेन्द्र की पैनी दृष्टि से जैसे इन वर्गो के जीवन का शायद ही कोई पक्ष छूटा हो। क्षेमेन्द्र के पर्यवेक्षण में तटस्थता और व्यंग्य की प्रवृत्ति दोनो का सुन्दर सम्मिलन है। अर्धचर्चटिका नामक स्त्री किस प्रकार वेश्या वृत्ति द्वारा अपना जीवन प्रारम्भ करती है, तथा विभिन्न नगरो मे नाम बदलकर रहती हुई अनेक कामुक लोगो को लूटती है। अन्त मे वैश्यावृत्ति न

---

१. इस पुस्तक मे चन्द्रक, मालव रुद्र, भट्टनारायण, भट्टबाण, भवभूति, हर्ष, राजशेखर, कालिदास, श्यामल, परिमल, प्रवरसेन, मुक्तापीड, उत्पलराज, व्यास, अमरुक, गौड-कुम्भकार- भट्टप्रभाकर, मालवरुद्र, मातृगुप्त, लावण्यवती, भट्टलट्टन, कुमारदास, श्रीचक्र, मालवकुवलय, भल्लट, वराहमिहिर, यशोवर्मदेव, दीपक, माघ, भट्टेन्दुराज, परिव्राजक, गंगक, आदि, कवियो के उद्धरण हैं जिससे क्षेमेन्द्र के गहन अध्ययन की प्रवृत्ति का ज्ञान होता है।

२. दशावतारचरित, ८।१४१-१५०   ३. वही, ८।१३८-४३, २७९

चलने पर वह पहले भिक्षुणि और फिर बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है। इस स्थिति मे भी उसे मंगलदास नामक उपासक से गर्भ रह जाता है। प्रसूता होने पर वह फिर अन्य नगर मे जाकर मंत्री चित्रसेन के यहा धात्री बन जाती है। एक दिन बालक के सुवर्णा-भूषण लेकर वह वहा से भी चल देती है। अनन्तपुरी मे पहुँचकर वह पुए बेचने का काम करने लगती है। गणेश जी को समर्पित मोदको को खरीदकर और उन्हे फिर से ताजा बनाकर भी वह बेचती है। जब यह धन्धा भी नही चलता तब मार्ग मे भीख मागने वाली एक लडकी के शरीर मे घृत पोत कर घरो मे घूम-घूमकर वह यह कहकर धन मागती कि "मुझे इस कन्या का विवाह अतिशीघ्र करना है, अत. आप सहायता करें। इसके बाद वह अपना नाम पंजिका रखकर द्यूतशाला के सामने स्थित होकर गुप्त रूप से कपट पाशो का विक्रय करने लगती है। इसके बाद वह अपने आपको पाटलि-पुत्र से आयी हुई मुकुलिका नामक मालिन बताती है और देवमन्दिरो के रक्षको का ऋण खाकर वहाँ से भाग जाती है। फिर वह प्याऊ चलाने वाली बनती है। इस प्रकार इस स्त्री की जीवन गाथा मे क्षेमेन्द्र ने एक असामान्य स्त्री के मनोविज्ञान के साथ तत्का-लीन समाज की विडम्बनापूर्ण स्थिति को बडी ही जागरूकता के साथ उभारा है[1]। वेश्याओ और कुट्टनियो के जीवन की अनेक झाकिया उन्होने विस्तार के साथ प्रस्तुत की हैं, जो क्षेमेन्द्र की सूक्ष्म दृष्टि तथा पर्यवेक्षण की प्रमाण हैं[2]। पर क्षेमेन्द्र का पर्यवेक्षण वेश्याओ और कुट्टनियो तक ही सीमित नही था। अपने समाज के सभी वर्गो शासनतत्र के अधिकारियो, विभिन्न प्रकार के धन्धे करने वालो पर समान रूप से क्षेमेन्द्र की दृष्टि है। नर्ममाला मे रिश्वतखोर कायस्थो और अधिकारियो का चित्रण बडा यथार्थ है। गृह कृत्याधिपति किस प्रकार जनता को लूटते हैं (१।१—५०), उसी प्रकार परि-पालक (१।५१–७०), लेखकोपाध्याय (१।६७–१००), गंवदिविर (१।८३–९६), ग्रामदिविर (१।९७–१००), आदि शासनतत्र के सूत्रधार किस प्रकार जनता को उल्लू बनाते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं, यह क्षेमेन्द्र ने खुली आंखो से देखा था। समाज के विभिन्न प्रकार के लोगो—पारदारिक (नर्ममाला २।१–१९), जीवनदिविर (२।२०–२८), दारकोपाध्याय (२।३३–४६), श्रमणिका (२।२९–३२), मठदैशिक (२।४७–५८), पत्नी (२।५५–६७), वैद्य (२।६८–८१), ज्योतिषी (२।८२–९१), गुरु (२।१००–११६), अस्थानदिविर (११७–१३२), सात्रिक (१३३–१४५), चक्षुर्वैद्य ३।५४–६०), शल्यहर्त्ता (३।६१–६३), वृद्धवणिक् (६४।७४), आदि के अनैतिक कृत्यो

१ द्रष्टव्य, समयमातृका, २।६–१०८
२ द्रष्टव्य, वही, प्रकरण ३, ८

कुप्रवृत्तियो व कार्यव्यवहार का भण्डाफोड क्षेमेन्द्र ने सफलतापूर्वक किया हैं। क्षेमेन्द्र ही मध्य युग के एकमात्र ऐसे सस्कृत कवि हैं, जिन्होने ऊपर से शान्त और सुव्यवस्थित दीखने वाले हिन्दू समाज को अनावृत्त करके सामने रखा है।

क्षेमेन्द्र ने अपने युग की समस्त सास्कृतिक धरोहर को आत्मसात् किया था, पर उनकी सबसे बडी विशेषता, जो बहुत कम संस्कृत कवियो मे है, यह है कि उनकी चेतना पूरी तरह वर्तमान मे रमती थी। वे अपने युग वर्तमान के सजग और प्रबुद्ध व्याख्याकार हैं, वे अतीत के धुंधले चित्रो को समुज्ज्वल और आकर्षक रूप देने का कार्य नही करते बल्कि मटमैले और पंकिल वर्तमान को बडी ईमानदारी से सामने रखते हैं। वे काश्मीर की प्रादेशिक संस्कृति के सजग प्रति-निधि है और वे उन बिरले कवियो मे से है, जिनकी प्रतिभा मे कल्पना और यथार्थ दृष्टि का, अनुभूति और तर्क, सवेदना और व्यग्य का सम्मिलन हुआ है।

क्षेमेन्द्र एक प्रबुद्ध और मौलिक चिन्तक थे। औचित्यविचारचर्चा के द्वारा उन्होने संस्कृत काव्यशास्त्र मे औचित्य सम्प्रदाय का आविर्भाव किया, सुवृत्ततिलक के माध्यम से उन्होने काव्य मे भाव और विषय के अनुरूप छन्दोविधान की विचारधारा के द्वारा एक नयी आलोचना-दृष्टि का परिचय दिया तथा कविकण्ठाभरण की रचना करके कवि-शिक्षा के क्षेत्र मे एक नया अध्याय जोडा।

क्षेमेन्द्र की व्यंग्यचेतना उनकी निजी चीज है। एडीसन की भाति वे व्यग्य करने मे कभी चूकते नहीं, परन्तु घाव करना कभी नही चाहते। उनकी व्यग्यचेतना विध्वंसात्मक नही अपितु सर्जनात्मक हैं। वे विकृत्तियो के स्थान पर स्वस्थ मूल्यो का आविर्भाव करने वाले मसीहा है। वे केवल प्रतारणा करना ही नही जानते, सुधार करने की भावना भी उनके भीतर है। उनकी व्यंग्यचेतना मे कटुता नही, अपितु विनोद का माधुर्य है। कला-विलास मे दाम्भिक मूलदेव का वर्णन,[१] समयमातृका मे मंगली नामक कुट्टनी[२] या वणिक् का व्यग्यचित्र[३] अथवा देशोपदेश मे कजूस व्यक्ति,[४] वैश्या[५] तथा विट[६] आदि के चित्र इस बात को प्रदर्शित करते हैं। उनके व्यंग्य चित्र आधुनिक व्यग्य लेखको की पहुंच के अत्यधिक निकट है।

क्षेमेन्द्र की कल्पनाशक्ति उर्वर है, तथा उसमे उपयुक्त प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता है। उनकी अनेक कल्पनाएं एकदम मौलिक हैं। वेश्याओ के गुरु नापित का मुख-

---

१. कलाविलास, १।५०–५६ २. समयमातृका, ४।२-८, १६

३. वही, ८।५२–५८ ४. देशोपदेश, २।१८–१६, २।३५, २।३०–३१

५. वही, ३।६, १४ ६. वही, ५।५–११

श्मश्रुओ से व्याप्त था, उसकी आखे कांच की भाति चमकीली थी शरद्काल मे जलाशय के तट के मण्डूको को खाकर मोटे मार्जार की भाति वह स्थूलकाय था[1] या कुट्टनी से रहित वेश्या के घर से धूर्त उसी प्रकार जल्दी नही निकलते, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु मे गर्म चूल्हे मे सोया हुआ विडाल भगाने पर भी शीघ्र नही निकलता[2]। इस प्रकार की कल्पनाएं क्षेमेन्द्र मे स्थान-स्थान पर मिलती हैं जो सूक्ष्म पर्यवेक्षण, विनोद वृत्ति तथा सन्तुलित प्रस्तुतीकरण के कारण प्रभविष्णु बन गयी हैं, भले ही भावोद्बोध की क्षमता उनमें न हो।

उन्होने अनेक बिम्ब व उपमान पुराने कवियो से लिये हैं, पर अपनी प्रतिभा से उन्हे निखार दिया है, इसलिए वे एकदम पिटे-पिटाये नही लगते[3]। क्षेमेन्द्र की कल्पना मे माघ और हर्ष की परम्परा के कवियो की अतिशयोक्ति, असामंजस्य और असंगति नही है, उनकी कल्पना सर्वत्र समंजन आ सन्तुलन बैठाती हुई चलती है। उसमे सानुपातिकता के प्रति अत्यधिक जागरूकता तथा आग्रह है। दशावतारचरित मे उन्होने विष्णु के दसो अवतारो की कथाओ को कुशल संघटना के साथ एक शृंखला मे गूंथदिया है, जिसके कारण दशावतारचरित एक सुसम्बद्ध महाकाव्य बन गया है। इसी प्रकार इस महाकाव्य मे रामावतार के सर्ग में घटनाक्रम आदि से अन्त तक रावण के चारो ओर घूमता है, फिर भी नायक राम सर्वत्र छाये हुए है।

क्षेमेन्द्र की कल्पना मे दूर की कौडी लाने तथा आसमान तक घोडे दौडाने की होड नही है। अपने आसपास के जीवन से वह सीदे-सादे बिम्ब चुनकर कथ्य को सजा देती हैं। बाल्मीकि की भाति उसकी सादगी मे अपना विशिष्ट आकर्षण है। कही-कही क्षेमेन्द्र कल्पना के उच्च शिखरो पर भी आरोहण करते हैं, पर वे असंगत तथा विकेन्द्रित कभी नही होते[4]।

---

१. समयमातृका, २. १।९ वही, १।४३

३. द्रष्टव्य, समयमातृका, ३।४, ६, चतुर्वर्गसंग्रह ६।७, १२; दर्पदलन ३।७७ दशावतार १।३६

४. जैसे सुवृत्ततिलक मे उद्धृत उनका यह सन्ध्यावर्णन -

सकोचव्यतिकरबद्धभीतिलोलै:
निर्यद्भिर्भ्रमरकटैः सरोरुहेभ्य: ॥
आरब्धः क्षणमिव सन्ध्यया जगत्या -
मुत्पत्यै घनतिमिरस्य बीजवाय: ॥

संवेदना

व्यंग्यविनोद की प्रवृत्ति तथा सूक्ष्म पर्यवेक्षण मे ही क्षेमेन्द्र की प्रतिभा की शक्ति समाप्त नही हो जाती, एक और वस्तु उसकी प्रभविष्णुता को समृद्ध करती है। यह क्षेमेन्द्र की संवेदना है। अनाचार फैलाने वाले व्यक्तियो क प्रति क्षेमेन्द्र मे व्यंग्य और आक्रोश था, तो उससे पीडित होने वालों के लिये उसमे सहानुभूति भी था। यद्यवि यह सत्य है कि उनपर व्यग्य की प्रवृत्ति ही प्राय. हावी रही है। फिर उनके हृदय की कोमल वृत्तियां भी कभी-कभी उभर आती हैं। वृद्ध के द्वारा ब्याही गयी तरुणागना की विडम्बनामयी करुणाजनक स्थिति का चित्रण[1] ऐसा ही स्थल है।

सौन्दर्यदर्शन

अपने युग की सौन्दर्यचेतना का क्षेमेन्द्र पर प्रभाव पडा था। प्रारम्भ मे वे घोर शारीरिकता मे लिपटे हुए हैं। नारी-सौन्दर्य ने उन्हे सर्वाधिक आकर्षित किया था। धीरे-धीरे क्षेमेन्द्र की सौन्दर्यचेतना स्वस्थ और विकसित हुई तब उसके द्वारा ही उनके नीरस तथा उपदेशप्रधान कथानकों मे रससृष्टि संभव हो सकी। साफ-सुथरी मंजी हुई प्रांजल भाषा,[2] उपयुक्त छन्दोविधान तथा कसी हुई शैली उनकी इस सौन्दर्यचेतना की देन है। दर्पदलन (७।४८-६१) मे युवावेशधारी शिव को देखकर मुनि-पत्नियों की शृंगारिक चेष्टाओ का वर्णन अत्यन्त रुचिकर है। अन्य स्थानो पर भी कथानक के संक्षिप्त होने पर भी क्षेमेन्द्र बीच-बीच मे रससृष्टि करते चलते हैं। दशावतारचरित (७।१३९-४५) में सीताहरण के लिये आये रावण का सीता से सवाद अत्यन्त सरस है। इसी प्रकार ७।१७२-१७३ मे लक्ष्मण व सुग्रीव का संवाद भी कथानक मे रस भर देता है।

उपसंहार

यह ठीक है कि क्षेमेन्द उतने संवेदनशील नही हैं जितने भवभूति या वाल्मीकि। न उनमे कालिदास की-सी सौन्दर्यमय सर्जनशील कल्पना ही है और न प्रगाढ़ भावोद्बोधन की क्षमता ही। साथ ही जब वे नैनिकता का मुखौटा ओढकर काव्य लिखने लगते हैं तो अत्यन्त साधारण उपदेशवादी कवि से अधिक नही लगते पर क्षेमेन्द्र मे कुछ ऐसे

---

१. देशोपदेश, ७।३-१४, २७, ३०।

२. क्षेमेन्द्र की भाषा मे सर्वत्र भावानुरूपता है। दशावतारचरित २।३० मे वे विष्णु के मोहिनी रूप पर मोहित दैत्यो तथा मोहिनी के वर्णन मे भाषा की मिठास और मनोहारिता उल्लेखनीय है। द्रष्टव्य-दशावतारचरित ८।१४४, १७३, ८।२७१, २७२।

असामान्य गुण है जो उन्हे सस्कृत कवियो मे एक विशिष्ट स्थान प्रदान करते है। उनकी व्यग्यचेतना तथा जोवन को यथार्थ रूप मे देखने का प्रवृत्ति उनके बिरले गुण हैं। वे जीवन के घिनौने पक्षो का सच्ची समझ और सूझ–बूझ के साथ उद्घाटन करने वाले कवि हैं। उनकी सम-सामयिक जीवन मे गहरी पैठ तथा उसकी सही समझ बहुत कम कवियो मे मिलती है।

बिल्हण

काश्मीर मे प्रवरपुर के समीप खोनमुष ग्राम मे बिल्हण ने जन्म लिया था। उनके पूर्वज मध्य युग से आये हुए कौशिक गौत्र के विद्वान ब्राह्मण थे। बिल्हण के प्रपितामह मुक्तिकलश इन ब्राह्मणो के कुलपति थे। बिल्हण के अनुसार "निरन्तर अग्निहोत्र का अनुष्ठान करने मे होने वाले प्रस्वेदजल से उन्होने कलिकाल का पाप मानो धो दिया था। ब्रह्मा ने परस्पर ईर्ष्या एव कलह करने वाली जिन चार श्रुतियो को शान्ति स्थापित रखने के लिये अपने चारो मुखो मे अलग-अलग धारण किया था, उन चार प्रिय श्रुतियो को भी मुक्तिकलश ने एक ही मुख मे धारण कर लिया था[1]। मुक्तिकलश के राज्य-कलश नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। उसने अनेक यज्ञ किये थे। उसने समस्त जनता के उपयोग के लिये अगूरो से भरे बाग, स्थान-स्थान पर निर्भर जल वाले कूप और पोसरे बनवाये थे। राज्यकलश के ज्येष्ठ कलश नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो शास्त्रो के तत्व का निधि, क्षमाशील तथा वेदो का खजाना था। उसके छात्रो ने पतञ्जलि के महाभाष्य की टीका लिखी थी। "उस ज्येष्ठकलश ने ऐहिक और आमुष्मिक दानो सामग्रियो मे प्रवीण, कल्याण समूहो का स्थान, नागादेवी नामक स्त्रीरत्न प्राप्त किया था, जिसके कारण उसके लिपे यज्ञादि, अतिथि सत्कार तथा नौकरो को प्रसन्न रखना और अन्यान्य कार्य उचित रूप मे होने लगे तथा सुकर बन गये[2]।" उस विद्वान ज्येष्ठकलश से सुन्दर सोने को कान्ति वाले शरीर के अवयवो से दर्शको की आखो को अपने वश में करने वाला जगत् का शिरोभूषण रूप बिल्हण नामकपुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके मुख में जनेऊ होने के समय से ही ऊचे-ऊंचे वेदाच्चारण के शब्दो से अज्ञात पायल के घुघरुओं वाली सरस्वती वास करती थी। जगत् का मोहन करने वाली श्रीसरस्वती की चरण धूलि के प्रताप से विद्यारूपी कामिनियो को समूह उस बिल्हण कवि के मुख का दर्शक हो गया। अर्थात् सब विद्याए आकर्षित होकर स्वयं उसके मुख मे वास करने लगी, साथ ही सब दिशाओं मे बिल्हण के साथ आये हुए मनोहर काव्य उसकी कीर्ति के चाचल्य

1. विक्रमांकदेवचरितम्, १८।७५, ७६
2. वही, १८।७७–८१

को रोकने के लिये पहरेदार का काम करने लगे[1]।

बिल्हण के अग्रज इष्टराम तथा अनुज आनन्द भी अच्छे कवि थे। बिल्हण ने अपने ग्राम मे रहकर शास्त्राध्ययन करते हुए प्रगाढ पाण्डित्य का अर्जन किया था। उसने काश्मीर मे समग्र शास्त्रो के तत्त्वो को लेकर हिमालय के शैत्य गुण को भी अवश्य ले लिया था, अन्यथा कैसे वह देशान्तरो मे शास्त्रार्थ मे क्रुद्ध होकर प्रतिवादी पण्डितो के मुखो को हिमसमूह से मुरझाए हुए कमलो के समान म्लान कर सकता था[2]।"

अपने ग्राम के परम रमणीय प्रकृति–सौन्दर्य ने बिल्हण को मुग्ध किया था तथा उनके अन्तर्मानस मे कविता के अकुर उगाये थे। गाव को छोडकर सुदूर दक्षिण में निकल जाने पर भी प्रौढ वयस् तक वे अपने गांव को उस नैसर्गिक चारुता को नही भूल पाये[3]। उनके ग्राम के सास्कृतिक वातावरण और पाण्डित्य की छाप उनके व्यक्तित्व पर स्पष्ट रूप से पडी थी।

अपने ग्राम से कुछ ही दूरी पर बसी काश्मीर की राजधानी प्रवरपुर के सास्कृतिक वातावरण, वैभव तथा रमणीयता से भी बिल्हण प्रभावित हुए थे। उस समय के शासक कलश तथा उसकी रानी सुभटा देवी के चरित्र ने उन्हें विशेष अभिभूत किया था। बिल्हण के ही शब्दो मे "प्रवरपुर सरस्वती का आदिधाम, आश्चर्यों की निधि, विद्या का केन्द्र तथा पीयूषवर्षी सत्कवियो का आश्रय तथा मनोहर केसरो के साथ मनोहर काव्यो का जन्मदाता था[4]।

विद्याध्ययन समाप्त करके बिल्हण अपने पाण्डित्य की धाक जमाने की इच्छा से शास्त्रार्थ दिग्विजय के लिये निकल पड़े[5]। सबसे पहले वे वृन्दावन पहुँचे तथा मथुरा की विद्वन्मण्डली को शास्त्रार्थ मे परास्त किया और कुछ समय तक वृन्दावन की रम्य भूमि मे वास किया। उनकी कीर्ति धीरे-धीरे फैलने लगी। ऐसा कोई गांव, नगर, राजधानी, अरण्य, उपवन या विद्यामन्दिर न था जहां विद्वान्, मूर्ख, बृद्ध, बालक, स्त्री या पुरुष सभी रोमांचित होकर उसके काव्य को नही पढते हो[6]। बिल्हण ने प्रयाग तथा कान्यकुब्ज मे वास करते समय ब्राह्मणो को अपार धन दान मे दिया[7]। काशी मे पहुँच कर उन्होने श्रद्धापूर्वक गंगा मे स्नान किया। डाहल देश के राजा कर्ण बिल्हण के

---

१. विक्रमाकदेवचरितम्, १८।८२–८३ २. वही, १८।८६

३. वही, १८।७२ ४. वही, १८।१–२६

५. विक्रमाकदेवचरितम्, १८।८७ ६. वही, १८।८९ ७. वही, १८।९०. ९१

आगमन का समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। बिल्हण ने इसी समय अयोध्या नगरी की प्रशस्ति मे अनेक काव्यो की रचना की। फिर राजा कर्ण की सभा मे उन्होने प्रख्यात पण्डित गंगाधर को शास्त्रार्थ मे पराजित किया और अनेक पूर्वी पण्डितो को भी वे शास्त्रार्थ मे पराजित करके धारा नगरी मे पहुँचे। वहा से वे गुजरात मे सोमनाथ गये। फिर वे महाराष्ट्र की ओर बढे तथा दक्षिण कोकण के समुद्रतट को लाघते हुए दक्षिण की ओर बढे यहा उन्होने चोल देश के राजा को भयभीत करने वाले चालुक्यराज विक्रमाकदेव से काले रग के छत्र और मदोन्मत्त हाथियो के समूह की पात्र प्रधान पण्डित की पदवी प्राप्त की[1]। यहा रहकर उन्होने विक्रमाकदेवचरित महाकाव्य का १०८८ ई० के लगभग प्रणयन किया और अपने आश्रदाता से अतियशय धन सम्पत्ति प्राप्त की। विक्रमाकदेवचरित के प्रत्येक सर्ग की समाप्ति पर "त्रिभुवनमल्लदेव-विद्यापति" ऐसा बिल्हण के लिये विशेषण मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि त्रिभुवनमल्लदेव या विक्रमाक (१०७६–११२७ ई०) से ही बिल्हण ने विद्यापति की पदवी प्राप्त की थी। कल्हण ने लिखा है कि परमार राजा विक्रमाकदेव ने बिल्हण का इतना सम्मान किया कि सैन्यप्रयाण के अवसर पर बिल्हण का छत्र राजा के राजछत्र से भी आगे तथा ऊचा दिखाई देता था[2]।

बिल्हण ने अपने जीवन मे बहुत पर्यटन किया था तथा अनेक प्रकार के अनुभव किये थे। उन्हे अनेक बार प्रतारणा और उपेक्षा भी सहनी पडी होगी–ऐसा अनुमान किया जा सकता है। विक्रमाकदेवचरित (१८।९७) से प्रतीत होता है कि बिल्हण को गुजरात मे विशेष कष्ट उठाना पडा। कल्याणनगर मे कुन्तलाधीश्वर से उन्हे प्रभूत धन की प्राप्ति हुई थी किन्तु यहाँ भी उन्हे किसी विपत्ति का सामना करना पडा था, ऐसा अनुमान होता है[3]। बिल्हण की कर्णसुन्दरी नाटिका के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्होने कुछ समय अनहिलवाड के कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (११६८–११९८) की सभा मे भी व्यतीत किया था, उसके पश्चात् ही वे दक्षिण की ओर गये होगे।

बिल्हण-चरित खण्डकाव्य मे अनहिलपत्तन नगर के राजा वैरिसिह की कन्या शशिकला के साथ बिल्हण के प्रणय व फासी आदि का वृत्तान्त है, जो विश्वसनीय नही हैं,

---

१. हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, एस० एन० दासगुप्ता व एस० के० डे, पृष्ठ ४००

२. काश्मीरेभ्यो विनिर्यान्तं राज्ये कलशभूपतेः।
विद्यापतिं यं कर्णाटश्चक्रे पर्माडिभूपतिः॥ राजतरंगिणी, ७।९३६
प्रसर्पतः करटिभिः कर्णाटकटकान्तरे। राज्ञोऽग्रे ददृशे युगं यस्यैवातपवारणम्॥

३. कर्णसुन्दरी, भूमिका, पृष्ठ ३

क्योकि बिल्हण अनहिलपत्तन मे ११ वी शती के उत्तरार्द्ध मे आये थे, उस समय वहा चालुक्य भीमदेव का पुत्र कर्णराज राजा था न कि वैरिसिंह। चालुक्यवंशीय वैरिसिंह की तो ९२० ई० मे ही मृत्यु हो चुकी थी[१]।

मान्यताएँ तथा आदर्श

कवि और काव्य के संबंध में

बिल्हण वैदर्भी रीति के प्रबल समर्थक हैं। उनका कथन है—

अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वतीविभ्रमजन्मभूमिः।
वैदर्भरीति कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम्॥

बिल्हण की दृष्टि मे अच्छी कविता कोकिल के शब्द के समान कर्णेन्द्रिय को सुख देने वाली, रस, अलंकार आदि के कारण चमत्कृत करने वाली उक्तियो से युक्त हुआ करती है[२]। ऐसी कविता जिन सहृदय कवियो के मन मे बसती है, वे धन्य हैं[३]। बिल्हण काव्य को "साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थ" अमृत मानते हैं और कवियो को सीख देते हैं कि वे इस दुर्लभ अमृत की रक्षा करें क्योकि इसके चुराने के लिये बहुत से चोर घूमा करते हैं। पर यदि काव्य की चोरी करने वाले किसी सत्कवि का काव्य चुरा भी लें तो बिल्हण की दृष्टि मे उससे सत्कवि की क्षति नही, क्योकि यदि उसके पास प्रेरणा है तो वह भी विपुल काव्य बना सकता है[४]। काव्य का आस्वाद सहृदय लोग ही कर सकते हैं, जिस प्रकार सूखे केशो मे धूप देने से वे सुगन्धित नहीं होते, उसी प्रकार नीरस व्यक्ति काव्य का आस्वादन नही कर सकते[५]।

बिल्हण काव्य मे नवीनता तथा मौलिकता के समर्थक है। जिस प्रकार अत्युच्चता तथा काठिन्य से चोली फाड़ देने वाले रमणियो के स्तन सराहना करने योग्य हुआ करते हैं, उसी प्रकार प्रौढिप्रकर्ष से अर्थात् रस, अलंकार, गुण आदि की विशिष्ट चमत्कृति के प्राबल्य से परम्परामुक्त मार्ग का अतिक्रमण करने वाले कवि भी[६]।

काव्य मे बिल्हण रस और वक्रोक्ति को सर्वोच्च महत्व देते हैं[७]। माधुर्य गुण को वे काव्य मे आवश्यक मानते हैं। माधुर्यहीन कविता शोभित नही होती[८]। बिल्हण

---

१ वही, पृष्ठ २ २. विक्रमांकदेवचरितम्, १।१० ३. वही, १।११
४. वही, १।१२ ५. वही, १।१४ ६ वही, १।१५
७ वही १।२२ ८ वही, ४।२०

काव्य को सर्वसामान्य के समझने के योग्य वस्तु नही मानते । जो क्षुद्र कवि मूर्खमण्डलो मे अपनी प्रतिभा की धाक जमाते रहते है वे भला सत्कवियो के काव्य को क्या समझे[१]। बिल्हण के मत में महाकवियो के काव्य की शैली विशिष्ट प्रकार की तथा सामान्य जनो से अगम्य होती है। महाकवियो का विशिष्ट गुण हो उनके लिये अनिष्टकारक हो जाता है क्योंकि सभाओ मे सुलभ छोटी बुद्धि के कवि इन महाकवियो की उक्तियो का अर्थ समझने मे असमर्थ रहते हैं[२] । ऐसे कवि का काव्य विदग्धो के चित्त रूपी कषाय-पट्टिकाओ पर कसा जाता है और असाधारण सदुक्ति रूपी कष के द्वारा परीक्षित होकर यह सत्काव्य रूपी सुवर्ण उनके कण्ठ का भूषण बनती है[३] ।

बिल्हण कवित्व को राजत्व से भी ऊची वस्तु मानते हैं। जिस राजा के पास उत्तम कवि नही, भला उसे यश कैसे मिल सकता है[४]? राजा को चाहिये कि वह कवियो को नाराज न करें, नही तो युगयुगान्तर तक रावण की भाति उसकी दुष्कीर्ति बनी रहेगी[५] । बिल्हण का राजाओ से कहना है – "हे राजाओ, विद्युत् चपला-लक्ष्मी कभी स्थायी नही रहती । प्राण भी एक-न- एक दिन छूटेगे ही । इसलिये जो कवि लोग काव्यामृत से इस ससार मे रससृष्टि करके तुम्हे यशःशरीर देकर अमर बनाते हैं, उनकी आराधना करके उन्हे गर्वरहित होकर पूज्य स्थान मे नियुक्त कर दो । सत्कवि के प्रति सन्देह बन्धन रखने मे सकोच मत करो, क्योकि सत्कवियो की कृपा से ही आप लोगो की निष्कलक कीर्ति फैलती है[६] ।

आदर्श और नैतिक मान्यताएँ

बिल्हण गृहस्थाश्रम को धर्मरूपी वृक्ष मानते है, जिसका फल सन्तान है[७] । गार्हस्थ्य धर्म का मुख्य फल सन्तान-प्राप्ति है[८] । बिल्हण त्याग और अपरिग्रह को वरेण्य गुण मानते हैं । मनुष्य मे अधिकार लिप्सा नही होनी चाहिये–कर्तव्यभावना से ही उसे दायित्व को स्वीकार करना चाहिये[९] । राजा को भी त्यागी होना चाहिये, क्योकि "त्यागो हि नाम भूपानां विश्वसंवननौषधम् ।" (४।११०) ।

---

१. वही, १।१८ २. वही, १।२३ ३. वही, १।२४

४. विक्रमांकदेवचरितम्, १।२६ ५. वही, १।२७

६. वही, १८।१०६, १०७ ७ वही, २।२६

८. वही, २।६१ ९, वही, ३।३०, ३५-४०

दान देना भी बिल्हण के जीवन का आदर्श था । राजा के लिये दान देना आवश्यक है[1] । बिल्हण ने स्वय इस आदर्श को अपने जीवन मे उतारा था और उन्होने पर्यटन-काल मे प्रयाग मे पहुँचकर ब्राह्मणो को बहुत सा दान दिया था[2] । आगे चलकर भी उन्होने अनेक राजाओ से मिली हुई प्रभूत सम्पदा को बाट दिया था[3] ।

प्रेम के सम्बन्ध में

प्रेम सर्वव्यापी भावना है -ऐसा बिल्हण समझते थे । स्त्री और पुरुष मे ही नही समान लिंग के व्यक्तियो मे भी वयस्य भाव को बिल्हण प्रेम का उत्तम रूप समझते थे । प्रेमपात्र के बिना प्रेमी का हृदय क्षण-क्षण मे ही उत्कण्ठित हो उठता है[4] । प्रेम करने वाले मित्र एक दूसरे से बात करने मे ही प्रेम के कारण रोमाचित हो उठते है[5] ।

आस्था

बिल्हण शिव के भक्त थे[6], विष्णु मे भी उनकी दृढ आस्था थी[7] । किसी सम्प्रदाय से वे प्रतिबद्ध नही थे । उनकी कृष्ण[8], पार्वती[9], गणेश[9], सरस्वती[10], आदि देवी-देवताओ मे श्रद्धा थी । यहा तक कि तीर्थंकर जिनमे भी उनकी दृढ आस्था थी[11]। फिर भी उनकी विशेष श्रद्धा शकर मे ही थी । उनका विचार था कि यदि शकर की उपासना की जाय तो ससार मे कोई वस्तु दुर्लभ नही है[12] ।

ज्योतिष[13] तथा शकुनापशकुन मे बिल्हण का पूरा विश्वास था । गंगा मे उनकी बडी श्रद्धा थी । उनका विश्वास था कि गंगास्नान से सभी कालुष्य दूर हो जाते हैं[14]।

स्वभाव

बिल्हण के व्यक्तित्व के स्वाभिमान तथा गर्व सर्वोपरि वैशिष्ट्य हैं । उन्हे अपनी उपलब्धियो का सगर्व बोध था । अपनी जन्मभूमि,[15] अपने कुल,[16] अपने पूर्वज[17],

---

१. वही, ३।७१ २. वही, ३।६१ ३. वही, ३।१०३

४. विक्रमांकदेवचरितम्, ६।४ ५ वही, ६।४ ६. कर्णसुन्दरी, १।२ ७. वही- १।३

७. विक्रमाकदेवचरितम्, १।१ ८ वही, १।४ ९. वही, १।८ १०. वही, १।७

११. कर्णसुन्दरी, १।२ १२ द्रष्टव्य, विक्रमाकदेवचरितम्, ४।५९-६०, १८।३, ६८,१०८

१३. वही, २।८५, ३।४९, ५।८० १४ वही, १८।९२, १०४

१५. वही, १८।७०-७२ १६. वही, १८।७३-७४

१७. वही, १८।७५-८१

अपने शारीरिक सौन्दर्य[१], अपने पाण्डित्य[२] और कवित्व[३] पर बिल्हण को नाज था। स्वाभिमानी तो वे इतने थे कि अपने सामने किसी को कुछ गिनते नही थे[१]। अपने कवित्व पर वे स्वयं ही लट्टू थे। अपने सम्बन्ध मे उनका कथन है—

हंहो भाग्यनिधिर्दयितया देवस्य दग्धु. पुरा
पात्रं पुत्र इवस्वय विरचित. सारस्वतीना गिराम् ॥
साहित्योपनिषन्निषण्णहृदयः श्रीबिल्हणोस्या कविः
किं चैतत् किल भीमदेवतनय साक्षात्कथानायकः ॥कर्णसुन्दरी,१।१०

तथा— औचित्यावह मेतदत्र तु रसः काष्ठामनेनार्हति
व्युत्पत्तेरिदमास्पदं पदमिदं काव्यस्य जीवातवे।
एवं यः कवितुः श्रमः सहृदयस्त पुस्तकेभ्यः पठन्
सूक्तीरुत्पुलक. प्रमार्ष्टि निविडैरानन्दवाष्पोद्गमै. ॥ वही, १।११

बिल्हण ने अपने को अकलुषधीः, शिष्टोपकारव्रतपरमगुरु, सिद्धियो को प्राप्त करने वाला, पार्वती से बाल्य मे ही शब्द ब्रह्माभ्यनुज्ञा प्राप्त करने वाला तथा काव्यरूपी कल्पद्रुम का फल कहा है[२]। अपने लिये बहुवचन प्रयोग भी उनके गर्व का परिचायक है[३]।

स्वाभिमान तथा गर्व के साथ ब्राह्मण होते हुए भी बिल्हण में वीरता और क्षत्रियत्व की भावना तथा दर्प का भाव भी विद्यमान था। वे शौर्य और पराक्रम के उपासक थे। अपने महाकाव्य के प्रथम पद्य मे ही उन्होने मधुरिपु के दुष्टो का सर्वनाश करने वाले कृपाण की वन्दना की है[४]। बिल्हण को जहा-जहा तेजस्विता और वीर्य दिखाई देता था, वही वे अवनत शिर हो जाते थे। अपने आश्रयदाता के वे इसीलिये परमभक्त बन गये थे[५]।

बिल्हण वात्सल्यमय तथा स्नेही प्रकृति के थे[६]। विनोदशीलता भी उनके भीतर पर्याप्त थी[७]।

---

१. वही, १८।८१ २. वही, १८।८१, ८२, ८४-९० ३. वही. १८।८२, ८३, ८६
४. वही, १८।१०६, १०७, ११२६-२७ ५. कर्णसुन्दरी, पुष्पिका

१. विक्रमाकदेवचरितम्, १८।६, ११११८, १८।१००, ७२, १४।५७, १८।८१, ८२-८५, ८८
४. वही, १।१, ३।६६-६६, ६।६८ ५. वही, द्रष्टव्य —२।७४-७६, १७।४३,१७।८०
६ वही, १।१, ३।६६-६६, ६।६८ ७. वही, द्रष्टव्य २।७४, ७६, १७।४३, १७।८

जीवन के प्रति बिह्लण का दृष्टिकोण कर्मठ और उत्साही व्यक्ति का था। वे जीवन मे लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का साहचर्य चाहते थे। जीवन के अन्तिम दिनो मे कवि अध्यात्म और मोक्ष की ओर झुक गया था। उसे अपने कुछ दुष्कृत्यो पर पश्चात्ताप भी हो रहा था। उसकी मनोवृत्ति थी "कुवृत्ति से भरे हुए दुष्कर्म रूपी कन्या को मैंने धारण किया। अब ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करने वाला मेरा मन गगा नदी को चाह रहा है[1]।"

रुचि

काव्य, कला और संगीत से बिह्लण को परम अनुराग था। उनकी विशेष रुचि पाण्डित्य के अर्जन और शास्त्रार्थ मे थी[2]। वे शास्त्रार्थ मे अपना प्रतिद्वन्द्वी खोजते हुए न जाने कहो कहा भटकते फिरे थे। काश्मीर उस समय साहित्य, कला और विद्या का केन्द्र था। इसलिये उन्हे काश्मीर से बडा प्रेम था[3]। बिल्हण को नयी-नयी बातें सीखने तथा नये नये देशो को देखने का चाव था। नवीन के प्रति उनमे अथाह आकर्षण था। वे नये-नये राजाओ को देखकर नये-नये अनुभव करना चाहते थे[4]। और इसके लिये वे अपार कष्ट उठाते हुए भारत भर का खाक छानते फिरे। समग्र भारत का भ्रमण करने के पश्चात् भी बिह्लण का कहना था —"समग्र भुवन मे जहा-जहा गया, मुझे धन प्राप्त हुआ। अपनी सम्पत्ति को सज्जनों के उपयोग मे मैने लगाया। अच्छे-अच्छे विद्वानो से शास्त्रार्थ करने में कहां-कहा विजय नही मिलो? अब तत्वज्ञान मे प्रवीण होने के कारण प्रशसित काश्मीरी पण्डितों से मेरा शास्त्रचर्चा रूप विनोद शीघ्रता से हो यही मेरी कामना है[5]।

बिल्हण अत्यधिक शृगारी मनोवृत्ति के भी थे। एक ओर तो उनकी चेतना आदर्शोन्मुखी थी, दूसरी ओर युग की प्रवृत्तियो के अनुरूप उनका व्यक्तित्व शृगार और विलास के गहरे रंगो मे रंगा हुआ था। इसीलिये बिल्हण के महाकाव्य का नायक एक आदर्श पात्र होते हुए भी अतिशय कामुक है। अपनी भावी पत्नी का नाम मात्र सुनकर बिना उसे देखे ही वह कामपरवश बन जाता है[1]। एक अन्य प्रसंग मे वह अपने श्वसुर की मृत्यु पर काची मे जा रहा है। इस दुखद अवसर पर भी काची की ललनाएं उसके

---

१. विक्रमाकदेवचरितम्, ६।१३७ २. वही, १८।१०३
३. वही, १८।१-७४ ४. वही, १८।६८ ५. वही, १८।१०३
६ विक्रमाकदेवचरितम्, ५।४८, ५।८६, द्रष्टव्य ६।१-३, १०।३२-६०

लिये "सुन्दर करधनियो के शब्द रूप जयध्वनि के नगाड़े के शब्द से कामदेव को उत्साहित करने वाली तथा चंचल कटाक्ष रूपी बाणो की वृष्टि करने वाली हो गयी । अपने लाल अधर पल्लव से पलाश के लाल अधरपल्लवन को तिरस्कृत करने वाली नागरी ललना, अपने मुख मे ही विद्यमान सुपारी के टुकडे को मुख से ही सुग्गे के मुख मे देती हुई विक्रमादेव के प्रति चुम्बन की इच्छा को प्रकट करने लगी[1] ।" इत्यादि । श्वसुर की मृत्यु के प्रसग मे नायक के साथ इस प्रकार की घटनाओ का निबन्धन कवि की अतिशय शृ गारित प्रवृत्ति का द्योतक है ।

बिल्हण की रुचि बहुत कुछ अतिशयता की सीमा पर रहा करती थी । जब वे किसी के प्रशंसक बन जाते थे तो उसके अतिरिक्त उन्हे विश्व मे और कुछ दिखाई नही देता था । वे किसी की निन्दा भी करते थे तो खूब खुलकर । काश्मीर से उन्हें बहुत अधिक प्रेम था, विक्रमाकदेव के वे बहुत बडे प्रशंसक थे और गुजरात तथा वहा के लोगो के निन्दक[2] ।

संवेदना

बिल्हण रागात्मक कविहृदय वाले संवेदनशील कवि हैं, परन्तु हर्ष की भाति उनका भावुक हृदय अधिकाशतः प्रदर्शन की प्रवृत्ति के घटाटोप मे भटक गया है । ४।७४-८७ मे विक्रमाक का पिता की मृत्यु पर विलाप पाण्डित्यपूर्ण प्रशस्ति जैसा प्रतीत होता है । भावनाओ की अपेक्षित गहराई इस स्थल मे नही आ सकी । इसी प्रकार ७।६-१५ मे विरह वर्णन भी पिष्टपेषण मात्र बनकर रह गया है । यही स्थिति १५।७६-८३ में भी है । बिल्हण को भावप्रकाशन का अवसर मिला था और उनमे उसके लिये पर्याप्त क्षमता भी थी, पर उन्होने उसका पूर्ण सदुपयोग नही किया ।

पर्यवेक्षण तथा पाण्डित्य

बिल्हण ने बाण की भाति सम्पूर्ण देश मे कई वर्षों तक परिभ्रमण किया था और उन्होने अपने युग की सस्कृति को खुली आखो से देखा था । मानवजीवन की विभिन्न परिस्थितियो का भी उन्होने सूक्ष्मता से अवलोकन किया था । विक्रमाकदेवचरित मे प्रसूतिगृह[3], उत्सव[4], गर्भवती[5] को स्थिति आदि के सूक्ष्म चित्र बिल्हण की पर्यवेक्षण शक्ति के परिचायक है ।

---

१. वही, ६।११, १२-द्रष्टव्य ६।१२-२० भी । २. वही, १८।६७

३ वही, २।८२-८४ ४ वही, २।८६-९१

५. वही, २।६०-६३

बिल्हण अपने समय के उद्भट पण्डितो मे से एक थे यद्यपि उन्होने अपने महाकाव्य मे पाण्डित्य प्रदर्शन का प्रयास नही किया। फिर भी इतिहास[1] महाभारत[2] तथा व्यास-वाल्मीकि और कालिदास का गहन अनुशीलन उनकी कृति मे स्पष्ट है।

कल्पना

बिल्हण की कल्पनाशक्ति बाणभट्ट के ही समान उर्वर है। एक के पश्चात् एक दूरारूढ कल्पनाएं उनके काव्य मे आविर्भूत होती चली जाती हैं पर उनकी कल्पना माघ और भारवि की भाति चमत्कारिक है, कालिदास की तरह रसपेशल नही। परवर्ती कवियो की भाति बिल्हण मे अतिशयोक्ति के द्वारा मस्तिष्क को झकझोर देने का प्रयास प्रायः दिखाई देता है। "उस प्रवरपुर मे ऊंचे-ऊंचे मणियो से बने घरों की खिडकियो से शास्त्र व्याख्यान की शोभा से प्रेम करने वाले, जगत् भर मे न प्राप्त हो सकने वाले विद्वन्मण्डल पर, हर्ष से अत्यधिक रोमाचित हुए देवता लोग अवश्य ही फूलों की वृष्टि कर देते, यदि अपने गुरु बृहस्पति के लज्जित होने की आशंका उन्हे न होती[3]।" इस प्रकार की अतिशयोक्तिमय कल्पनाएं बिल्हण मे प्रायः मिलती हैं, जो हास्यास्पदता की सीमा तक पहुँच गयी है। वह राजा अपनी दिगन्त युद्ध यात्राओ मे दिक्पालो की पुरियो को लूटकर केवल दिग्गजो को ही नही ला सका, क्योकि वे दिग्गज इस राजा के विजयो हाथियो के सप्तपर्ण वृक्ष के समान गन्ध वाले मद के गन्ध से डरकर भाग गये थे[4]।" या "इन्द्र को विक्रमाकदेव का संग्राम देखने की उत्कट इच्छा हुई, परन्तु उनका घोडा उच्चैःश्रवा विक्रमाकदेव के धनुष को टंकार को सहन नही कर सका, तब इन्द्र ऐरावत पर सवार हुए, पर ऐरावत भी राजकुमार के युद्ध की भावना के द्वारा क्रोधयुक्त गन्धगजो की गन्ध से भयभीत होकर भाग जाने मे ही अपना कल्याण समझा[5]।" अथवा – "आकाशप्रागण तक पहुँचे हुए विक्रमांकदेव द्वारा बनवाये हुए उस मन्दिर को बचाकर चलने मे सूर्य को दो लाभ थे—एक तो विष्णु भगवान् का लाघना नही होता था, दूसरे उनके घोडो की श्रेणी मन्दिर से टकराकर अंग-भग को प्राप्त नही होती थी[6]।" इस प्रकार की कल्पनाएं बिल्हण मे पदे-पदे मिलती हैं[7]।

अनेक स्थानो पर उनकी कल्पना मे मौलिकता का समुन्मेष भी देखने को मिलता है। इन स्थानो पर उनकी पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति दब गयी है तथा उनकी संवे-

---

१. वही, १८।३७-६६ २. वही, ६।१०१-१०२ ३ वही, १८।४
४. वही, १।८४, २।११ ५. वही, ३।७५
६. वही, १७।१६ ७. द्रष्टव्य, वही, १७।३६, १७७, ८०, १३।४७ आदि।

दना ने सामने आकर कल्पना को प्रभविष्णुता के नये रंग दे दिये हैं। ऐसे स्थानों पर उनकी सूझ-बूझ भी सवेदनामय बनकर सरस हो गयी है। जैसे—"प्रातः काल हो जाने पर उत्सुकता से रसभरी मीठी बाते सुनने की अभिलाषा से, चकई की चोंच मे विद्यमान कमल के नाल के डोरे को मानो परस्पर वियोग कराने वाले किसी यन्त्र विशेष का यह सूत्र है — इस भ्रम से चकवे ने खीच लिया[1]।" बिल्हण की कल्पना जहा चमत्कार प्रदर्शन के चक्कर मे नही पडती, वहा वह सटीक उपमानो को ढूंढ कर कथ्य को प्रभविष्णु बनाती है। चालुक्यवंश के आदिपुरुष की कलाई पर बंधे हुए इन्द्रनीलमणि के कंगन को धर्मद्रोहियो को बाधने वाले नागपाश से उपमा[2] इस बाण का उदाहरण है। बाण के समान बिल्हण सुन्दर उपमाओ की लडी बाधने मे दक्ष है। जैसे "विक्रमाक के चले जाने के पश्चात् चालुक्य राज्य की स्थिति वसन्त या चैत्र मास के बिना धनुष के समान, मातो के बिना सीप के समान, और माधुर्य के बिना कविता के समान शोभित नही होती थी[3]।"

बिल्हण कही-कही एकदम नये ताजा उपमानो का प्रयोग करके कल्पना की मौलिकता का परिचय देते हैं। पश्चिम समुद्र मे डूबने वाले सूर्य के तेज को बिना छिलके की मसूर की दाल से उपमा[4] ऐसी कल्पना का निदर्शन है।

सौंदर्य–बोध

बिल्हण के सौन्दर्यबोध मे शारीरिकता तथा स्थूलता की प्रधानता है और मौलिकता का अभाव है। तथापि कर्णसुन्दरी से विक्रमाकदेवचरित मे आकर वे स्थूल से कुछ सूक्ष्म की ओर बढे हैं। कर्णसुन्दरी मे उनका सौन्दर्यबोध स्तनो, नितम्बो, बिम्बाधरो या चन्द्रमा, कमल, कदली, विद्रुम, मधूक जैसी पिटी-पिटाई चीजो मे ही केन्द्रित है[5]। भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से भी कवि ने पिष्टिपेषण ही किया है। विक्रमांकदेवचरित मे भाषा, भाव, छन्द आदि की योजनाओ मे सुघडता तथा सौन्दर्य का आविर्भाव हुआ है।

फिर भी बिल्हण के सौन्दर्य वर्णन भवभूति की भाति कवि की आन्तरिकता से उद्भूत नही है। उनकी सौन्दर्यचेतना शैली के माधुर्य[6], अलकारो के विन्यास, वक्रोक्ति

---

१. वही, १।३४, ११।५ भी द्रष्टव्य।

२. वही, १।४७, द्रष्टव्य- १।७६, ६६, १०८ भी।

३. वही, ४।१२०, द्रष्टव्य- १०।२, ११।१२-१४, ८४, ६४, १३।६५ भी।

४. वही, १०।३

५. कर्णसुन्दरी, १।२७, २।२, ३; १।४५-४७,२।४

६. द्रष्टव्य – विक्रमांकदेवचरितम्, ७।३, २०; १८।१५

के नियोजन, छंद[1] या अनुप्रास की मधुर झंकार या भाषा के सहज प्रवाह को सायास उत्पन्न करने मे ही सतर्क है। उनके सौन्दर्य के चित्र प्रायः शारीरिकता के अतिरेक से बोझिल हैं[2]। पर शारीरिक सौन्दर्य के वर्णन मे बिल्हण जहा श्रीहर्ष की भांति पाण्डित्य या कल्पना की उठक-बैठक दिखाने के फेर मे नही पडते, वहां वे वास्तविक सौन्दर्य का सृजन करने मे समर्थ हुए है। विक्रमाकचरित (६।५२-७२) मे स्वयवरा का वर्णन ऐसा ही चित्र है।

बिल्हण के लिए प्रकृति अपने आप मे आनन्ददायक या मोहक नही है। वह उनके काव्यजगत् मे प्रायः उद्दीपक के रूप मे ही आयी है। १० वे सर्ग मे वसन्त और उद्यान तथा ११ वें मे प्रात.काल - इनके वर्णनो मे प्रकृति को उद्दीपन के अत्यन्तसंकुचित घेरे मे बन्दी कर दिया गया है। १२ वे सर्ग मे ग्रीष्म तथा १३ वे मे वर्षा का वर्णन सुन्दर होते हुए भी प्रकृति के विशुद्ध अकृत्रिम सौन्दर्य का दर्शन नही कराता। उसमे कवि की दृष्टि नायकि-नायिका के प्रणयविलास पर ही केन्द्रित है। कही-कही पर उन्होने प्रकृति को विशुद्ध रूप मे चित्रित करने की चेष्टा की है, पर वहा भी वे कल्पना के ताने-बाने मे ही उलझ कर रह गये हैं, जैसे - ११।१२-१४ मे सान्ध्यचित्र में। बहुत थोडे स्थानो पर बिल्हण प्रकृति के सहज सौन्दर्य के चित्र दे सके है, जैसे - १४ वे सर्ग के शरद् वर्णन मे कही-कही। इससे उनके सौन्दर्यबोध की सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं।

उपसंहार

बिल्हण का व्यक्तित्व अनेक अशो मे बाण से समानता रखता है। बाण को भाति वे भी परम स्वाभिमानी तथा अपने उच्च कुल तथा आभिजात्य के बोध से युक्त थे। पाडित्य और देशाटन से भी उन्हे उतना ही प्रेम था, जितना बाण को। बाण की भाति ही उन्होने अपने युग को शास्त्रीय और साहित्यिक धरोहर का गहन अध्ययन किया था और लम्बे समय तक भारत भर मे पर्यटन करके अनेक अनुभव किये थे। बाण की भाति उनकी शैली मे भी एक प्रकार की स्निग्ध मसृणता (पालिश) है, जो उनके अभिजात और परिष्कृत व्यक्तित्व को द्योनक है। बाण की भाति ही अतिशयोक्ति - अत्य-

---

१ बिल्हण की छन्दोयोजना प्रशस्य है। कथा के अनुरूप छन्दो का प्रयोग करने मे कालिदास की भांति कुशल है। १४ वे सर्ग मे युद्ध की तैयारी के वर्णन मे रथोद्धता तथा १५ वे सर्ग मे अनेक वीरो के शखरव के प्रसंग मे वियोगिनी वृत्त का प्रयोग श्लाघ्य है।

२ द्रष्टव्य, वही, ८।४-८६

धिक प्रशंसा या निन्दा करने का - प्रवृत्ति भी उनमे है। उनकी कल्पना-शक्ति बाण के समान उर्वर है तथा उसमे मौलिकता भी मिलता है। फिर भी बाण की सहज सवेदना मानवीय दृष्टि तथा अन्त.प्रज्ञा उनमे नही है। सहजात प्रतिभा उनमे है, पर उसका सामयिक साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराओ के संकुचित घेरे मे पूर्ण उपयोग नही हो सका।

कल्हण

कल्हण-कृत "राजतरगिणी" का रचनाकाल ११।४८-४९ ई० है। राजतरगिणी के अध्ययन से अनुमान होता है कि इसकी रचना के समय कल्हण युवावस्था को पार कर चुके होगे। साथ ही कल्हण ने ११२१ ई० मे श्रीनगर मे हर्ष के पुत्र भिक्षाचर के सैनिको के अमानुषिक अत्याचारो का आखो देखा विवरण प्रस्तुत किया है, कल्हण ने सुस्सल के शासनकाल (१११२-२०) का भी जो विवरण दिया है, उसमे व्यक्तिगत अनुभव की छाया है। अतएव इस समय कल्हण कम-से-कम बच्चे नही रहे होगे। इन तथ्यो के आधार पर हम कल्हण का जन्म बारहवी शती के प्रारम्भ मे मान सकते है। इस अनुमान की पुष्टि कल्हण के इस उल्लेख से भी होती है कि उनके पिता चम्पक १०९८ ई० मे हर्ष के एक प्रभावशाली और पराक्रमी सैन्याधिकारी थे।

बारहवी शताब्दी काश्मीर के इतिहास मे अनवरत गृहयुद्ध, अव्यवस्था और उथल-पुथल का काल था। सम्राट हर्ष की निर्मम हत्या (११०१ ई०), डामरो का भयानक आतंक, सामन्तो और अमात्यो के षड्यन्त्र और कुचक्र; उच्चल, सुस्सल, रड्ड, सल्हण, भिक्षाचर आदि का राजसिंहासन पाने के दारुण प्रयत्न और उनका थोडे-थोडे समय के लिये राजा बनकर षड्यन्त्र, कुचक्र और राज्यलिप्सा के कारण पदच्युत होना - इन सब स्थितियो और घटनाओ को कल्हण ने बारीकी से और निकट से देखा था।

कल्हण ने अपने पिता चम्पक का उल्लेख श्रद्धा के साथ किया है, यद्यपि उन्हे चम्पक की हर्ष पर अत्यधिक श्रद्धा पसन्द नही थी (द्रष्टव्य राजतरगिणी, ११२३६५)। कल्हण ने अपने पिता को धार्मिक तथा नन्दिक्षेत्र तीर्थ के शिव का उपासक बताया है। कल्हण द्वारा इस तीर्थ का वर्णन वास्तविक और स्वयं के अवलोकन के आधार पर लिखा प्रतीत होता है (राजतरगिणी, १।३६), १।१०७ आदि)। सम्भव है, कल्हण बचपन मे अपने पिता के साथ वहा जाते रहे हो। कल्हण के पिता ११३६ ई० तक जीवित रहे, ऐसा अनुमान है।

कल्हण को अपने पिता के चरित्र और साहसिक कार्यो पर गर्व था। १०८९ ई० के कुछ पूर्व दरद के मोर्चे पर आन्तरिक फूट के समय भी हर्ष की ओर से लडते हुए

चम्पक ने सराहनीय पराक्रम दिखाया था। अपने जीवन और राजसिंहासन को सुरक्षित रखने के लिये अन्तिम असहाय संघर्ष करते हुए हर्ष के प्रति स्वामिभक्ति निभाने वाले हर्ष के इने-गिने विश्वासपात्र अधिकारियों मे से चम्पक एक थे। जीवन के अंतिम दिनो मे हर्ष को चम्पक पर ही सर्वाधिक विश्वास था और उसने चम्पक को अनुरोधपूर्वक अपने पुत्र को खोज लाने के लिये भेजा था (राजतरंगिणी, ७।१५८६)।

राजा हर्ष जब अपने जीवन की रक्षा के लिये भागा, तब उसके अंतिम दो सहायको-प्रयाग और मुक्त मे से मुक्त संयोगवश बच गया और हर्ष की अपने सहायको के साथ दारुण हत्या की गयी। यह मुक्त चम्पक का ही एक नौकर था। कल्हण को हर्ष के जीवन के अन्तिम दिनों की घटनाओ और तत्कालीन राजनीतिक षड्यन्त्रो की सही जानकारी मुक्त से ही सम्भवतः मिली होगी।

कल्हण ने अपने समकालीन राजनीतिक वात्याचक्र का जो सही झाकी राजतरंगिणी मे प्रस्तुत की है, उससे लगता है कि वे अपने समय की राजनीति मे सम्मिलित अनेक व्यक्तियो से व्यक्तिगत रूप मे परिचित थे पर उनके विरागी और निःस्पृह स्वभाव के कारण इनमें से किसी के साथ उनकी घनिष्ठता थी —ऐसा कहना कठिन है। कल्हण ने अपने समय मे विद्यमान लोगो का कच्चा चिट्ठा सामने रखने मे कोई हिचक अनुभव नही की, यहाँ तक कि अपने समय के कश्मीर के शासक जयसिंह की असफलताओ और दुर्बलताओ का निष्पक्षता के साथ उल्लेख करने से भी वे नही चूके। इससे लगता है कि कल्हण न तो राजनीति से सम्बद्ध किसी व्यक्ति के आश्रय मे थे, न उनकी इस प्रकार के किसी व्यक्ति से घनिष्ठता थी। फिर भी अपने समय के मंत्री रल्हण से उनके अच्छे संबंध प्रतीत होते हैं। कल्हण ने रल्हण की पाण्डित्य व ज्ञान-विज्ञान को प्रश्रय देने की प्रवृत्ति के लिये भूरि-भूरि प्रशंसा की है (राजतरंगिणी, ८।२४०४), साथ ही रल्हण की पत्नी, भाई तथा उसके शौर्यपूर्ण व धार्मिक कार्यो का भी पर्याप्त विवरण दिया है (राजतरंगिणी, ८।२४०५-१८, २८१३-३८, २९०९, ३३५५)। जयसिंह के दरबार के एक उच्चाधिकारी अलंकार से भी सम्भवतः कल्हण का व्यक्तिगत परिचय था (८।२४२३)। मंख ने अलंकार द्वारा आयोजित गोष्ठी मे कल्हण की उपस्थिति का उल्लेख किया है। कल्हण ने भी मंख का जयसिंह के विदेश मन्त्री के रूप मे उल्लेख किया है। सम्भवतः ये दोनो कवि एक दूसरे से परिचित थे।

कल्हण ने कनक नामक अपने पिता के एक छोटे भाई का उल्लेख किया है, जो संगीत प्रेमी हर्ष से संगीत सीखता था और हर्ष ने उसे एक लाख स्वर्णमुद्राए प्रदान की थी। कल्हण के इस पितृव्य ने प्रतिहारपुर मे बुद्ध की विशाल प्रतिमा को नष्ट करने के लिये उद्यत राजा हर्ष को रोका था। इससे कल्हण के परिवार की बौद्ध धर्म मे भी

आस्था थी—ऐसा लगता है। प्रतिहारपुर ही सम्भवतः कल्हण के पूर्वजो का मूल स्थान रहा होगा। कल्हण द्वारा प्रतिहारपुर के विस्तृत और यथार्थ विवरणो से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। कल्हण का पितृव्य कनक अपने आश्रयदाता हर्ष के दुःखद निधन के अनन्तर बनारस चला गया और धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगा (राजतरंगिणी ८।१२)।

मान्यताएं और आदर्श

काव्य के सम्बन्ध में

कल्हण प्रतिभा को कवि की दिव्य दृष्टि के समान मानते हैं, जिससे वह सर्वसंवेद्य भावो का प्रत्यक्षीकरण करता है[१]। कवि के लिये वे रागद्वेष से ऊपर उठकर वस्तुतथ्य के उद्घाटन की प्रवृत्ति को श्लाघ्य मानते है[२]। कवि द्रष्टा होता है—वह अतिक्रान्त काल को प्रत्यक्ष बना देता है[३]। कल्हण कवित्व को भौतिक समृद्धि की अपेक्षा प्रशस्य मानते हैं, क्योकि उससे कवि का अपना तथा दूसरे का भी यशःकाय स्थिर बनता है[४]। बिल्हण की भाति राजपद को कविकर्म के समक्ष कल्हण तुच्छ समझते हैं, क्योकि जिन महाप्रतापशाली राजाओ की भुजवन-रूपी वृक्षो की छाया मे यह समुद्र-परिवेष्टिता भूमि सर्वथा निर्भय थी, उन राजाओ का नाम भी कविकर्म के अनुग्रह के बिना स्मरण नही किया जा सकता[२]। कवि, कल्हण की सम्मति मे, समाज को आलोक प्रदान करता है। इसीलिये उन्होने कहा है—"हे बन्धु कविकर्म, हम कहाँ तक तुम्हारी स्तुति करें, तुम्हारे बिना तो जगत् अन्धा है[३]।" कल्हण काव्य मे शान्तरस को मूर्धन्य मानते हैं[४]।

---

१ न पश्येत् सर्वसंवेद्यान् भावान् प्रतिभया यदि।
तदन्यद् दिव्य-दृष्टित्वे किमिव ज्ञापकं कवे.॥ राजत० १।५

२ श्लाघ्यः स एव गुणवान् रागद्वेषबहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती॥ —वही, १।७

३. कोऽन्य. कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
कविप्रजापतीस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिन.॥ – वही, १।६

४. वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी सुकवेर्गुण.।
येनायाति यशःकार्यं स्थैर्यं स्वस्य परस्य च॥ —वही, १।३

५ वही, १।४६ ६. वही, १।४७ ६. वही, ७।७८६

आदर्श गुण तथा नैतिक मान्यताएं

कल्हण शिष्टतापूर्ण विनययुक्त वाणी के समर्थक थे। मधुरवाणी जीवन मे उनका आदर्श है। उनके अनुसार - "मधुरवाणी लक्ष्मी प्रदान करती है, यश बढाती है, पाप नष्ट करती है, शत्रु को भी अपना मित्र बना देती है, अपने अनुकूल सज्जनों को भी विरुद्ध नही होने देती और सभी अनर्थों का निवारण करती है। इस तरह कामधेनु स्वरूपा वाणी कौन-सा काम सम्पन्न नही करती और किस अनिष्ट को नष्ट नही करती[1]।

त्याग और अपरिग्रह का कल्हण की दृष्टि मे सर्वोपरि महत्व था। राजपद उनकी दृष्टि मे तुच्छ था—

धिग्राज्यं यत्कृते पुत्राः पितरश्चेतरेचरम्।
शंकमाना न कुत्रापि सुखं रात्रिषु शेरते॥
धिग्राज्यं यत्कृते सोऽपि सेहे प्राणान् रिरक्षिषु ॥ ८।११४६

राजपद की तुच्छता को समझकर राजा को एकदम अभिमान-विहीन होना चाहिये। कल्हण ने राजा चन्द्रापीड के विषय मे इसीलिये कहा "नाभिमानः शुभार्थिनाम्।" (४।७४)। कल्हण ऐसे राजा की भेंट एक चमार से करा सकते है, जो अपने आपको राजा से कम नही समझता और राजा निरहंकार होकर उसके समक्ष हार मानता है[2]। इस प्रकार का निरहकार तथा विनय ही कल्हण का आदर्श है। इनके अतिरिक्त अक्रोध तथा क्षमा को भी कवि महान् गुण मानता है –

सागसेऽपि न कुप्यन्ति क्षमया चोपकुर्वते।
बोधिं स्वस्येव नेष्यन्ति ते विश्वचरणोद्यताः॥ - १।१३९

कल्हण का कथन है—"बढ़े हुए क्रोध को भी जो रोक लेते हैं, ऐसे महापुरुष को प्रणाम है। उस मनुष्य से बढकर जितेन्द्रिय और कौन हो सकता है, जिसने ईर्ष्या रूपा विषूचिका को भी पचा लिया हो?[3]

कल्हण का दूसरा आदर्श अहिंसा का है। राजतरंगिणी में हिंसा और अत्याचार का क्रूर ताण्डव दिखाते समय भी कवि का शान्ति और अहिंसा के प्रति आग्रह स्पष्ट है। राजतरंगिणी के तृतीय तरंग मे मेघवाहन के राज्यकाल के वर्णन मे कवि ने स्पष्ट शब्दों मे अपने को अहिंसा का प्रबल पक्षधर घोषित किया है[4]।

---

१. वही, १।२३ २ राजतरगिणी, ४।६९-७० ३ वही, ३।८-८१
४. वही, ३।५१२

कल्हण इस संसार में निःसंग होने का उपदेश देते हैं। काम के आकर्षण से ऊपर उठना उनका आदर्श है। उनकी दृष्टि में कामजनित आकर्षण "एक कुतिया के पीछे दौड़ने वाले कुत्तों के आकर्षण के समान है[1]। अतएव सहृदय और ज्ञानी पुरुष को" इन मृगनयनियों से ममता और स्नेह हो ही नहीं सकता[2]।'

कल्हण के मत में राग और प्रेम रूपी वृक्ष की जड़ सात पातालों का भेद कर नीचे तक चली जाती हैं, उसका उन्मूलन करने के लिये उसके आधार स्वरूपद्वेष का विनाश अत्यन्त आवश्यक है। जो विवेकवान् पुरुष अपने विवेक बल से इस द्वेष रूपी दुर्धर्ष शत्रु को परास्त कर देता है, वह आधे क्षण में ही राग को भी नष्ट कर देता है। प्रेमियों के लिये अचूक इस औषधि को देखकर इसके द्वारा सर्व प्रथम ईर्ष्या को और उसके बाद राग को जो मनुष्य जीत लेता है, तो आशाएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं[3]।

कल्हण को पुंश्चली तथा विश्वासघातक नारियों से घृणा थी[4]। यही नहीं, कुछ तो अपनी विरागी वृत्ति के कारण तथा कुछ स्त्रियों के चंचलपन की प्रवृत्तियों के कारण कल्हण की सामान्यतः स्त्रीमात्र के ही प्रति धारणा अच्छी नहीं थी। उनका विश्वास था कि —

महाभिजनजातानामपि हा धिङ् निसंगतः।
सरितामिव नारीणां वृत्तिर्निम्नानुसारिणी ॥
स्रोतोधिराज्यमधिगम्य विराजमानात्।
सिन्धोः प्रसूय कमलाल्पपयो निकेते ॥
जाते सरस्यविरतं जलजे प्रसक्ता।
नार्यो महाभिजनजा अपि नीचभोग्या. ॥—राजतरंगिण,६।३१६-१७

'नारियाँ ही अपनी धूर्तता और कुशलता से पुरुष को अपना उपकरण या खिलौना बनाती हैं, नारियां पुरुष के उपकरण है, यह मानना तो भ्रान्ति ही है —

मिथ्योपकरणं नारीर्गणयन्ति नृणाजनाः।
परिणामे तु नारीणा क्रीडोपकरणं नराः ॥
द्वेषोन्मेषात् प्रसक्ताभिर्विरक्ताभिरसूयया।
के नाम नात्र कान्ताभिः कृतान्तस्यातिथीकृताः ॥

-राजतरंगिणी, ४।४२४-४२५

१ वही, ३।५१६
२. वही, ३।५१७
३. राजतरंगिणी, ३।५१९-२१
४. वही, ३।५००-५१७

कल्हण को स्त्रियों की निम्न प्रवृत्तियो से इतनी घृणा है कि वे कह उठते हैं—"धिङ् नारीर्नीचचेतसः ।" (राजतरंगिणी, ७।७२८)

परन्तु कल्हण के ये कथन पुंश्चली या कुलटा स्त्रियों के संबंध मे ही कहे गये हैं। स्त्रियो के महान् गुणों के कारण वे उनका आदर भी करते थे, यद्यपि भवभूति की भांति नारी की विराट् गरिमा तथा ममतामय मातृ रूप को समझने मे वे असमर्थ थे। कल्हण के मत मे एक साधारण स्त्री भी देवी के पद तक पहुँच सकती है[1]। वह अपनी दयालुता, माधुर्य, त्याग प्रेम धैर्य तथा संवेदना से भव्य भी बन सकती है[2]। फिर भी नारी कल्हण के लिये एक पहेली ही बनी रही। नारी मनोविज्ञान की गहराइयो में तल तक जाने में असमर्थ होकर उनको यही कहना पड़ा 'स्त्रियों के केशों मे जो कुटिलता रहती है, नेत्रो मे जो चंचलता रहती है और कुचों मे जो कठोरता रहती है, वे तीनो अवगुण उनके हृदय मे भी जाकर पिण्डाकार बन जाते हैं। इसी कारण उनका हृदय बडा गहन होता है और कोई उन्हे जान नही सकता। वे दुराचार तथा प्रेमियो की हत्या करती हुई भी खेल खेल मे चिता में कूद सकती हैं। इसी से इनपर कदापि विश्वास नहीं किया जा सकता[3]।

आदर्श राजा

कल्हण के मत मे जो राजा अपनी प्रजा को सताते हैं वे सपरिवार नष्ट हो जाते हैं और जो नष्ट हुए राज्य में सुख शान्ति की स्थापना करते हैं, उनकी राज्यलक्ष्मी कई पीढियो तक स्थिर रहती है[4]। आदर्श राजा को जितेन्द्रिय[5] निरभिमान तथा विनयी[6], होना परमावश्यक है। उसे धार्मिक मनोवृत्ति का होना चाहिये तथा देवताओं और गुरुओ की वन्दना करने के पश्चात् ही प्रतिदिन राजकार्य प्रारम्भ करना चाहिये[7]। ब्राह्मणो के लिये उसके मन में श्रद्धा होनी चाहिये तथा ब्राह्मणों को दान देना चाहिये[8]। प्रजा के हित के लिये अग्रहार, विहार, कूप, प्रपा आदि बनवाने के लिये प्रयत्नशील रहने वाले राजाओ की कल्हण ने प्रशंसा की है[9]। राजा के प्रातःकाल से लेकर रात्रि तक लोक कल्याण में लगे रहना चाहिये। उसे राज्य की स्थिति का निरीक्षण करने के लिये बाहर निकलना चाहिये। वह यदि अर्धरात्रि के समय भी शत्रुओ की कार्रवाही सुने तो तुरन्त चल पड़े और विप्लव को कुचल कर आर्त्त और निर्बल व्यक्तियों की सहायता के लिये सदैव तत्पर रहे[1]।

---

१. राजतरंगिणी, ८।८२ २. वही, ८।८३ ३. वही, ८।३६५–६६ ४. वही, १।१८८ ५. वही, २।१२१ ६. वही, ४,७०-७६ ७. वही, २।१२३-१३१ ८. वही, २।१२३ ९. वही, ३।८-८० । १०. राजतरंगिणी, ८।४५-५२

कवि कल्हण निःसंग और विरागी मन के व्यक्ति हैं। उनकी उदासीनता अपने जीवन की परिस्थितियों के कारण थी। कवि ने राजनीतिक जीवन के स्वार्थ और खोखलेपन को खुली आंखो देखा था, पर वह स्वयं राजनीति मे कूदा नहीं। इसलिये प्रत्येक स्थिति को निःस्पृहभाव से देखने की प्रवृत्ति उसमे पनप गयी थी। कल्हण को अपने ब्राह्मणत्व का गर्व था। ब्राह्मणों को भूदेव कहते हुए ब्राह्मणों की श्रेष्ठता प्रतिपादन यत्र-तत्र उन्होंने रुचि के साथ किया है। (द्रष्टव्य—राजतरंगिणी, ४।६३१, ६४०, ५।१६, ४६, ६।२, ८।२२२७ आदि)।

स्वभाव एवं जीवन के प्रति दृष्टिकोण

कविकल्हण अन्धविश्वास, अन्याय, और दम्भ-पाखण्ड का प्रबल विरोधी तथा स्वतंत्रचेतना वाला व्यक्ति था। सामाजिक और राजनीतिक विकृतियों का उद्घाटन करके वह जनता मे आत्मविश्वास और सद्विवेक जगाना चाहता था। उसकी काव्य रचना बहुत कुछ एक 'मिशन' को सामने रखकर हुई। स्वयं उदासीन होता हुआ भी अन्याय और अत्याचार के प्रतीकार के लिये आवाज उठाने मे कल्हण सबसे आगे था। उसका स्वर था—

जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनश्चेताः।
रक्षांस्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः॥ -८।६६

कल्हण स्वतन्त्रता का परम पुजारी था। उसने लिखा है—"परायत्ततया चित पशोरप्युपतप्यते।"

विनोद का हल्का-सा पुट कल्हण की प्रकृति मे था। पर्वगुप्त नामक मंत्री के दाढ़ी रंगने पर कल्हण चुटकी लेते हैं—'पर्वगुप्त ऊट के बाल जैसी पीली दाढ़ी मे राजा के समान केसर का लेप करने लगा'[1]। सेना के हारने पर वस्त्ररहित मंत्री तथा सैनिक किस प्रकार भागते हैं, इसके वर्णन मे कल्हण ने योद्धाओ पर छींटा-कशी की है[2]। इस प्रकार की मीठी चुटकियां लेने मे कल्हण सिद्धहस्त हैं। तृतीय तरंग मे विक्रमादित्य के आज्ञा पत्र को, जिसके अनुसार भिखारी मातृगुप्त को काश्मीर का राजपद दिया गया था, मार्ग मे अनेक कष्ट सहन करता हुआ, खीझता हुआ, मातृगुप्त काश्मीर तक ले जाता है तब जाकर आज्ञापत्र के खोले जाने पर उसे पता लगता है कि उसे राजा बना दिया गया है। यहां मातृगुप्त की स्थिति के चित्रण में बड़ा ही मीठा विनोद है। इसी प्रकार लल्ला नामक वेश्या के संबंध मे कवि ने कहा है—

---

१. राजतरंगिणी, ६।१२०   २. वही, ८।१८-८६

अवकाशः सुवृत्तानां हृदयान्तर्न योषिताम् ।
इतीव विहितो धात्रा सुवृत्तौ तद् बहिः कुचौ ॥ -राज० ३।६७५

क्षेमेन्द्र की भाति कुरीतियो और विकृतियो पर व्यंग्य प्रहार करने की प्रवृत्ति भी कल्हण मे थी। कायस्थो के जनता को चूसने और उज्वल के राज्य मे उनकी दुर्दशा का बड़े ही व्यग्यपूर्ण चित्रण कल्हण ने प्रस्तुत किया है[1]। जनता को ठगने वाले बनियों का चित्रण भी मनोरंजक है[2]।

परन्तु कुल मिलाकर कल्हण शान्त और तटस्थ प्रकृति के ही व्यक्ति थे। उनकी तटस्थता और निरपेक्षता के कारण उनमे किसी के भी प्रति पक्षपात सम्भव नही था। वे इस संसार की क्षणभंगुरता और नश्वरता का प्रत्यक्ष अनुभव करके वीतराग हो गये थे-

क्षणभंगिनि जन्तूना स्फुरिते परिचिन्तिते ।
मूर्धाभिषेकः शान्तस्य रसस्यात्र विचार्यताम् ॥ —१।२३

कल्हण शिव के परम भक्त थे[3]। शिवभक्ति उन्हे वंश-परम्परा तथा काश्मीर के धार्मिक वातावरण से विरासत मे मिली थी। काश्मीर शैव-दर्शन तथा शैव-सम्प्रदाय का गढ रहा है। कल्हण पर अपने प्रदेश की धार्मिक दार्शनिक प्रवृत्तियो का प्रभाव पडा था। उन्होने शैव-शास्त्र के आचार्य कल्लट का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया है। शैव-सम्प्रदाय का तन्त्र के साथ घनिष्ठ सबंध रहा है और कल्हण तन्त्रशास्त्र से भी परिचित लगते हैं, पर उन्होने पाखण्डी तान्त्रिको पर अनास्था प्रकट की है और उनपर व्यग्य प्रहार भी किया है (राजतरंगिणी ६।११, ७।२७८, २९५, ५२३, ७१२ आदि)। परन्तु कल्हण साम्प्रदायिकता से कोसों दूर थे। उनकी बुद्ध तथा बौद्ध धर्म मे श्रद्धा थी। राजतरंगिणी मे उन्होने अशोक से लेकर अपने समय तक के राजाओ को विहार तथा स्तूप आदि बनवाने के लिये प्रशसा की है। इसके अतिरिक्त उन्होने बोधिसत्व या बुद्ध का जनता के शास्ता के रूप मे अनेक स्थानो पर उल्लेख किया हैं। बौद्धो की भाति कल्हण का कर्मसिद्धान्त मे दृढ विश्वास था। यही नहीं, बौद्ध धर्म के अनेक सिद्धान्तो तथा पारिभाषिक शब्दो से कल्हण ने अपना परिचय प्रकट किया है। अपने समय के अन्य सम्प्रदायों के साथ भी कल्हण की पूरी सहानुभूति थी[4]। उन्होने जैन धर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करके अपने राज्य मे हिंसा बन्द कराने वाले मेघवाहन की प्रशंसा की है। नरसिंह[5]; तथा पार्वती[6], आदि देवी-देवताओ मे उनकी श्रद्धा थी।

---

१. वही, ८।८५-१०८ २. वही, ८।१३५-१५०, २१६-२१९
३. वही, १।१-३, १४।१
४ वही, १।१३४, ८।२५७४, द्रष्टव्य—कल्हण-दि पोयट हिस्टोरियन, पृ० ३
५. वही, २।१ ६. वही, ६।१

दिव्यशक्तियो तथा प्राकृतेतर घटनाओं मे कल्हण का विश्वास था। जलौक नामक राजा का नागसरोवर मे प्रवेश करके नाग कन्याओं के साथ सम्भोग[१]; विशाख नामक ब्राह्मणद्वारा रहस्यपूर्ण नाग-कन्याओ का दर्शन[२] तथा तक्षक नाग द्वारा सम्पूर्ण राज्य को जलाने का वृत्तान्त[३], ईशान का सन्धिमति के कंकाल का भाल पढना तथा उससे भावी घटना को जानकर शव को सुरक्षित रखना[४], देवी का दर्शन—इत्यादि घटनाओ के निबन्धन[५] मे कल्हण का अप्राकृतिक तत्वो पर विश्वास स्पष्ट है। मत्रशक्ति[६] तथा ज्योतिष[७] और शकुन[८] पर उन्हे विश्वास था।

पाण्डित्य तथा पर्यवेक्षण

कल्हण ने व्याकरण तथा काव्यशास्त्र का गहन अनुशीलन किया था। रामायण और महाभारत तो उनके रोम-रोम मे बस गये थे। राजतरंगिणी की रचना के लिये उन्होने अनेक इतिहास-ग्रन्थो का अध्ययन किया था। फिर भी उन्होने सबसे अधिक उद्धरण महाभारत से ही दिये हैं। कल्हण के ही समसामयिक कवि मंख ने कल्हण के विषय मे लिखा है कि पुरानी कथाओ के अध्ययन मे कल्हण की रुचि नि:सीम थी। इसके अतिरिक्त कल्हण ने अर्थशास्त्र, राजनीति[९], ज्योतिष तथा अन्य शास्त्रो - कामशास्त्र का भी अध्ययन किया था। पूर्ववर्ती काव्यो मे उनका रघुवंश और मेघदूत का अध्ययन निर्विवाद है। राजतरंगिणी के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि कल्हण ने बिल्हण के "विक्रमाकदेवचरित" को भी पूरी तरह से पढा था। राजतरंगिणी मे बिल्हण मे जीवन तथा बिल्हण द्वारा वर्णित ऐतिहासिक घटनाओ का ब्यौरा विक्रमांकदेवचरित के आधार पर ही दिया गया प्रतीत होता है। कल्हण ने कही-कही बिल्हण की शब्दावली भी ली है (द्रष्टव्य राजतरंगिणी —स० स्टीन, भूमिका, पृष्ठ १०)। बाण और उनकी रचनाओ से भी कल्हण परिचित प्रतीत होते है (वही, पृष्ठ ११)।

कल्हण ने ऐसी अनेक वनस्पतियो या पशु-पक्षियो का वर्णन किया है जो काश्मीर मे नही पाये जाते। जैसे - आम्रवृक्ष, खर्जूर वृक्ष, शेर, मगर आदि। यह प्राचीन ग्रन्थों के गहन अध्ययन तथा उनमे वर्णित तथ्यो को हृदयंगम कर लेने से ही सभव हो सका था। कल्हण ने अपने युग तथा समसामयिक परिस्थितियो को बडी गहराई से देखा था। क्षेमेन्द्र की भाति समाज की विकृतियो को उन्होने जड से पकडा था। राजा जयापीड का

---

१. वही, १।१११ २. वही, २।२०६–२६० ३. वही, २।८६-११०

३. वही, ३।४०८-२८ ४. वही, ७।१७-८०, ४।५८१, ८।१७७८

५. वही, ५।६२-६०५ ६. वही, ७।१७१८-२०

७. वही, ७।१७२२ ८. ८।११४-११५

कायस्थो के बहकावे मे आना तथा कायस्थो के द्वारा राजा और प्रजा को छल से लूटना[1], स्वार्थी मंत्रियो का गुणवान् राजा को हटाकर मूर्ख व्यक्ति को राजा बना देना[2], विट और धूर्तों का अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये राजा को भोगो मे आसक्त करना[3], मन्त्रियो का राज्य के लोभ से राजा को मार डालना[4], तथा राजाओ का पैशाचिक अर्थोन्माद[5],–इस प्रकार के प्रसगो मे कल्हण की यथार्थवादी तटस्थ चेतना के साथ सूक्ष्म पर्यवेक्षण के भी दर्शन होते है। मानव-मन की भावनाओ का सूक्ष्म ज्ञान कल्हण को था। ४।१७-३३ मे नारी के प्रति पुरुष के आकर्षण व काम के चित्रण मे यह स्पष्ट है।

संवेदना

विरागी होते हुए भी कल्हण संवेदनाशील प्रकृति के थे। आर्त्तजनो के लिये उनके मन मे प्रगाढ सहानुभूति थी। युधिष्ठिर नामक राजा के राज्यच्युत होने पर उसके परिवार के लोगो की दुर्दशा के करुणाजनक चित्रण[6] तथा चन्दक[7] और मातृगुप्त[8] की दु.स्थिति के वर्णन मे हम देखते हैं कि कवि का हृदय किस प्रकार करुणा से भर आया है। कल्हण जैसे सहानुभूतिशील कवि ही एक चर्मकार को एक राजा के समकक्ष खडा कर सकते थे[9]। कल्हण ने तटस्थ होकर अपने समकालीन जीवन की विषमताओं को देखा था, इसीलिये अपने समय के अन्य कवियो की भांति वे सामन्तीय वैभव और विलास के संकुचित क्षेत्र मे ही विचरण नही करते थे। वे भर्तृहरि की भांति बेलाग स्वर मे यह भी कह सकते थे– 'जो व्यक्ति अपने घर मे भूखे मरते बच्चो, पराये घर सेवा करने वाली स्त्री, दुःख सहते हुए सच्चे मित्र, क्षुधा से पीडित दुधारू गाय, रुग्णावस्था मे पथ्य न मिलने से मरते हुए पिता तथा शत्रु से पराजित होते हुए स्वामी को देख चुका हो, उसे इससे बढकर नरक मे और कौन-सी यातना सहनी पडेगी[10]? मूर्ख संसारी लोग सैकड़ों बार औरों की मृत्यु के समय रोती हुई चचल चित्त वाली स्त्रियो को अपना आश्रय खोजते तथा चिता के पास खड़े पुत्रो को स्वत: प्राप्त होने वाली सम्पत्ति के लिये परस्पर झगडते देखकर भी अपनी स्त्री और पुत्र के लिए कुत्सित कर्मो द्वारा धन-संचय करते है - यह कितने आश्चर्य की बात है[11]?

कल्हण की निःस्पृहता मे सन्तो के जैसी निःस्वार्थ करुणा मिली हुई है।

---

१. राजतरंगिणी, ४।६१९-६३६ २ वही, ५।२८९-१९९
३. वही, ३६८-७८ ४. वही, ६।१०५-६.१६५,१६७
५. वही, ७।११२५-३६ ६. वही, १।३६७-७०
७. वही, २।२६-४३ ८. वही, ६।१८१
९. वही, ४।७० १०. वही, ७।१४१४ ११. राजतरंगिणी, ७।७२४

कल्पना

परिस्थिति के अनुरुप बिम्बो के सर्जन मे कल्हण की कल्पना दक्ष है। सन्धिपति के द्वारा निःस्पृह होकर राज्य छोडने के लिये साप द्वारा केचुल छोडने की उपमा[1], इसका उदाहरण है। भव्य काव्यात्मक कल्पनाएं भी कल्हण मे यदा-कदा मिल जाती हैं, यद्यपि उनकी विषय-वस्तु इसके लिये विशेष अवकाश नही देती। जैसे-शिशिर के वर्णन मे—"अत्यन्त तीव्र ठण्ड से जड बनी दसो दिशायें रात्रि के प्रबल अन्धकार रूपी वस्त्र से अपना शरीर ढकती हुई दिखने लगी' ठण्डक मे भयभीत भगवान् सूर्य समुद्र मे रहने वाले बडवानल का आश्रय पाने की इच्छा से जल्दी ही समुद्र मे प्रविष्ट होगे—इस बात को सूचित करते हुए शिशिर ऋतु के दिन भी छोटे होने लगे[2]। कल्हण की कल्पना वाल्मीकि के सदृश है, जो सरल प्रतीको और बिम्बो द्वारा भी कई बार मन को गहराई तक छू देती है।

असमाप्त-जिगिषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जलत्कृत्स्न नो सन्ध्यां भजते रविः ॥ - ४।४४१

इन पंक्तियों में यह बात देखी जा सकती है। इसी प्रकार अपने भाइयो के द्वारा आक्रान्त हर्ष के वर्णन में भी –

स्वदेहमामिषीभूतं स भ्रात्रोः श्येनयोरिव।
निष्पक्षपक्षप्रतिमो ररक्षावंगतश्चरन् ॥ - ७।८२३

कभी-कभी कल्हण की कल्पना बहुत दूर की कौडी ढूढ लाती है, पर अपनी सहजता को वह नही छोड़ती। नया राजा उच्चल कुछ दिन ऐसा बना रहा कि उसके कोप तथा प्रसन्नता का पता ही नही लगता था, जैसे मन्थन के पूर्व क्षीरसमुद्र के भीतर विद्यमान विष तथा अमृत का पता नही लगा था[3]। अथवा –"उच्चल के सुवर्णसदृश गौरवर्ण के अंगो मे घातको की कई तलवारें एक साथ घुस गयी। इससे ऐसा लगा कि जैसे सुमेरु पर्वत के शिखरों मे बड़ी-बडी नागिने घुस पडी हो[4]। दोनो ही स्थलो मे उपमाएं परिस्थिति को पूरी तरह से उभार कर सामनेरख देती हैं। यह विशेषता कल्हण की कल्पना में सर्वत्र विद्यमान है।

---

१. वही; २।१६० २. वही, २।१६९-७०

३. राजतरंगिणी, ८।२ ४. वही, ८।३१०

सौन्दर्य-दृष्टि

कल्हण का आकर्षण कुछ-कुछ अशरीरी सौन्दर्य के प्रति है, यद्यपि वह इतना तीव्र नही, जितना हम भवभूति में पाते हैं। उनके सौन्दर्यबोध में मांसलता नही हैं। इस संसार मे परिव्याप्त अनन्त सौन्दर्य के खण्ड-खण्ड प्रतिमानो में कालिदास कीभांति कल्हण की रुचि नही। प्रकृति ने भी उन्हें कभी विशेष अभिभूत नही किया। कल्हण का विरागी मन शरीर और हृदय की सुन्दरता और सरसता में नही रमा।

उपसंहार

कल्हण अपने समकालीन कवियो के बीच एक विशिष्ट व्यक्तित्व है – विशिष्ट इसलिये कि एक ओर तो वे सामन्तीय कविता के सर्जकों के व्यक्तित्व की घोर विलासिता और मांसलता से उबरे हुए हैं, दूसरी ओर पैनी यथार्थवादी चेतना और तटस्थ विश्लेषण की प्रवृत्ति – जो बिरले ही संस्कृत कवियों मे मिलती है, उनके व्यक्तित्व में विद्यमान है। यद्यपि कल्हण की कुछ सीमाएं भी हैं, जिनको ऊपर इंगित किया गया है, पर अपनी इन बिरली विशेषताओ के कारण मध्य कालीन कवियो मे कल्हण के व्यक्तित्व की अपनी गरिमा है।

तृतीय खण्ड

उत्तर मध्ययुग के कवि

अध्याय-१

सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

बारहवीं शताब्दी के उपरान्त मुगलशासन की स्थापना से इस देश के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक संस्तर मे भारी परिवर्तन हुए। सांस्कृतिक दृष्टि से यह उथल पुथल का युग रहा और इस्लाम के प्रचार के साथ-साथ इस देश मे धीरे धीरे एक नयी संस्कृति पनपी।

परन्तु देश के आधे से कम भाग पर ही प्रायः मुस्लिम शासन रहा। दक्षिण-भारत लगभग स्वतत्र रहा। विजयनगर, उड़ीसा, कामरूप, मेवाड आदि प्रदेशो मे हिन्दू राजा बहुत शक्ति शाली रहे और ये राज्य अत्यन्त समृद्ध भी बने रहे तथा इनमे साहित्य, कला और संस्कृति का विशुद्ध भारतीय रूप पल्लवित होता रहा।

सामाजिक दशा

मुसलमानो के शासन मे हिन्दूओ की स्थिति शासित और पददलित जैसी होती गयी थी। औरंगजेब और अलाउद्दीन जैसे शासको ने हिन्दूओं को हर प्रकार से निर्बल और निर्धन बनाने का प्रयास किया, जिससे वे अपने आपको एकदम हीन अनुभव करें और कभी भी विद्रोह की आवाज न उठा सकें। अल्पसख्यक मुसलमानो को हर प्रकार की सुविधाएं और ऐश्वर्य की सामग्री प्राप्त थी जबकि उत्तर भारत को हिन्दुओ को प्रायः इस युग मे लूटखसोट और शोषित किया जाता रहा। धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बनने पर जबरजस्त प्रलोभन सामने होते हुए भी अधिकांश हिन्दू जनता ने कष्ट और असहायता की स्थिति मे रहकर भी धर्मपरिवर्तन नही किया। इस्लाम के प्रभाव और मुसलमानो के आतंक से जहां हिन्दू जनता ने अपने आपको कष्ट की स्थिति मे असहाय अनुभव किया, पर्दे, सती, बालविवाह आदि की प्रथाएं समाज मे अधिक प्रचलित हुई, वही सामाजिक स्तर पर एक नयी लहर भी आयी। जाति, वर्णभेद, आदि की प्रथाओ को दूर करने के लिये कई सामाजिक सुधारको और धार्मिक नेताओ ने प्रयत्न किये। कबीर, तुलसी, नानक आदि ने हिन्दू जनता मे एक नयी स्फूर्ति लाने का प्रयास किया।

धार्मिक स्थिति –

इस्लाम के प्रभाव से भारत के धार्मिक संसार में भी उथल पुथल हुई। वज्रयान और शाक्त सम्प्रदाय की गुह्य साधनाओ, मीमांसकों के कर्मकाण्ड आदि की अपेक्षा

इस्लाम अधिक व्यावहारिक था। साथ ही इस्लाम स्वीकार करने पर कोई भी हिन्दू जजिया (धार्मिक कर) तथा अनेक अन्य असुविधाओ और अत्याचारो से मुक्त हो सकता था और वह शासक वर्ग का अग बन सकता था। इस्लाम मे अस्पृश्यता या ऊच-नीच का भेद-भाव भी नही था। ऐसी स्थिति मे इस्लाम के समक्ष हिन्दूधर्म को टिकाये रखने के लिये उसके परम्परागत स्वरूप मे परिवर्तन की आवश्यकता थी, और यह कार्य इस काल के ज्ञानदेव, नामदेव, कबीर, नानक, तुकाराम, रामदास, रामानन्द आदि धार्मिक सुधारको ने किया। इस प्रकार हिन्दू धर्म मे इस्लाम के प्रभाव से नव जीवन का संचार हुआ। यही नही, हिन्दू धर्म की इस जागृति ने सांस्कृतिक समन्वय का भी सूत्रपात किया और इस्लाम पर हिन्दू नेताओ के व्यक्तित्व और विचारधारा का प्रभाव पडा।

बौद्ध धर्म पहले ही मृतप्राय हो चुका था। वैष्णव सम्प्रदाय तथा भक्ति आन्दोलन का बहुत अधिक प्रभाव इस युग की धार्मिक गतिविधि पर रहा। बंगाल मे चैतन्य और दक्षिण मे आलवर सन्तो ने भक्ति की धारा से समाज को स्नपित कर दिया।

कला –

मुसलमानो के सम्पर्क से वास्तुकला, चित्रकला और संगीत आदि क्षेत्रो में नयी शैलियो का विकास हुआ। मुसमान शासको ने भारतीय वास्तुकला का आधार लेकर अनेक भवन; मीनारे व मस्जिदे बनवाई, संगीत के क्षेत्र मे ख्याल, ठुमरी, आदि अनेक नयी गायन-शैलियो और नये वाद्यो का आविष्कार हुआ। इसी प्रकार चित्रकला में राजस्थानी शैली का विकास हुआ।

विजयनगर, उड़ीसा आदि स्थानो पर विशुद्ध भारतीय कला की परम्पराबनी रही।

साहित्यिक परम्परा और साहित्यिक वातावरण

इस युग मे अपभ्रंश का प्रचार साहित्य के क्षेत्र मे कम होता गया और उसके स्थान पर हिन्दी बंगला, उर्दू आदि भाषाओ मे साहित्यनिर्माण होने लगा। अमीर खुसरो, कुतुबन, मंझन, जायसी, खानखाना, रसखान आदि मुस्लिम और सूफी कवि हिन्दी मे हुए। वीर गाथाकाल मे चन्दबरदाई जगनिक, मधुकर आदि और उसके पश्चात् भक्तिकाल मे ब्रजभाषा और अवधी के सर्वश्रेष्ठ कवि इस युग मे हुए।

इस युग के संस्कृत कवियो मे रूप गोस्वामी ने (१४९०-१५५३ ई०) ने विदग्धमाधव, ललितमाधव, दानकेलिकौमुदी आदि नाटक तथा हंसदूत, उद्धवसदेश, यमुनास्तोत्र, गौरागस्तवकल्पतरु आदि काव्यो तथा उज्ज्वल नीलमणि और नाटक-चन्द्रिका

जैसे श्रेष्ठ काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के ग्रन्थो की रचना की। जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने शैवदर्शन तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने वेदान्त को काव्यशास्त्र मे प्रतिष्ठापित किया उसी प्रकार काव्यशास्त्र मे चैतन्य सम्प्रदाय के दर्शन को स्थापित करने का श्रेय रूपगोस्वामी तथा जीवगोस्वामी को है। कवि कर्णपूर (जन्म१५२४ ई०) ने चैतन्यचन्द्रोदयनाटक तथा आनन्द-वृन्दावन चम्पू और अलंकारकौस्तुभ, चमत्कारचन्द्रिका जैसे अलंकारशास्त्र के ग्रन्थो की रचना की। १२० ग्रन्थो के रचयिता महान् दार्शनिक कवि वेदान्तदेशिक (१२६८-१३६६ ई०) का नाम भी अविस्मरणीय है। पन्द्रहवी शती मे वामन भट्टबाण राजा वेमभूपाल की सभा के कवि थे। सोलहवी-सत्रहवी शती मे दक्षिण मे तंजौर के राजाओ के दरबार मे अनेक अच्छे कवि हुए। इनमे लगभग सौ ग्रन्थो के निर्माता, काव्य-शास्त्र व दर्शन विशेषतः मीमांसा के प्रकाण्ड पण्डित, कुवलयानन्द जैसी कृति के यशस्वी लेखक तथा भट्टोजी दीक्षित जैसे विद्वानो के गुरु अप्पय दीक्षित विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

विजयनगर के राजाओं के आश्रय मे अनेक विद्वान् तथा कवि रहे। वेदो के महान् भाष्यकार सायण तथा पाराशरमाधवीय के रचयिता माधव यहा हुए। विजयनगर का राजा कृष्णदेवराय (१५०६-१५२६ई०) स्वयं अच्छा कवि और काव्य मर्मज्ञ था। उसने उषापरिणय नाटक, जाम्बवतीकल्याण तथा तेलगु मे कुछ काव्यो की रचना की। तिरुमलाम्बा ने अपना साहित्यिक जीवन कृष्णदेव राय के आश्रय मे ही प्रारम्भ किया, और उसके पश्चात् वह अच्युतराय के शासनकाल मे भी बनी रही। विजयनगर के राजाओ के आश्रय मे ही डिण्डिम वश के कवि हुए, जिनकी परम्परा अतिशय विशाल है। तंजौर के नायक वशीय राजाओ मे रघुनाथ नायक साहित्य और कला को प्रश्रय देने मे सबसे अग्रणी रहा। उसका मंत्री गोविन्द दीक्षित स्वयं अच्छा विद्वान् तथा कवि था तथा उसकी पत्नी कवयित्री रामभद्राम्बा ने "रघुनाथाभ्युदय" काव्य की रचना की। रघुनाथ सगीत का महान् प्रेमी था, उसने एक नये प्रकार की वीणा का आविष्कार किया तथा संगीत-सुधा और भारतसुधा नामक सगीत और नृत्य के ग्रन्थ लिखे। पारिजातहरण, वाल्मीकिचरित, अच्युतेन्द्राभ्युदय, गजेन्द्रमोक्ष, नताभ्युदय, रुक्मिणीकृष्णविवाह, यक्षगान, रामायणसारसग्रह आदि उसकी अन्य रचनाए है। रामभद्राम्बा के अतिरिक्त सरस कविता की साम्राज्ञी मधुरवाणी रघुनाथ नायक के दरबार मे हुई, जिसके रामायण की कथा पर मधुर ललित शैली में १४ सर्गों मे एक महाकाव्य की रचना की। उसके मंत्री गोविन्द दीक्षित ने साहित्यसुधा नामक एतिहासिक काव्य लिखा। गोविन्द दीक्षित के पुत्र यज्ञनारायण दीक्षित और वेंकटेश मखी परम विद्वान् और कवि हुए। वेंकटेश मखी ने साहित्य साम्राज्य काव्य तथा अन्य ग्रन्थो की रचना की। यज्ञनारायण के साहित्य-

रत्नाकर काव्य और रघुनाथाभ्युदय नाटक प्रसिद्ध हैं।

अप्पयदीक्षित और गोविन्द दीक्षित के समकालीन श्रीनिवास दीक्षित को १८नाटक और ६० काव्यो का रचयिता माना गया है। प्रसिद्ध कवि राजचूडामणि दीक्षित इसका पुत्र था, जो तंजौर के रघुनाथ के आश्रय मे ही रहा। उसने मीमांसा तथा अन्य शास्त्रो पर अनेक ग्रन्थ लिखे और रुक्मिणी कल्याण, कंसवध, वृत्तरत्नावली, साहित्यसाम्राज्य आदि अनेक काव्य-नाटक ग्रन्थो की रचना की। तंजौर के राजाओ एकोजी (१६२५-८६ ई०), शाहोजी, सरभोजी आदि के आश्रय मे असख्य कवि हुए।

आन्ध्रप्रदेश में प्रतापरुद्र (१२६३-१३२३) ने संस्कृत और तेलगु के अनेक कवियो को आश्रय दिया। विद्यानाथ ने उसके आश्रय मे काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रतापरुद्रयशोभूषण की रचना की। रसार्णव-सुधाकर तथा कुवलयावली नाटिका का रचयिता शिंगभूपाल (१३८६-१४१२ ई०) भी कवियों और पण्डितो का महान् आश्रयदाता था। दक्षिण मे उपरिलिखित रामभद्राम्बा, मधुरवाणी तथा तिरुमलाम्बा के अतिरिक्त वरदाम्बिकापरिणयचम्पू: की रचयित्री वरदाम्बिका, मधुराविजय जैसे श्रेष्ठ ऐतिहासिक महाकाव्य की कवयित्री गंगादेवी (१४ वीं शती), तथा अनेक काव्यो की लेखिका त्रिवेणी और ज्ञानसुन्दरी आदि कवयित्रियां हुई।

इस प्रकार दक्षिण मे तमिल, तेलगु आदि भाषाओ के साथ राजकीय आश्रय मे संस्कृत काव्य रचना पूर्ववत् प्रचलित रहा। उत्तर भारत मे भी सस्कृत कवि होते रहे और पुराने कथानको व पुरानी शैली पर बड़ी संख्या मे महाकाव्यो और नाटको की रचना होती रही। पर इन काव्यो व नाटकों मे नूतन युगबोध तथा युग को नयी दिशा दे सकने की सामर्थ्य नही हैं, न ही इस काल के सस्कृत कवियों मे वाल्मीकि, कालिदास आदि जैसा सन्दर्शन या कवि दृष्टि ही पायी जाती है।

संस्कृत कवि का परिवेश-ग्रहण

सस्कृत का कवि इस युग के परिवर्तनो मे अपने आप को पूरी तरह ढाल नही सका। उसके सामने अतीत के दरबारी साहित्य की परम्परा थी, जिसमे वह रचा पचा था। पर दूसरी ओर लोकभाषाओ मे जो जनता का साहित्य विकसित हो रहा था, उसकी भावना को वह पूरी तरह अपने भीतर विकसित नही कर सका। इसमे एक तो रूढिवादिता और अतीत की परम्पराओ से मोह भी बाधक था और साथ ही संस्कृत का सामान्य जनता की भाषा न रह जाना भी। सस्कृत पिछली कुछ शताब्दियो से प्रायः शिष्ट और सुसंस्कृत और सम्पन्न रसिको की भाषा ही रह गयी थी और इसी वर्ग का साहित्य उसमे लिखा भा जा रहा था। इस काल में जबकि सांस्कृतिक क्षेत्रों में अनेक

नूतन तत्व सामने आये, संस्कृत का जनभाषा के रूप मे पुनः अवतरण सम्भव नही था। संस्कृत मे पुराने ढंग पर रचनाए होती रही। पौराणिक कथाओ पर लिखे गये महा-काव्यो[1], मेघदूत आदि के अनुकरण पर लिखे गये सन्देश काव्यो[2] या शृंगारिक पुस्तको या स्तोत्र काव्यों की पुराने ढर्रे पर बहुत बड़ी मात्रा मे इस युग मे सृष्टि हुई। यद्यपि इस युग के संस्कृत कवि बदली हुई परिस्थितियो से प्रभावित हुए है। पर जीवन को व्यापक परिप्रेक्ष्य मे देखने की दृष्टि उनमे नही रही। वे युगीन चेतना से प्रभावित हुए, पर उनमे से कोई युगप्रवर्तक नही बन सका। तुलसी की रामायण या कबीर की उल-टबासियो की टक्कर की कोई चीज इस युग मे सस्कृत मे नही आयी।

फिर भी नये मूल्यो को परिनिष्ठित बनाने का-नूतन उद्भावनाओं को अतीत के सन्दर्भो से जोडकर सुसंस्कृत रूप मे प्रस्तुत करने का कार्य सस्कृत भाषा और संस्कृत के कवियो ने इस युग मे भी सम्पन्न किया। चैतन्य का भक्ति सम्प्रदाय जनता के लिये जनता के ही बीच पनपा, और सवृद्ध हुआ, पर उसे सैद्धान्तिक और परिष्कृत रूप मे संस्कृत के आचार्यों—रूपगोस्वामी और उनके शिष्यो ने प्रस्तुत किया। रामानन्द, रामानुज और वल्लभ सम्प्रदाय के साथ भी यही स्थिति है। सस्कृत के पण्डितो ने फारसी पढी, मुगल दरबार मे स्थान प्राप्त किया और हिन्दूत्व के नवीन उन्मेष मे भी योग दिया। फारसी की युसुफजुलेखा जैसी रचनाओ को सस्कृत मे अनुवाद हुआ और सस्कृत से असंख्य ग्रन्थो को फारसा मे अनुदित करने मे संस्कृत पण्डितो का हाथ रहा। शास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र मे मौलिक चिन्तन का युग समाप्त हो चुका था। यह टीकाओ, शास्त्रार्थ और वादगोष्ठियो का युग था। इस युग मे काव्यशास्त्र और दर्शन के बड़े-बड़े प्रकाण्ड पण्डित हुए। कवि के लिये शास्त्रीय पाण्डित्य का अर्जन आवश्यक माना गया था। सस्कृत के कवि का व्यक्तित्व शास्त्राध्ययन, शास्त्रार्थ और पाण्डित्यपूर्ण चर्चाओ के वातावरण मे ही विकसित होता था। ऐसी स्थिति मे वह जीवन को उतनी स्वाभा-विकता मे नही ले पाता था, जितना कि सामान्य जीवन के अधिक निकट रहने वाला लोकभाषाओ का कवि। इस युग के सभी कवियो पर शास्त्रीय अध्ययन की छाप है। अनेक कवि तो ऐसे हैं, जिनका काव्य अनुकरण या पाण्डियत्यप्रदर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिन कवियो मे वास्तविक सर्जक प्रतिभा का कुछ अंश मिलता है। उनमे हम नीलकण्ठ दीक्षित और पाण्डितराज जगन्नाथ का नाम ले सकते हैं।

---

१. द्रष्टव्य–History of Sanskrit Literature: S.K. De, P. 330-75 तथा–संकृस्त साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३७३-३८६।

२. वही–पृ० ४७१–४८०।

अध्याय–२

नीलकण्ठ दीक्षित

नीलकण्ठ दीक्षित रुक्मिणी-परिणय तथा अनेक दार्शनिक और काव्यशास्त्र संबंधी ग्रन्थों के प्रणेता अप्पय दीक्षित के भ्राता के पौत्र थे। नीलकण्ठ दीक्षित ने अप्पय दीक्षित को "सरसकविताराज्य सार्वभौमः"[१] तथा "चतुरधिकशतप्रबन्धनिर्वाहक"[२] कहते हुए स्मरण किया है। अपने पूर्वजो का परिचय देते हुए नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है कि वे ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले, सर्वविधागुरु, छन्दोग, सोमपीथी तथा अद्वैतवादी ब्राह्मण थे। इनमे अच्चन दीक्षित बडे प्रसिद्ध हुए जो अप्पय दीक्षित के पितामह थे। राजा कृष्णराज उनके चरणो मे सिर झुकाते थे, वे भरद्वाजकुल के चूडामणि थे। उन्होने आठ यज्ञो, आठ शिवालयो, आठ तडागो तथा सर्वविद्याविशारद अपने आठ पुत्रो के द्वारा आठो दिशाओ को यज्ञ से उज्जवल बना दिया था। अद्वैतविद्यामुकुर विवरण तथा अन्य अनेक ग्रन्थो के निर्माता श्री रंगराजाध्वरी उनके पाचवे पुत्र थे। अप्पय दीक्षित इन्ही से हुए, जिन्होने एक सौ आठ के लगभग ग्रन्थो का निर्माण करके अपने अखण्ड पाण्डित्य से ख्याति पाई। अप्पय दीक्षित के सहोदर भाई अच्छा दीक्षित थे। ये भी अच्छे विद्वान् थे। इनके पुत्र नारायणाध्वरि ने साहित्य-रत्नाकर, महावीरचरित आदि प्राचीन ग्रन्थो की व्याख्या की। नारायण अच्चा दीक्षित के एक मात्र पुत्र थे और इनके पांच पुत्र थे, जिनमे से नीलकण्ठ दूसरे हुए। एनका एक नाम अय्या दीक्षित भी था।[3]

स्वनिर्मित त्यागराजस्तव मे नीलकण्ठ दीक्षित ने अप्पय के विषय मे लिखा है— "योतनुतानुजसूनुजमनुग्रहेणात्मतुल्यमहिमानम्—" इससे सिद्ध होता है कि नीलकण्ठ ने अप्पय दीक्षित से अध्ययन किया था।"[४]

नीलकण्ठ आगे चलकर नायक वंश के सबसे शक्तिशाली राजा तीमल नायक के प्रधान मन्त्री और प्रधान पण्डित बने।

---

१. नलचरित्रनाटक–पृ० ३।

२. द्रष्टव्य–मुकुन्दविलास आदि काव्यों की–

३. नलचरित्र–पृ० ३-४। पुष्पिकाएं।

४. हिन्दी रसगगाधर,-पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी, भूमिका-ब

नीलकण्ठ ने विधिवत् अध्ययन वेंकटेश्वर शास्त्री से किया था, जो प्रसिद्ध पण्डित गोविन्द दीक्षित के पुत्र थे। नीलकण्ठ के चारो भाई भी कवि थे।

मान्यताएं और आदर्श

काव्य के सम्बन्ध में

नीलकण्ठ दीक्षित ने यश को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।[1] पर काव्य का मूल प्रयोजन वे मम्मट की ही भाति विशुद्ध आनन्द को ही मानते हैं। उनके मत मे काव्येतर कलाओ से यह आनन्द प्राप्त नही हो सकता—

कर्णं गतं शुष्यति कर्ण एव संगीतकं सैकतवारिरीत्या।
आनन्दयत्यन्तरनुप्रविश्य सूक्तिः कवेरेव सुधा-सगन्धा॥

शिवलीलार्णव, १।१७

इस विशुद्ध निर्दोष आनंद के साथ मनोरंजन और कालयापन भी काव्य के प्रयोजन हैं—

व्यामोहयन्ती विविधैर्वचोभिर्व्यावर्त्तयन्त्यन्यकलासु दृष्टिम्।
कालं महान्तं क्षणवन्नयन्ती कान्तेव दक्षा कविता धिनोति॥

शिवलीला०, १।२४

काव्य नीलकण्ठ के मत मे आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करता है। वह महेश मे चित्त को रमाने का या समाधि की स्थिति तक पहुँचने का एक साधन है—

अनायतप्राणमसंयताक्षमब्रह्मचर्यानशनादिखेदम्।
चित्तं महेशे निभृतं निधातुं सिद्धः कवीना कवितेव योगः॥

शिवलीला, १।२६

काव्य के अवान्तरप्रयोजनो को भी नीलकण्ठ दीक्षित ने स्वीकार किया है। वे काव्य से व्यवहारज्ञान, बुद्धि का आर्जव तथा शास्त्रीय पाण्डित्य की भी सम्भावना करते हैं—

औजस्यं व्यवहाराणामार्जवं परमं धियाम्।
स्वातन्त्र्यमपि तन्त्रेषु सूते काव्यपरिश्रमः॥—समारंजनशतक, १५

दीक्षित के अनुसार कवि के भीतर एक अचिन्त्य शक्ति होती है, जिससे वह सर्व संवेद्य

---

१. साहित्यविद्याजयघण्टयैव संवेदयन्ते कवयो यशांसि। –शिवलीलार्णव, १।८

भावों का प्रत्यक्षीकरण करता है। यही उसकी दिव्य दृष्टि है।[1] इसके कारण वह मौलिक और अपूर्व वस्तु के निर्माण मे सक्षम बनता है। नीलकण्ठ उन्ही को वास्तविक कवि मानते है, जिन्होने दूसरो का अनुकरण न करते हुए स्वयं काव्यजगत् मे अपनी राह बनायी—

अन्धास्ते कवयो येषा पन्था क्षुण्णः परैर्भवेत् ।
परेषा तु यदाक्रान्तः पन्थास्ते कविकुंजरा. ॥—गंगावतरण, १ ७७

कवि की इस दिव्य शक्ति को नीलकण्ठ ने अन्यत्र सारस्वतचक्षु कहा है[2]---

अस्ति सारस्वत चक्षुरज्ञातस्वापजागरम् ।
गोचरो यस्य सर्वोऽपि य स्वय कर्णगोचर. ॥ वही, १।७

कवि अपनी प्रतिभा से त्रिकालदर्शी बन जाता है—ऐसा दीक्षित मानते थे। जहा न पहुँचे रवि तहाँ पहुचे कवि—के अनुकूल ही उन्होने यह कहा है—

सदर्थमात्रग्रहणात्प्रतीता सर्वज्ञता सापि शशाकमौले: ।
प्राप्ता विकासं प्रतिभा कवीना व्याप्नोति तद् वेत्ति न यच्छिवोपि ॥
शिवलीला, १।२०

एक स्थान पर नीलकण्ठ ने शक्ति का भी उल्लेख किया है, जिसके बिना काव्य रचना सम्भव नही है।"[3]

प्रतिभा के साथ साथ वे व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी कवि के लिये आवश्यक मानते हैं। व्युत्पत्ति के बिना काव्याभ्यास निरर्थक है।[4] काव्य को उन्होने 'व्युत्पन्नस्य कवेः कर्म'[5] कहा है, कालिदास की भाति नोलकण्ठ दीक्षित भी वाणी और अर्थ के काव्य मे अभिनिवेश को पार्वती और शिव की सम्पृक्ति से उपमित करते हैं। वाणी और अर्थ का यह साहचर्य जगत् के मगल के लिये है---

---

१. शिवलीलार्णव—१।५
२. राजशेखर ने भी कहा है--"सारस्वतचक्षुरवाङ्मनसगोचरेण प्रणिधानेन सर्वपश्यति।"
३. सन्दर्भशक्तिहीनाना वृथाभ्यासो वृथाश्रमः ।
मुग्धानि लब्ध्वा पुष्पाणि मुण्डितः किं करिष्यति ॥ गगावतरण १।१०
४. अशिक्षितानाकाव्येषु वृथाभ्यासो वृथाश्रम. ।
किमस्त्यनुपनीतस्य वाजपेयादिभिर्मखैः ॥ वही, १।१०
५. नलचरित्र, १।५

सव्यं वपुः शब्दमयं पुरारेरर्थात्मकं दक्षिणमामनन्ति ।
अंगं जगन्मंगलमैश्वरं तद्...................... ।शिवलीला० १।१५

काव्य में रसाभिव्यक्ति को नीलकण्ठ आवश्यक मानते हैं ।[1] परन्तु केवल रसाभिनिवेश ही पर्याप्त नही, कवि को शब्द, अर्थ, रस, भाव, व्यंग्य आदि अनेक वस्तुओं पर अपनी दृष्टि रखनी पडती है ।

क्वार्थाः क्व शब्दाः क्व रसाः क्व भावाः क्व व्यंग्यभेदाः क्व च वाक्यरीतिः ।
कियत्सु दृष्टिः कविना न देया किमस्ति राज्ञामियतीह चिन्ता ॥–वही, १।३०

शब्द को कविवर दीक्षित ब्रह्म स्वरूप मानते हैं ।[2] शब्दो मे जो अद्भुत सामर्थ्य निहित है, उसका परिज्ञान सभी कविगण नही कर पाते । शब्द रत्नो की भांति हैं, जिन्हे वाणी की देवी ने राजमार्ग पर बिखेर दिया है, पर वे उन्ही के दृष्टिपथ मे आते हैं, जो उनके सम्बन्ध मे आदरपूर्वक विमर्श करते है ।[3] काव्य मे शब्दचयन पर नीलकण्ठ बहुत जोर देते है और उनकी मान्यता है कि उपयुक्त शब्दचयन बहुत थोडे ही कवि कर पाते है । उपयुक्त शब्द अपनी जोडी के शब्दो के बीच उसी प्रकार छिपकर रहता है, जैसे पाषाणखण्डो के बीच चन्द्रकान्त मणि । उस समय उसमे चमक नही रहती । पर जब कवि रूपी पारखी उसे उठाकर उचित स्थान पर प्रयुक्त कर देता है, तो वह चमक उठता है ।[4]

रससिद्धान्त नीलकण्ठ को स्वीकार्य था । काव्य मे विभावादि के सयोग से नीरस लगने वाले वृत्तान्त भी सरस हो उठते हैं, ऐसा वे मानते थे । अभिधा मे कथ्य को सीधे-सादे ढंग से प्रस्तुत करने के पक्ष मे वे नही हैं । वे वक्रोक्तिमय भणिति, वाक्यार्थबोध और अभिधेयार्थ के त्याग के पक्ष मे हैं ।[5] व्यंग्यपथ को उन्होने विद्वत्प्रिय माना हैं ।[6] व्यंग्यार्थ या ध्वनि ही उनके मत मे काव्य का प्राण है ।[7]

---

१. वही, २. शीलिते कविलोकेन शब्दब्रह्मणि वाङ्मये । गंगावतरण १।८

३. कीर्णानि घण्टापथ एव हन्त शब्दार्थरत्नानि गिरां भवित्र्या ।
अत्यादरादामृशतां कविना दृग्गोचरं कस्यचिदेव यान्ति ॥ -

४. प्रायस्तिरोभूतमहाप्रकाशाः पाषाणखण्डेष्विव चन्द्रकान्ताः ।
शब्देषु शब्दा मिलिताश्चरंति भाग्योत्तराः प्रत्यभिजानते तान् ॥ शिवलीलार्णव,१।११,१०

५. तन्त्रान्तरेषु प्रतिपद्यमानास्त ते पदार्था ननु ते त एव ।
निर्वेदभीशोकजुगुप्सितान्यप्यायान्ति साहित्यपथे रसत्वम् ॥ वही, १।२२
वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि वाक्यार्थबोधः परमप्रकर्षः ।
अर्थेषु सत्स्वप्यभिधैव दोषः सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥ वही, १।१६

६. वही, १।३७ । ७. वही १।३६ ।

शब्दो के समुचित प्रयोग पर नीलकण्ठ पर्याप्त बल देते हैं। 'अस्थान मे प्रयुक्त पद काव्य मे उसी प्रकार शोभित नही होते, जिस प्रकार सुन्दर स्त्री के किसी अग विशेष मे धारणीय आभूषण अन्य अंग मे धारण किये जाने पर शोभित नही होते। अस्थान मे प्रयुक्त एक ही शब्द काव्य को उसी प्रकार मटियामेट कर देता है, जिस प्रकार मुख से बाहर निकली हुई एक ही दाढ मौक्तिक पक्ति के समान रमणीय दन्तावलि को।[1]

काव्य मे गुणो का सन्निवेश भी वे अनिवार्य मानते हैं। निर्गुण उक्तिगुम्फ उनके अनुसार स्त्रियो के लटकते स्तनों के समान अरुचिकर होता है। काव्य मे उन्हे कौन कौन से गुण अभिप्रेत है, इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होने नही किया, पर एक स्थान पर वे सुकुमार गुण का अवश्य उल्लेख करते है।

काव्य मे कवि एक विशिष्ट शैली अपनाता है, जो उसकी अपनी निजी होती है, इस बात को नीलकण्ठ दीक्षित मानते थे। शब्दालंकारो के होते हुए भी कवि अपनी निजी शैली का अविष्कार नही कर सका, तो उसके काव्य मे मौलिकता का आकर्षण नही हो सकता—

सत्यर्थे सत्सु शब्देषु सति चाक्षरडम्बरे।
शोभते यं बिना नोक्तिः स पन्था इति घुष्यते॥ गगावतरण १।१०

इस विशिष्ट शैली के कारण ही काव्य मे चमत्कार उत्पन्न होता है। इस शैली की विशेषता है—सर्वसामान्य अथवा सामान्यतया प्रचलित शब्दो का एक विशेष सन्दर्भ मे विशेष विन्यास के साथ प्रयोग। इसी विशेष विन्यास से काव्य मे अलौकिक चारुता आती है—

तान्येव शास्त्राणि त एव शब्दास्त एव चार्था गुरवस्त एव।
इयान् विशेषः कवितापथेस्मिन् देव्या गिरा दृक्परिवर्त्तभेदः॥
यानेव शब्दान् वयमालपामो यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति॥

शिवलीला० १।३३,१३

काव्य मे अलंकारो का प्रयोग करने के भी वे पक्ष मे हैं, परन्तु रमणीय व्यग्यार्थ रहित काव्य मे अलकारो का सन्निवेश निष्प्राण शरीर पर अलकरण के समान अशोभनीय है।[2] चित्र काव्यो को तो नीलकण्ठ सर्वथा हेय मानते हैं। उनका कहना है—

---

१. वही–१।३५-३६
२. वही, १।३६।

विद्वत्प्रियं व्यंग्यपथं व्यतीत्य शब्दार्थचित्रेषु कवेर्विलासान् ।
प्राप्तोनुरागो निगमानुपेक्ष्य भाषाप्रबन्धेष्विव पामराणाम् ॥
कृते युगे व्यजनयावतीर्णा त्रेतायुगे सैव गुणी बभूव ।
आसीत् तृतीये तु युगेर्थचित्रं युगे तुरीये यमकप्रपंचः ॥
दिष्ट्याधिरूढा. कविताधिराज्यं धीरा रमन्ते नहि शब्दचित्रे ।
स्वर्गोपि गत्वाप्सरसा निवासे काणैव किं कापि गवेषणीया ॥ वही १।३७-३६

चित्रकाव्य कविता के लिये कुरोग के समान है, यह नीलकण्ठ का मत है।

रीतियों में वैदर्भी के प्रति नीलकण्ठ की आस्था थी—

आमये यमके जागृत्यपमृत्यौ च दुष्कवौ ।
वाणी प्राणिषि तन्मध्ये वज्रेणैवासि निर्मिता ॥ वही; १।३०
आदिः स्वादुषु या परा कवयतां काष्ठा यदारोहणे
या ते नि.श्वसितं नवापि च रसा यत्र स्वदन्तेतराम् ।
पाचालोति परम्परा-परचितो वादः कवीनां परं
वैदर्भी यदि सैव वाचि किमतः स्वर्गेऽपवर्गेपि वा ॥ नलचरित्र, ३।१८

जीवन-दर्शन

कालिदास की ही भांति नीलकण्ठ जीवन का समग्र रूप में विकास देखना चाहते हैं। अपने तीनो महाकाव्यो मे मनुष्य-जीवन के समस्त पक्षो को उजागर करते हुए उन्होने भी महाकवि की ही भाँति जीवन के प्रति परिष्कृत परिपूर्ण दृष्टि का परिचय दिया है। नीलकण्ठ के भगीरथ का तप भी इहलोक की आस्था, उद्दीप्त क्षत्रियत्व तथा संकल्प से उतना ही महिमान्वित है, जितना भारवि के अर्जुन का। लक्ष्यसिद्धि के लिये अडिग अध्यवसाय तथा मनस्विता की भावना को दोनो कवियो ने अपने नायको के द्वारा व्यक्त किया है। साध्य की सिद्धि के अनन्तर दोनो ही पुनः ससार मे लौट आते हैं। यौवन और तेजस्वता का धनी भागीरथ तप समाप्त कर राज्य भार को पुनः सभालने वापस लौटता है तो—

सौधाधिरूढैः शतशोऽवरोधैः संदृश्यमानः सदनं विवेश ।
वियोगखिन्नास्तपसाविषण्ण स्वप्नेक्षिताः स्वप्नदशानुभूतम् ।
स्मेरानना स्मेरमुखारविन्दं तमभ्युपयुस्तरुणं तरुण्यः ॥ गं० ८।८६,९

कालिदास की ही भांति नीलकण्ठ ने तप और संन्यास के लिये जीवन से पलायन नहीं किया, उन्होंने योग और भोग को एक साथ समेटना चाहा है। सम्भवतः इसी

दृष्टि को अधिक परिपक्व रूप मे व्यक्त करने के लिये उन्होने कृष्ण के जीवन पर 'मुकुन्द-विलास' महाकाव्य का उपक्रम किया था, जो पूरा नही मिलता।

नीलकण्ठ जीवन को तप और साधना से समन्वित देखना चाहते है। भगीरथ के द्वारा उन्होने तप का गौरवगान किया है, उनकी मान्यता है कि–

केनाधिगम्यस्तपसा प्रभावः। (ग० ६।३८)

आदर्श राजा–

आदर्श राजा के संबंध मे दीक्षित की अवधारणा यह है कि वह सम्पूर्ण पृथ्वी का पालक हो। प्रजा की उसे वत्सलतापूर्वक रक्षा करनी चाहिये। उसका यश दिगन्त तक विस्तीर्ण हो तथा प्रताप शत्रुओ को कपाने वाला हो। वह सभी प्राणियो पर दयालु हो, पर दण्डय लोगो पर निर्दय। लोक के लिये वह संजीवनी के सामान हो, दण्ड्य को छोड कर वह अदण्डय को कभी दण्ड न दे। वह उचित तथा हित चाहने वाले लोगो को अपनी दृष्टि मे रखे तथा परकीय लोगो के प्रति उदासीन रहे। प्रजाओ का उसमे गाढ अनुराग तथा विश्वास हो। वह दुर्जनो का दमन करने वाला हो तथा उसके राज्य मे सभी भले और गतमत्सर हो। उसके राज्य मे सभी प्रजाए प्रसन्न रहे। वह उन पर कभी क्रोध न करे।[२]

आदर्श गुण तथा नैतिक मान्यताएं–

नीलकण्ठ के मत मे धैर्य के विना लक्ष्मी नही मिलती, शौर्य के बिना जय नही मिलता, ज्ञान के बिना मोक्ष नही मिलता और दान के बिना यश नही होता।[3] वे जीवन मे पौरुष और पराक्रम की प्रशसा करते हैं। निर्बल को अपनी ही जाति के लोग खा जाते है, जैसे बडी मछली छोटी को या अजगर सर्प को, पर बलिष्ठ को भय नही। बलवान पर बलवान ही स्नेह करते हैं, और निर्बल को बांध लेते हैं, जैसे प्रचण्ड वायु दावानल को उदीप्त करती है, पर दीपक को बुझा देती है।[3] नीलकण्ठ का कथन है—

'सर्वत्र लाल्यते शूरो भीरुः सर्वत्र हन्यते।
पच्यन्ते केवला मेषाः पूज्यन्ते युद्धदुर्मदाः॥ सभारंजनशतक, ४८
शौर्येण लोकसेव्यत्वं शौर्येण क्षितिपालिता।
शौर्येण लभ्यः स्वर्गोपि शौर्यं कस्य न साधनम्॥ वही, ५१

१. वही, ५।३४-५६ तथा गंगावतरण १।६२-७०
२. सभारंजनशतक, ४१ ३. वही, ४३-४५

तितिक्षा को नीलकण्ठ मनुष्य के जीवन में अपेक्षित गुण समझते हैं। काल पण्डित और पामर दोनो को चला रहा है। पर यदि उसको वश मे करना हो, तो तितिक्षा ही एक साधन है।[१] क्षमा भी श्रेष्ठ मनुष्य मे आवश्यक है।[२] क्षमा नित्य सवित होते ज्ञान और तप की रक्षा करती है। क्षमा से सब कुछ सम्भव है।[३] नीलकण्ठ जीवन मे सभी कलाओ और श्रेष्ठ तत्वो का संग्रह करना चाहते हैं, क्योकि—

'जानता निखिलमभ्यसितव्यं कुत्र कस्य नु भवेदुपयोगः।' ग० २।२४

नीलकण्ठ के मत मे अपकारपरायणो का भी उपकार करने वाले सज्जन महान् हैं।[४]

धर्म के सम्बन्ध में–

नीलकण्ठ जीवन मे धर्म और अर्थ दोनो का समन्वय देखना चाहते हैं। अर्थ से धर्म उपार्जित किया जा सकता है, और धर्म से अर्थ। ये दोनो अन्योन्याश्रित हैं।[५] तृण के द्वारा भी किया गया धर्म महान् फल देता है।[६] दुर्भिक्ष के समय मे भी–भले ही चुल्लू भर पानी या मुट्ठी भर धान से-किया गया धर्म महान् फल देता है।[७] धर्म के सम्बन्ध मे नीलकण्ठ की अवधारणा बडी व्यापक है। उनका धर्म काम मे नर्मसखा, तत्वोपदेश मे भट और अर्थोपार्जन मे सचिव है।[८]

दाम्पत्य जीवन के सम्बन्ध में–

नीलकण्ठ नारी की आदर्श परिणति गृहिणी के रूप मे देखते है। यदि गृहस्थ को हृदयंगम गृहिणी मिल जाये तो, ससार उसके लिये भार नही, सार बन जाता है। यदि दाम्पत्य अनुकूल हो तो व्यक्ति का स्वर्ग और अपवर्ग सभी कुछ संचित हो गया और प्रतिकूल हो तो कुछ भी नही।[९]

आस्था–

चण्डी और पार्वती के दीक्षित परम भक्त थे। उनकी यह भक्ति चण्डीशतक[१०] तथा "आनन्दसागर स्तव"[११] इन दोनो रचनाओ में स्फुट है। आनन्दसागर स्तव मे उन्होने

---

१. कालश्चालयति प्रायः पण्डितान् पामरानपि।
तच्चेच्चिकीर्षसि वशे तितिक्षैव महौषधम्॥–सभारं० ६७

२. वही, ६८ ३. वही, ७०-७२ ४ वही, ६९ ५. वही, ७८

६. वही, ७९ ७. वही, ८० ८. वही, ८१ ९. वही, ९२-९३।

१०. Oleuveres Poetiques De Nilakantha Dikshita मे संकलित P. 161-75

११. Minor poems of 'Nilakantha Diksita मे संकलित

भावगद्‌गद होकर पार्वती की स्तुति की है। पर्वती मे उन्होने जगज्जननी तथा वात्सल्यमयी मां का रूप देखा था और अपने मे क्षुद्र पामर बालक का। पार्वती मे उनकी भक्ति अन्य स्थानो पर भी प्रगट हुई है।[3] मुकुन्दविलास महाकाव्य मे उन्होने शैवी परम-शक्ति की वन्दना की है।[4] शिव मे भी उनकी उतनी ही आस्था थी, जितनी पार्वती मे।[5] राम[6] और सरस्वती[7] मे भी उनकी भक्ति थी। कृष्ण के वे अनन्य आराधक थे। कृष्ण पर उनकी भक्तिभावना मुकुन्दविलास महाकाव्य मे प्रकट हुई है—

स्वच्छन्दवृत्ता अपि यत्प्रसादान्मुक्ताः पशूना पशवोपि गोपाः।
तन्मादृशानामनिदानबन्धुं वाचार्चये यादववंशनाथम् ॥—मुकुन्द १।३

वाराणसी नगरी को नीलकण्ठ बहुत पवित्र मानते थे। उनका कहना था—

कालं जेतुमुपायौ द्वौ कलिकल्मषसम्प्लुतम्।
कथा वा निषधेशस्य काशी वा विश्वपावनी ॥ नलचरित्र १।११
यत्रैकं श्रुतमक्षरं पशुपतेर्हेतुः श्रुतीना कृतो
सद्यो रोहति चाष्टधा तनुभृता यत्रैकमुक्तं वपु.।
यत्रैकाभ्रनदी कणोपि विधृतं सर्वैव सा धार्यते
सा दिव्याद्‌भुतवैभवाक विगिरा पारे हि वाराणसी।—वही, २।२२
अस्मिन् पुरे दिविषदा शतशोपि यस्या
अद्यापि विश्रामफलान्यवगाहनानि।
आब्रह्मकीटमवगाहजुषामिहैषा,
कैवल्यहेतुरिति काशि तव प्रभावः ॥
अत्यन्तसिद्धाजननिर्मलाक्षैस्तपोधनैरप्यनवेक्षितं या।
आलक्ष्यते धाम तदेव यस्या आत्यन्तिकेनाक्षिनिमीलनेन ॥
वही २।२३,२४

अप्पय दीक्षित पर नीलकण्ठ की प्रगाढ श्रद्धा थी। उनकी गुणगाथा नीलकण्ठ ने बार-बार गाई है।[8] अपने पिता पर भी उनकी श्रद्धा कम नही थी।[9] दोनो ही व्यक्तियो

३. मुकुन्दविलास, १।१
४. नलचरित्र, १।२ शिवलीलार्णव, ३।७५-८३
५. वही, २।२१, १।१२ ६. वही १।३ ७ वही, १।१४४
८. द्रष्टव्य-नलचरित्र मे पृ० ३, गंगावतरण, १।३९-४७,८।९२ शिवोत्कर्षमजरी अन्तिम श्लोक (Oleuveres poetiques De Nilkantha, पृ० १३८)
९. गंगावतरण १।५०,१।६ नलचरित्र-१० मुकुन्दविलास, १।५

के लिये उनके मन में सम्मान की भावना सीमातीत थी, और दोनो की प्रशस्ति मे वे अतिशयोक्ति कर गये हैं। प्राचीन कवियो मे कालिदास, भवभूति तथा वाल्मीकि के लिये कवि के मन मे बड़ा आदर था।[1]

पुराणो मे उनकी श्रद्धा थी। नल का चरित्र तथा गंगावतरण की कथा को वे विशेष पावन मानते थे।[2] योग और तप की शक्ति मे उनका विश्वास था।[3] यज्ञ मे भी उनकी निष्ठा थी,[4] शकुन मे वे विश्वास करते थे।[5]

स्वभाव

नीलकण्ठ दीक्षित भावुक, स्वाभिमानी तथा रागात्मक प्रकृति के थे। अवस्था वृद्धि के साथ-साथ उनका झुकाव वैराग्य की ओर होता गया। सम्भवतः उनके जीवन की परिस्थितिया भी इसका कारण थी। शान्तिविलास से ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन के अन्तिम दिनो मे सम्भवतः कवि को अपनी पत्नी व पुत्रो से वैमनस्य हो गया था, जिसके कारण वैराग्य की भावना उनके मन मे और भी अधिक पनपी और समृद्ध हुई थी।[6]

जीवन के अन्तिम चरण मे पहुँच कर नीलकण्ठ सम्भवत. अपने मन की अनथक व्यर्थ दौड़–भाग और कुप्रवृत्तियो से व्यथित भी होते रहते थे।[7] कुछ आक्रोश और विक्षोभ से युक्त प्रकृति तो उनकी प्रारम्भ से ही थी, जो उनके समसामयिक कवियो पर व्यंग्य करते समय फूट पड़ी हैं।[8] व्यंग्य और विनोद की ओर उनका झुकाव प्रारम्भ से था और अन्ततक बना रहा। नलचरित्र मे विदूषक की विनोदगर्भ उक्तियां, कलि-विडम्बन या सभारंजनशतक मे समाज के विभिन्न वर्गों पर करारे व्यग्य या गगावतरण मे गर्वीली गंगा के शंकर की जटाओ मे फसने पर उपहासास्पद स्थिति[9]—इन सब प्रसंगो मे उनकी विनोदगर्भित कविचेतना झलकती है। व्यंग्य के कवि के रूप मे नीलकण्ठ ने क्षमेन्द्र को भी पीछे छोड दिया है। क्षेमेन्द्र की भांति उनमे गहरी सामाजिक चेतना, विकृतियो को उभार कर सामने रखने की साहसिक प्रवृत्ति है, पर क्षेमेन्द्र मे जो कही सुरुचि का खटकने वाला अभाव मिलता है, वह नीलकण्ठ मे कही नही है। कलिविडम्बन में

---

१. गंगावतरण १।४,१।३६ २. गंगावतरण १।५६, नलचरित्र, १।११

३ वही, ५।१६, ६।३८ ४. शिवलीलार्णव, ६।६८-७०

५. मुकुन्दविलास, १।७५, २।४२।

६ द्रष्टव्य-शान्तिविलास, १-४, वैराग्यशतक, २, ३,६, २०-५३

७. शान्तिविलास १२। ८. नलचरित्र १।४

९. गगावतरण ५।३-१२ नीलकण्ठविजचम्पू, १।४

नीलकण्ठ ने मान्त्रिकों, दैवज्ञो, कवियो, पण्डितो, वैद्यो, स्त्रियो आदि पर जितनी मीठी चुटकिया ली है, वे उनकी प्रत्युत्पन्नमति तथा सूझबूझ का परिचायक है। अपने पूर्ववर्ती या सामयिक कवियो की तरह नीलकण्ठ मे अनावश्यक गर्व और डीग हाकने तथा अपनी कवित्वशक्ति का व्यर्थ मे दम भरने की प्रवृति कही नही मिलती। हाँ उन्हे कही अनुचित रूप से उपेक्षा या उपहास मिला, तो उन्हाने उसका अवश्य आत्मविश्वास के साथ उत्तर दिया पर वस्तुत वे शिष्ट और विनम्र प्रकृति के थे।[1] आत्मविश्लेषण तथा अपनी त्रुटियो या हीनताओ पर पश्चात्ताप करने प्रवृत्ति भी उनमे थी।[2]

नीलकण्ठ का हृदय स्नेह और वात्सल्य से परिपूर्ण था। कालिदास की भाति वे शिशु के प्रति स्नेह की अभिव्यक्ति दिखाने का कोई अवसर नही छोडते। शिवलीलार्णव महाकाव्य मे यज्ञवेदिका से उत्थित कन्या के वर्णन मे, राजा कुलशेखर तथा उनकी पट्ट-महिषी काञ्चनमाला का उसे देखकर स्नेह-द्रवित हाने के चित्रण मे तथा उसकी दिग्विजय यात्रा मे ग्रामवधुओ की उसे देख कर प्रतिक्रिया मे (८।४६-४७) नीलकण्ठ का वात्सल्य परिपूरित हृदय छलक उठा है। शिशु के प्रति माता और पिता के प्रेम की यह अन्तरंग अनुभूति कवि ने अवश्य की होगी —

आलिङ्गच सकृदनुक्षणं स्पृशन्ती चुम्बन्ती मुखकमल मुहुर्मुहुश्च।
पश्यन्ती विकसितपक्ष्मभिः कटाक्षैस्ता बालामलभत निर्वृति न माता॥
आनन्दत्रुटितविशीर्णकञ्चुकान्ताद्वक्षोजादथ मलयध्वजप्रियायाः।
अन्वस्यन्दतमधुरं पय. प्रभूतं बिभ्रत्यास्त्रिभुवनमातरं कुमारीम्॥
प्रेयस्या सविधमुपेत्य दायमानामुत्प्लुत्य स्वयमुपगूहितुं पतन्तीम्।
कन्याताममृतमयीमाददान. कैवल्यं धरणिपतिस्तृणायमेने॥ ६।७७-७६

समजनि सुखिता कुमारिका सा सकृदुपधाय मुख स्तने जनन्याः।
वदनसरसिज दृशा पिबन्तो न तु दुहितुर्जननी जगाम तृप्तिम्॥ ७३।

शिशु की निश्छलता और सौन्दर्य पर जो हार्दिक अनुराग कवि को है, वही प्रकृति की अकृत्रिम रमणीयता पर भी। कई स्थानो पर नीलकण्ठ प्रकृति के सुरम्य क्रोड मे भाव-विभोर होकर खो जाना चाहते है—

शक्यमञ्जलिपुटैः सलिलार्द्रैं सान्द्रमातपभरं प्रविकीर्य।
जीर्णपर्णजटिलानि सदानी विष्वगुज्ज्वलयितुं विपिनानि॥
गं० ३।३६

---

१. गंगावतरण १।५६। २. शान्तिविलास १,२,६,७,१२

पाण्डित्य और पर्यवेक्षण

नीलकण्ठ को भारत के भूगोल की सही जानकारी थी। नलचरित्र के द्वितीय अंक मे रथस्थ इन्द्र, मातलि और विश्वावसु द्वारा उन्होने भारत के विभिन्न भूभागो का वर्णन कराया है। योग, मीमासा, साख्य, न्याय आदि दर्शनो से उनका अन्तरंग परिचय था।[२] अपने समय के समाज की प्रवृत्तियो का गहराई से कवि ने पर्यवेक्षण किया था। यद्यपि क्षेमेन्द्र की भांति यह उनका क्षेत्र नही था, पर जहा कही उन्होने अपने समय के समाज को चित्रित किया है, उसमे उनकी सचाई और ईमानदारी के साथ बेलाग शैली मे बात कह देने की प्रवृत्ति दिखाइ देती है। प्रकृति,[३] ग्राम[४] जगल, किरातो का वार्त्तालाप,[५] वरवधू की चेष्टाए[६]—आदि के सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रणो से यह प्रमाणित हो जाता है नीलकण्ठ की मानवमनोविज्ञान तथा अपने युग के यथार्थ मे गहरी पकडी थी।

प्रतिभा

नीलकण्ठ की प्रतिभा बहुमुखी थी। उन्होने अनेक विधाओ मे काव्यसर्जन किया। गीतिकाव्य, नाटक, चम्पू, गद्यकाव्य तथा शास्त्रीय गद्य सभी कुछ लिखने की सामर्थ्य उनमे थी और उन्होने उसका उपयोग भी किया। उनमे गीतिकाव्य लिखने के लिये भावसंकुलता भी थी, महाकाव्य लिखने के लिये जीवन को व्यापक फलक पर देखने के लिये दृष्टि भी और व्यग्यपूर्ण लघुकाव्य लिखने के लिये क्षेमेन्द्र का सूक्ष्म पर्यवेक्षण तथा उपहास करने की प्रवृत्ति भी।

नीलकण्ठ की प्रतिभा का वैशिष्ट्य सतुलन या समंजन मे है। चाहे भयानक युद्ध का वर्णन करना हो,[७] या मनोरम प्रकृतिक दृश्यो का,[८] दैत्यो का वर्णन करना हो या सुन्दरी का वे समान रूप से सभी मे सिद्धहस्त दिखाई देते हैं। इनकी यह विशेषता आत्मसयम, तटस्थता और काव्यसाधना से जन्मी है। भवभूति की भाँति वे अत्यधिक भावाभिभूत कभी नही होते और न शाब्दिक चमत्कार दिखलाने के ही फेर मे कभी पडते हैं, इसलिये उनके समूचे काव्य का स्वर सामंजस्यपूर्ण और मनोज्ञ है।

उनकी कल्पना मे घटनाशिल्प का रोचक विन्यास करने तथा काव्यमय बिम्बो को उपस्थित करने की भरपूर क्षमता है। नलचरित्रनाटक मे घटनाशिल्प की दृष्टि से अनेक

---

१. शिवलीलार्णव, ६।११-२५ २. वही—६।४०-५८ ३. वही ६।३-१०
४ वही ६।५८-६६ ५. वही ६।६४-६६ ६. वही १२।२४-३०।
७. शिवलीलार्ण, १३।८०-८६, १०।७१-६३। ८. शिवलीलार्णव, १६।५२-७१

नवीन उद्‌भावनाएं की गयी है, जिन्होने कथानक की रुचिकरता मे अभिवृद्धि की है।[१] वस्तु वर्णन मे भी उन्होने अनेक स्थानो पर मौलिक उद्‌भावनाओ के प्रयोग द्वारा कथ्य के सौन्दर्य मे मे अभिवृद्धि की है। गगा के स्वर्ग से गिरने पर ब्रह्माण्ड के अलाबू के फल के कर्पर के समान गिरने की कल्पना[२] या कालकूट के शंकर द्वारा निगल लिये जाने पर ससार के उसी प्रकार विशद हो जाने की कल्पना जिस प्रकार तार्किको के कोलाहल के समाप्त हो जाने पर कवियो तात्पर्य का विशद हो जाना[3] इसी प्रकार की कल्पनाएं है।

नीलकण्ठ कालिदास और भवभूति के बाद सम्भवत: पहले कवि हैं, जिन्होने प्राचीन मिथक को मानवोय राग और अनुभूति से आविष्ट कर दिया है। दोनो ही कवियो की तरह उन्होने भी पुराकथा को रूढ और जड रूप मे नही लिया, अपितु जीवन के जिस परिस्पन्द को वे वाणा देना चाहते थे, उसके लिये उन्होने पुराकथा का सहारा लिया। कालिदास की भांति नीलकण्ठ ने भी अपने शिव पर मनुष्यत्व को थोपा नही, अपितु मनुष्यता के धरातल पर उन्हे प्रतिष्ठित किया है। कालिदास और नीलकण्ठ दोनो मे मनुष्यता के आलोक मे शिव का ईश्वरत्व और भी अधिक निखर उठता है। देवताओ को मनुष्य की भांति प्रेम, करुणा आदि भावनाओ से प्रेरित दिखाने की परम्परा इस देश के साहित्य मे बहुत पुरानी है। पर कालिदास के बाद यह परम्परा एक रूढि मे बदल जाती है। चाहे वे भारवि के शिव हो, या माघ के कृष्ण, या जयदेव के राधा माधव, या सस्कृत की असंख्य सूक्तियो मे विभावानुभाव-व्यभिचारी की सागोपांग सामग्री जुटाकर चित्रित देव-मिथुन इन सभी मे मनुष्य का हृदय भीतर से झांकता हुआ नही लगता, मनुष्य का कार्य-व्यापार रूढ, जड और परम्परित रूप मे उनपर थोप दिया गया है। नीलकण्ठ ने परम्परा को आत्मसात् तो किया, पर कई शताब्दियो से

३ जैसे प्रथमांक मे राजा का स्वप्नवृत्तान्त, चित्र बनाकर दमयन्ती के पास भेजना, द्वितीयाक मे बृहस्पति का स्वगत कथन, नारद का इन्द्र को भडकाना, सरस्वती तथा सावित्री का नल और दमयन्ती को मिलाने का तथा विवाह कराने का उपक्रम आदि। कथानक का कुशल सघटन नीलकण्ठ विजयचम्पू मे भी है। लम्बे-लम्बे वाक्यो से यहां का प्रवाह अवरुद्ध नही होता, बल्कि अनेक स्थलो पर कवि ने लम्बे वाक्यो और विशेषणो द्वारा ही उसे और भी द्रुतगति से आगे बढ़ाया है। द्रष्टव्य, पृ० २३-२४। युद्ध का वर्णन भी गतिशील, समुत्तेजनसमर्थ और रोमांचक है। (पृ० २३-२६)।

४. गंगावतरण ३।२।

५. नीलकण्ठविजयचम्पू: ४।३०।

से उसपर जमी काई को भी साफ करके, उसके स्थिर विजड रूप को मनुष्य के हृदय की अन्तःस्फूर्ति और संवेदन से जोडकर गतिमान् भी बनाया। इस दृष्टि से उन्हे कालिदास और भवभूति के साथ ही रखा जाना चाहिये। नीलकण्ठ ने परम्परा को जिस-प्रकार हृदय की अन्तरिकता मे जीवन्त बना दिया है, उससे हम उनकी प्रतिभा की नूतनता और अलौकिकता का अनुमान कर सकते हैं। हिमालय की पुत्री गंगा के ब्रह्मा के शाप से ग्रस्त होकर नदी बन जाने की कथा उन्होने पुराणो से ली है, पर गंगा के गर्वोद्धत, धृष्ट और अतिशय वाचाल रूपमे नीलकण्ठ की अपनी ज्वलन्त कल्पना प्रस्फुटित हो रही है। यह ढीठ गंगा जब जब ब्रह्मा को ही बहा ले जाने के लिये उमडती है तब—

अप्रतर्कितविधेयमपोढस्थैर्यमर्धविरतश्रुतिपाठम्।
शुष्कतालुवदनं च तदानी पद्मभूरपि परिभ्रमति स्म ॥

नीलकण्ठ के बूढे ब्रह्मा की इस हडबडाहट के वर्णन में जीवन एक स्थिति की गहरी अनुभूतिमय पकड है। शकर भगीरथ की कठोर तपस्या का वृत्तान्त अपने गणो से सुन सुन कर एक दिन सहसा उनसे मिलने के लिये तैयार हो जाते हैं—'शिव को इस प्रकार अप्रत्याशित रूप से बाहर निकला देख कर उनके गण-बात क्या है? ऐसा सोचते हुए उनके चारो ओर खडे हो गये। —वृषभध्वज अपने वाहन वृषभ पर आरूढ होकर देर लगाती हुई पार्वती के मार्ग पर टकटकी बाधे रहे। —शिव ने शिवा को वाहन पर चढाने के बहाने आलिंगन कर लिया— सखियो के आपस मे ऐसी खुसफुस करने पर पार्वती (लजा कर उनसे मुँह चुराती हुई) दूसरी दिशा मे देखने लगी। शिव के गण हाथो और नेत्रो के संकेत से एक दूसरे से पूछने लगे— देव क्यो और कहा प्रस्थान कर रहे है?' (ग० ४।४१,४६,५४,५६)। इस प्रकार शकर अपने परिवार-सहित चल पडते हैं, और भगीरथ के सामने पहुँच कर खड़े हो जाते हैं। भगीरथ अपने सामने होने वाले शोरगुल से आँखें खोलते हैं तो—

अप्राकृतं महः किंचिदद्राक्षीदग्रतो दृशोः (४।६३)।

उसी समय सारे देवता वहां आ उपस्थित होते हैं और शंकर का अद्भुत दरबार सज जाता है। बालक गणेश शिव के खप्परो को ब्रह्मा के चारो मुखो पर रखकर देखते है कि वे कैसे लगते हैं तो शिव झूठमूठ मे गणेश पर क्रुद्ध होते हैं। गणेश के कंधे से लटकते दूर्वा के ग्रास को गरदन उठा कर ग्रहण करने की इच्छा करने वाले मृग को शिव रोक लेते हैं। तब देवताओ का शिव से सीधे कुछ कहने का साहस नही होता, तो उनके पार्श्व में बैठी पार्वती उनसे देवताओं के कार्य निवेदन करती है—इसपर दया कीजिये, इसकी रक्षा कीजिये, इसकी ओर भी देखिये इत्यादि। इसके पश्चात् भगीरथ, जो इतनी देर से इस भव्य गरिमामय उपस्थिति से स्तब्ध हो गये हैं, किसी तरह से शकर की

स्तुति करते है और शंकर के कहने पर अपना मनोरथ बहुत डरते प्रकट कर देते हैं और इस कार्य के लिये शिव को कष्ट देने के अपराध के लिये क्षमा भी मागने है। शिव कहते हैं—

'अभिषेकप्रियाणां नः प्रियमेतत्कृतं त्वया। नापराद्धं पुनः किंचित्--'(५।६०)।

ऐसा कहकर शिव फुर्ती से अपने वाहन से उतर पडे, अपने व्याघ्रचर्म को उन्होने कस कर बांधा, दोनो बालको—स्कन्द और गणेश को दूर हटा दिया और गंगा को झेलने के लिये तैयार हो कर बैठकर गये। शंकर के ये सब कार्य कलाप इस मर्त्य-लोक की मनुष्यता से महिमान्वित हैं। उनके प्रस्थान मे हमे किसी सामन्त की राजसी आठ-आठ से चलने वालो सवारी बोध होता है, कवि नीलकण्ठ ने धरती का स्पर्श दे कर शंकर की करुणा, ममत्व वात्सल्य, उदारता और फक्कडपन से सजीव कर दिया है। सारे प्रसग मे राज-दरबार का वातावरण भीतर से झलकता है, पर कालिदास की भाति नीलकण्ठ भी उसके सकुचित घेरे मे आबद्ध नही हैं, वे उसका अतिक्रमण कर गये हैं, इसलिये शकर के ईश्वरत्व का उनमे कही भी हनन नही हुआ है। मानवीय कार्य व्यापार का सूक्ष्म अन्तरंग बोध नीलकण्ठ मे जगह-जगह मिलता है। गगा स्वर्ग से बह कर निकलती है तो अप्सराएं घबरा कर अपने गहने आदि ऊंची वलभियो में छिपा देती हैं (५।३०), जब वह धरती को आप्लावित करती है, तो नगरो मे वणिक् अपनी दूकानें बन्द करके बाहर से आये पथिको से पूछते है कि गगा कितनी दूर हैं (७।२)। गगा की धारा को पी जाने वाली शिव की शिथिल जटाओ को पार्वती अपने पटांचल से पोछ देती हैं। (५।६५)।

जीवन के इस संस्पर्श को लेकर नीलकण्ठ की कल्पना अपनी स्पष्ट बिम्ब सर्जना से हृद्य और कमनीय काव्यजगत् रच डालती है। गगा के अबाध अपराजेय, अजस्र प्रवाह को जिस तरह उन्होने शब्दो मे समेटा है, वह महाकवि के अनुरूप है। कही भी न समा पाने वाला यही गागेय प्रवाह किस तरह शिव की जटाओ मे अंटता है—

अप्रतर्क्यमसमीक्षितावधि तं कपर्दवलयं पिनाकिनः।
आपगा दिविषदामवाङ्मुखी पन्नगीवकलशं समाविशत् (५५७)।

और तब उसकी वे महोर्मियाँ—

लेशतोऽपि किल नाललक्षिरे सत्क्रिया इव कृतघ्नगोचराः(५।५६)।

गगा के प्रवाह को क्षण-क्षण परिवर्तित होते असंख्य रूपो मे कवि ने शब्दबद्ध किया है। उसका निर्मलतम रूप यह है--

आविरञ्चिगृहमाहिमाचलं निर्मला रुरुचिरे तदूर्मयः।
स्वर्वधूभिरभितो दिदृक्षया पातिता इव कटाक्षरेखिकाः॥ (५।४६)

सौन्दर्यबोध–

प्रकृति के रमणीय दृश्यो,[1] मधुर ललित पदावली, मसृण पदशैया और सरस सरल शैली के गुम्फन मे नीलकण्ठ दीक्षित की स्वस्थ सौन्दर्य चेतना प्रतिबिम्बित है। जब वे ग्रीष्म के वर्णन मे––

'दूरं दूरमपदिश्यमरीचिर्दुद्रुवुर्दिशि दिशीव सरस्य: (२।३५) या––
उष्णमम्बु रविरुग्रमयूख: सान्द्रमर्मुरकिरश्च समीरा.'।
भू' पफालपुनरा. कथमासीत् पान्थपातकि-दशा-परिपाक: ॥

जैसी पदावली का प्रयोग करते हैं, तो शब्द के माध्यम से वस्तु के भीतर अनुस्यूत सौन्दर्य से साक्षात्कार करने की उनकी चेष्टा प्रकट होती है।

भाषा पर इस असाधारण अधिकार और सौन्दर्यान्वेषक कविदृष्टि के होने पर भी नीलकण्ठ मे कही-कही छन्द टूटता है, और भाषा लडखडाती हुई लगती है। अश्वघोष मे भी हम यही बात देखते हैं। दोनो कवि भाषा को जान बूझ कर तोडते हुए अपनी राह बनाते हैं, क्योकि भाषा वस्तु के मर्म तक पहुँचने मे जितनी सहायक होती है, कभी-कभी उतनी ही बाधक भी। सदियो की साहित्यिक परम्परा ने भाषा को जहा सामर्थ्य दी वही उसे रूढियो मे जकडा भी। नीलकण्ठ इन भाषागत रूढियो को तोडते है, क्योकि रूढ भाषा कवि के उस तत्व के आडे आती है, जो उन्ही के शब्दो मे–"दूरं धियां दूरतरं च वाचामदूरमेव" है।

उपसंहार

नीलकण्ठ का व्यक्तित्व एक सुलझे हुए कवि का व्यक्तित्व है। उनको कल्पना-शक्ति उर्वर है, भावाभिव्यजन की अपेक्षित क्षमता भी उनमे है और अंधाधुन्ध किसी कवि का उन्होने अनुकरण नही किया है। उन्होने अपने पूर्ववर्त्ती समृद्ध साहित्यिक दाय

---

१. द्रष्टव्य---

तरुणपवनाघातव्याधूतनूतनकेतक---
स्तवकविगलन्माध्वीसम्पातशीतलिताम्भसाम्।
उपरि सरसामस्मिन्नुत्तनितानन पंक्तय--
स्तरललहरी डोलारूढास्तरन्ति राकुन्तयः॥

पर्यायसक्तसरलायतकाण्डरूढपर्णावलीकृतवितानमनोरमाणि।
पस्योन्मिषत्प्रसवसौरभमेदुराणि प्रच्छायशीतलतलानि लतागृहाणि॥
(१।३८,३६ नलचरित)

से बहुत कुछ ग्रहण किया, पर उसे अपनी प्रतिभा के साचे मे ढालकर ही प्रस्तुत किया। कविता में चित्रकाव्यों और पाण्डित्यप्रदर्शन के युग मे जन्म लेकर कालिदास की मधुर वैदर्भी रीति को पुनरुज्जीवन देने की स्वतंत्र कवि चेतना उनमे थी।

राजदरबार के कवि होते हुए भी, तथा उसके वातावरण को काव्य में निरूपित करते हुए भी कवि नीलकण्ठ उसकी संकुचित परिधि से उबर गये, क्योंकि उनकी दृष्टि एकांगी नहीं है। वे जीवन को उसकी सम्पूर्णता मे लेते हैं। अपने नायक भगीरथ के द्वारा उन्होने काव्य मे जीवन की साधना, सौन्दर्य वृत्ति और राग का समावेश कर दिया हैं। वे कवि की जीवन्त दृष्टि से जीवन के प्राणभूत तत्वो को प्रकट करते है। मध्ययुग के अनेक कवियो की तरह काव्य उनके लिये खिलवाड नही है, वह उनके लिये वाणी की तपस्या है—

वाचा तपस्यामि काव्यसन्दर्भरूपया (ग० १।५५)।

नीलकण्ठ ने वाणी के इस तप से कवित्व की उन ऊंचाइयो का आरोहण किया है, जहां वाल्मीकि और कालिदास जैसे कवि सहज प्रतिभा से स्वत: पहुँचे थे। वाल्मीकि की तरह सिद्ध कवि नही हैं, वे कालिदास जैसे उन कवियो मे से भी नही हैं, जिनमें जीवन का मर्म भीतर से स्वय प्रस्फुटित होता है, वे उन कवियो मे से है जो कवित्व की साधना से जीवन को पहचानना और समुन्नत बनाना चाहते हैं। नीलकण्ठ कालिदास का प्रेम और शृंगार, भारवि की स्वस्तिचेतना, भवभूति का आवेग और भावबोध-इन सबको समेट लेते हैं, पर इन सबका समाहार करने मे वे लडखडा भी जाते हैं। किन्तु इससे नीलकण्ठ की साधना, उनकी जीवन्त कविदृष्टि तथा उनके काव्यलोक की समृद्धि और महत्ता कम नही होती। अपने समकालीन सभी संस्कृत-कवियो से वे निश्चत रुप से बहुत ऊंचे हैं।

अध्याय–३

पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ पण्डितों के युग तथा पण्डितो के घराने में उत्पन्न हुए थे। तथा वे पाण्डित्य और शास्त्रीय तर्कवितर्क के वातावरण में पले और रहे थे। उसके पूर्व खण्डदेवमिश्र, जगदीशतर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य, भट्टोजी दीक्षित, नीलकण्ठ दीक्षित, राजचूडामणि दीक्षित, वेंकटाध्वरिन् -- जैसे अपने युग के प्रकाण्ड पण्डित हो चुके थे। पण्डितराज के समय मे भी कवीन्द्राचार्य सरस्वती, म० म० विश्वनाथ पंचानन जैसे विद्वान् विद्यमान थे।[1]

जगन्नाथ दक्षिण में आन्ध्रप्रदेश के वेगिनाड या वेंगिनाडु के तैलंग ब्राह्मण थे।[2] उनके पितामह पेरुभट्ट या पेरमभट्ट थे और माता का नाम लक्ष्मी था। पेरुभट्ट अपने समय के महान्, विद्वान् थे व्याकरण को छोड कर अन्य सभी विद्याओं और शास्त्रो की शिक्षा उन्होने जगन्नाथ को दी थी। उनके प्रगाढ़ पाण्डित्य तथा कवित्वशक्ति के कारण जगन्नाथ के मन मे अपने पिता के लिये बडा आदर था। रसगंगाधर में उन्होने अपने पिता की प्रशस्ति मे कहा है—

श्रीमद्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगतसकलब्रह्मविद्याप्रपंचः
काणादीराक्षपादीरपि गहनगिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।
देवादेध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासनं जैमिनीयं
शेषाकं प्राप्तशेषामलभणितिरभूत् सर्वविद्याधरो यः॥ —रस० १।२

---

१. Jagannatha Pandita : V. A. Ramaswami, Sastri, p. 1.

२. द्रष्टव्य-भामिनी-विलास-बी० जी० बाल का संस्करण। भामिनीविलास की भामिनी विलासभीषण नामक टीका मे कहा गया है"'इति श्रीमदखिलांध्रिवेगीयनाड्यक-कुलावतंसजागेश्वरसूरिपुत्रेण (?) पण्डितराजाख्यसुरिणा विरचिते भामिनीविलासे, जागेश्वरसुरि सम्भवतः पण्डितराज के पिता पेरुभट्ट का दूसरा नाम रहा होगा— Bhaminivilasa : Ed L. R. Vaidya, Introduction, p. 11. इनका व्यक्तिगत नाम त्रिशली था, जो जयपुर की जनता मे आज तक प्रचलित है। रसगंगाधर-पुरुषोत्तमशर्मा, भूमिका पृ० उ

पाषाणदपि पीयूषं स्यन्दते यस्य लीलया ।
तं वन्दे पेरुभट्टाख्यं लक्ष्मीकांतं महागुरुम् ॥ —१।२

श्रीमद्ज्ञानेन्द्र नामक संन्यासी से जिन्होने समग्र ब्रह्मविद्याप्रपच का अध्ययन किया, महेन्द्रशास्त्री से न्याय और वैशेषिक का, पूर्वमीमासा खण्डदेव उपाध्याय से काशी मे पढा तथा शेष वीरेश्वर से पातजलमहाभाष्य पढा और सम्पूर्ण विद्याओ के आगार बन गये, जिनकी लीला से पत्थर से भी अमृत झरता है, उन लक्ष्मी के पति महागुरु पेरुभट्ट की मैं वन्दना करता हूँ । [1]

जगन्नाथ के वास्तविक गुरु इनके पिता ही थे पर उन्होने अन्य पण्डितो के पास रहकर भी अध्ययन किया था, जिनमे उनके पिता के गुरु शेष वीरेश्वर भी थे । [2]

सम्भवत: आन्ध्रप्रदेश मे अपनी प्रतिभा को अपेक्षित सम्मान न मिलते देखकर या अन्य प्रदेशो के पण्डितो के साथ समागम या शास्त्रार्थ की इच्छा से पण्डितराज ने अपनी युवावस्था मे दक्षिण से उत्तर की ओर पदार्पण किया । आन्ध्रप्रदेश छोडने मे वहा की राजनीतिक परिस्थिति भी संभवत: कारण रही हो, क्योकि विजयनगर मे वेंकट की मृत्यु (१६१४ ई०) के पश्चात् और गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गया था । [3] पण्डितराज उत्तर की ओर अग्रसर होते हुए राजपूताने मे जयपुर आये और वहा उन्होने एक पाठशाला की स्थापना की । जनश्रुतियो के अनुसार उनका यही पर एक उद्भट काजी के साथ शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें पराजित होकर काजी ने दिल्ली में मुगल दरबार मे पण्डितराज के पाण्डित्य की प्रशंसा की । तब बादशाह ने उन्हे बुला भेजा और तब से ये मुगल दरबार मे रहे ।

पण्डितराज जहाँगीर तथा शाहजहाँ-इन दोनो ही बादशाहो के आश्रय मे रहे थे । भामिनीविलास मे—"दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले०-(भा० वि० शान्ति० ३२) आदि मे उनका आशय जहाँगीर या शाहजहाँ से रहा होगा, अथवा दोनो से ही-क्योकि

---

१. नागेश्वर भट्ट ने 'महागुरुम्' की व्याख्या करते हुए कहा है—सर्वविद्यानामेकस्मादेव लाभात्तत्र महत्वम् ।

२ Bhaminivilasa- L R. vaidya, Introduction P. 3-4

पण्डित दुर्गाप्रसाद ने रसगंगाधर मे (भूमिका) शेषवीरेश्वर के पुत्र शेष श्रीकृष्ण का पण्डितराज का गुरु बताया है । पर शेष वीरेश्वर से अध्ययन करने की बात मनोरमा—कुचमर्दन तथा 'अस्मद्गुरुपण्डितशेषवीरेश्वराणाम्' —आदि से सिद्ध है । रसगंगाधर—पुरुषोत्तमशर्मा, भूमिका पृ० उ ।

३. Jagannatha Pandita, P. 13

दोनों की ही उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रशस्ति की है। इसलिये यह मानना उचित है कि पण्डितराज ने मुगल दरबार मे प्रवेश जहांगीर के शासनकाल मे किया होगा और जहांगीर के पश्चात् शाहजहां के शासन मे भी वे दरबार मे बने रहे होगे। दाराशिकोह ने भी इन्हे पर्याप्त सम्मान दिया था।[1] पण्डितराज जहांगीर के दरबार मे उस समय प्रविष्ट हुए होगे, जब आसफ खा के प्रभाव से उसके दरबार में साहित्यिक गतिविधियों को अधिक प्रश्रय मिलने लगा था। आसफ खां ने पण्डितराज को पूर्ण सम्मान दिलाया था और इसीलिये किसी रायमुकुन्द नामक व्यक्ति की प्रेरणा से पण्डितराज ने "आसफखानविलास" नामक आख्यायिका की रचना की। आगे चल कर शाहजहां ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया।[2]

जगन्नाथ द्वारा विरचित प्राणाभरण से सिद्ध होता है कि वे आसाम के शासक "प्राणनारायण" के आश्रय मे भी रहे थे, जिसे उन्होने उपरोक्त कृति मे कामरूपेश्वर कामतादित्य कहा है। सम्भव है, शाहजहा के समय में ये १६५० ई० के आसपास मुगल दरबार छोड़कर आसाम की ओर चले गये हो।[3] प्राणनारायण के आश्रय मे वे १६६० या १६६५ ई० तक रहे होगे। १६३३ से १६६६ ई० तक का शासनकाल

---

१. अधिकाश विद्वानो की सम्मति मे जगदाभरण दाराशिकोह की ही प्रशस्ति है। (रसगंगाधर, निर्णयसागरसंस्करण, भूमिका, पृ० ३, साहित्यदर्पण पी० वी० काणेकृत भूमिका (भाग-१), पृ० १३३,
Bhaminivilasa-Ed. L. R. Vaidya, Introduction, p. 17,
Bhaminivilasa-Ed. B. G. Prasad, p. 6,
श्रीयुत पी० एम० परांजपे इसे राजपूताना के जगतसिंह की प्रशस्ति मानते हैं।

२. पण्डितराज ने इस आख्यायिका में आसफ खा को अपना आश्रयदाता कहा है। आसफ खां नूरजहां का भाई तथा शाहजहां का श्वसुर था और वह शाहजहां तथा जहांगीर दोनो के ही समय मे उत्तम पद पर रहा। वह साहित्य और कला मे रुचि रखता था।
(Beniprasad-History of Jahangir, P. 189)-Jagannatha Pandita, P. 16,

३. बहुत से विद्वानो के अनुसार जगदाभरण तथा प्राणाभरण-एक ही काव्य हैं, केवल दोनो में नाम तथा विशेषणों का कहीं-कहीं हेरफेर है। सम्भव है, जगदाभरण की रचना दाराशिकोह की प्रशंसा के लिये ही हुई हो और फिर प्राणाभरण के लिये भी उसमें कुछ रद्दोबदल करके उसका उपयोग किया गया हो।

कामरूप की सर्वविध समृद्धि तथा सुख का युग था। प्राणनारायण एक अत्यन्त ही महत्त्वाकांक्षी, पराक्रमी और चतुर शासक था। १६५७ मे दिल्ली मे बादशाह के उत्तराधिकारी के लिये संघर्ष के समय उसने मुगल-शासन की आधीनता अस्वीकार करके अपने आपको स्वतन्त्र घोषित कर दिया।[1]

मुगल दरबार मे किसी मुस्लिम युवती से जगन्नाथ का प्रणय सम्पर्क था–इस आशय की कुछ कथाएं प्रचलित हैं, जो प्रामाणिक नही हैं। पण्डितराज के नाम से "यवनीनवनीतकोमलागी-तथा "न याचे गजालिग न वा–"और "यवनीरमणी विपदरशमनी"-आदि जो श्लोक यवनी के साथ उनके प्रेम को प्रकट करने वाले बताये जाते हैं,[2] पण्डितराज की कृतियो मे कही भी नही मिलते। यदि पण्डितराज ने इनकी रचना की होती तो वे अवश्य ही इनको अपनी अन्तिम कृति "भामिनी-विलास" मे सकलित करते। सम्भव है, उपर्युक्त पद्य उनके द्रोहियो के द्वारा उन्हे अपयशभाजन बनाने के लिये उनके नाम से गलत प्रचारित किये हों। यह तो किसी भी स्थिति मे सम्भव नही दीखता कि पण्डितराज ने किसी मुस्लिम कन्या से विवाह किया हो, क्योकि शाहजहा हिन्दू-मुस्लिम विवाहो का विरोधी था और मुस्लिम युवती से विवाह करने वाले पण्डितराज को वह अपने आश्रय मे कदापि नही रखता। साथ ही भामिनी-विलास के करुणाबिलास मे कवि ने अपनी जिस प्रेयसी की मृत्यु पर शाकोद्गार प्रकट किये हैं, वह वैदिक विधि से विवाहित धर्मपत्नी ही प्रतीत होती है। डा० वी० राघवन् ने चिमनीचरित के आधार पर यह सिद्ध किया है कि पण्डितराज के नाम से मिथ्या प्रचारित इस प्रकार का प्रणय सम्बन्ध अकबर के दरबार के एक दयाराम नामक पण्डित पर सत्य सिद्ध होता है। दयाराम का अलीवर्दी खां की पुत्री से प्रेम था। सम्भव है, दयाराम के स्थान पर भ्रान्तिवश आगे चल कर पण्डितराज के नाम से इस प्रणय सम्बन्ध को जोड़ दिया गया हो। इसी प्रकार गंगालहरी की रचना करने के तुरन्त पश्चात् जगन्नाथ गंगा में विलीन हो गये-यह किंवदन्ती भी असत्य है, अन्यथा गगालहरी के पद्यों का उनकी दूसरी कृति रसगंगाधर में उद्धृत किया जाना सम्भव नही था।

पी० वी० काणे ने चित्रमीमांसाखण्डन की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति के आधार पर पण्डितराज का साहित्यिक जीवन १६२० से १६५० ई० तक माना हैं। Jagannatha pandita-P, 17-18

१. Jagannatha Pandita-P. 19-20.

२. रसगंगाधर-निर्णयसागर, भूमिका मे उद्धृत।

संग्रामसार और रसरहस्य के आदि ग्रन्थो के निर्माता, जयपुर नरेश श्री रामसिंह जी प्रथम के आश्रित ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि माथुर चतुर्वेदी कुलपति मिश्र इनके शिष्य थे-ऐसा उल्लेख कुलपति मिश्र के ग्रन्थो मे आया है।[1] इनके दूसरे शिष्य नारायण भट्ट थे। उनके भतीजे हरिहर भट्ट ने पण्डितराज से उनके समस्त विद्याए पढ़ने का उल्लेख किया है।[2] नागेश भट्ट विरचित रसगंगाधर की टीका में "नत्वा गंगाधर-मर्मप्रकाशं तनुते गुरुम्-" से प्रतीत होता है कि नागेश भी इनके शिष्य थे।

"दिल्लीनरपति", 'दिल्लीश्वर,' "दिल्लीधरावल्लभ" के साथ पण्डितराज ने अपने पांच आश्रयदाताओ का नामोल्लेख किया है—जहांगीर (१६०५-२७ ई०), शाहजहां (१६२८-५८ ई०), आसफखान (मृत्यु १६४१ ई०), उदयपुर का जगतसिंह (१६२८-५६ ई०) तथा कामरूप का प्राणनारायण (१६३३-६६ ई०)।[3] रसगंगाधर मे उद्धृत अपने एक पद्य मे उन्होने नेपाल के किसी राजा की प्रशस्ति की है।[4]

पण्डितराज के जीवन के अन्तिम दिन सम्भवतः कष्ट मे बीते थे। एक तो उनके धर्मान्ध द्रोहियो ने उनको सताया होगा और दूसरे सम्भवतः उन्हे अपनी पत्नी और एक पुत्र की मृत्यु का भी दारुण आघात लगा होगा।[5]

डा० आर्येन्दु शर्मा ने उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर उनके साहित्यिक जीवन को चार विभागो मे विभाजित किया है, जिसके प्रथम चरण मे उन्होने पण्डितराज के शाहजहां के दरबार मे जाने के पूर्व पांचों लहरियो तथा जगदाभरण की रचना की थी, द्वितीय में उन्होने शाहजहां के दरबार मे रह कर आसफ-खा-विलास, रसगंगाधर तथा चित्रमीमासा-खण्डन की रचना की थी, तृतीय में प्राणनारायण की राजसभा में प्राणाभरण की तथा चतुर्थ मे वाराणसी मे आकर शब्दार्थकौस्तुभशाणोत्तेजन तथा भामिनीविलास की।

आस्था :—

पण्डितराज की अनेक देवी-देवताओ में-विशेषतः श्रीकृष्ण और गगा में श्रद्धा थी। श्रीकृष्ण उनके आराध्य थे तथा उनकी कृष्णभक्ति मे बहुत कुछ वैसी ही तन्मयता और

१. रसगगाधर, पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी, भूमिका, पृ० द
२. वही, ण।
३. पण्डितराज काव्यसंग्रह, भूमिका (आर्येन्दु शर्मा) पृ० ७
४. वही, पृ० २०१, श्लोक १०२
५. भामिनीविलास, करुण० १, २, १०, १३, १४।

भावाकुलता है जो चैतन्यमार्गियो मे मिलती है। गंगा को वे सकलपापहारिणी तथा मोक्ष से भी अधिक सुख देने वाली समझते थे।[१] गगा उनकी भक्तिभावना के अनुसार घोर तपोराशि से भी अलभ्य विष्णुपद को प्रदान करने वाली है।[२] यदि गंगा समीप है, तो मनुष्य सभी पापो से निश्चिन्त होकर सोता रह सकता है।[३]

उनकी भक्तिभावना मे भागवत करुणा तथा कृपा की आकाक्षा सबसे प्रबल है। उनकी चाह है—

न धनं न च राज्यसम्पदं न हि विद्यामिदमेकमर्थये।
मयि धेहि मनागपि प्रभो करुणाभंगितरंगिता दृशम्॥ करुणालहरी, १६

तथा—

विशालविषयाटवीवलयलग्नदावानलप्रसृत्वरशिखावलीविकलितं मदीयं मनः।
अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे मुकुन्दमुखचन्दिरे चिरमिदं-
चकोरायताम्॥ भामिनीविलास शा० वि० १

व्यास मे उनकी श्रद्धा थी।[४]

पण्डितराज के मन मे जिसके प्रति श्रद्धा जाग जाती थी, उसके प्रति उनका मन पूर्णतः समर्पित हो उठता था। शाहजहां पर उन्हे श्रद्धा थी। आसफविलास के प्रारम्भ मे उन्होने उसे उसको चक्रवर्ती, यशस्वी, तथा पराक्रमी सम्राट के रूप मे प्रशसा के पुल बाध दिये हैं। आसफखां पर भी उनकी हार्दिक श्रद्धा थी। उसकी मृत्यु पर शोकाकुल होकर उन्होने आसफविलास नामक काव्य का प्रणयन किया, जिसमे उन्होने कहा—

युक्तं तु याते दिवमासफेन्दौ तदाश्रिताना यदभूद् विनाशः।
इदं तु चित्रं भुवनावकाशे निराश्रया खेलति तस्य कीर्तिः।

(पण्डितराजकाव्यसंग्रह, पृ० १०२, श्लोक १६३)।

स्वभावः—

पण्डितराज जगन्नाथ अत्यधिक आत्मकेन्द्रित और अभिमानी प्रकृति के कवि थे। अपनी कवित्वशक्ति और पाण्डित्य पर उन्हे अत्यधिक गर्व था। उन्हे राजाश्रय मिला था, उनकी साहित्यिक उपलब्धियो पर उनका पर्याप्त सम्मान भी हुआ था, फिर भी

---

१. गंगालहरी, ५-६, १३
२. वही, ११
३. भामिनीविलास, शा० वि० १६
४. रसगंगाधर (चौखम्भा संस्करण) द्वितीय भाग, पृ० ४४५

उन्हें यह शिकायत बनी रही कि "उनके कामालस अप्सराओं के अधरो की माधुरी को फीका बना देने वाले वाणी के विलास की कद्र करने वाला कोई नही है—

विद्वांसो वसुधातले परवचःश्लाघसु वाचंयमाः
भूपालाः कमलाविलासमदिरोन्मीलन्मदाघूर्णिताः।
आस्ये धास्यति कस्य लास्यमधुना धन्यस्य कामालस-
स्वर्वामाधरमाधुरीमधरयन् वाचां विलासो मम ॥ प्राणाभरण,४।

(पण्डितराजकाव्यसंग्रह, पृ० १११)।

उन्होने अपने आपको "मननतरितीर्णविद्यार्णव", जगन्नाथपण्डित-नरेन्द्र" आदि विशेषणो से विभूषित किया है।[1] अपने पाण्डित्य और कविता दोनों ही पर उन्हे असीम गर्व था। अपनी कवित्वशक्ति का स्वयं ही मूल्यांकन करते हुए उन्होने कहा- "इस सारी पृथ्वी मे जितने भी काव्यनिर्माण मे निपुण जन हैं, वे निःशंक होकर उत्तर दें कि द्राक्षारस के समान मधुर वाणी के आचार्य होने का गौरव मेरे अतिरिक्त और किसी को मिल सकता है क्या?"[2] अपनी कविता के विषय मे अन्यत्र जगन्नाथ ने कहा है—

निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा
सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः ॥

पण्डितराज अपने विरोधियो से चिढे रहते थे। अपने विरोधियो के लिये उनके मन मे घृणा ही नही, अनेक ग्रन्थियां भी पनप गयी थी। भामिनीविलास मे उन्होने कहा है—"दुर्वृत्ता जारजन्मानो हरिष्यन्तीति शंकया"-दुश्चरित्र जार से उत्पन्न हुए कविचोर कही मेरे काव्य का हरण न कर लें। विरोधियो से साहित्यिक गालीगलौज करने की प्रवृत्ति उनमे सदैव बनी रही। वे जिसका विरोध करते थे, उसकी अपने शब्दो से खाल उधेड डालते थे। अप्पय दीक्षित की उन्होने रसगंगाधर मे कई जगह बुरी तरह खबर ली है। अपने विरोधी की मान्यता या उपलब्धि को दृष्टिगत करने की उदारता उनमे कभी नहीं रही। हां, उसकी कमियो को व बाल की खाल निकाल कर प्रस्तुत करते थे।

विरोधियो की निन्दा तथा प्रशंसको पर अनुकम्पा या आश्रयदाताओ की चाटुकारिता करने की उनमें भावना थी। अपने आश्रयदाताओ की प्रशस्ति मे उन्होने जमीन-

---

१. रसगंगाधर (चौखम्भा संस्करण) प्रथम भाग, पृ० ७
२. वही, पृ० २९४

आसमान के कुलाबे मिला दिये है। प्रशस्तियो के लिये उनके पास कुछ श्लोको का "स्टाक" रहा करता था, जिनको वे परिस्थिति और व्यक्ति के अनुसार हेरफेर करके उपयोग मे लाते रहते थे।

उम्र बढने के साथ-साथ भक्ति की ओर उनका झुकाव बढता ही गया। भामिना-विलास मे शान्तिविलास का सबसे अन्त मे रखा जाना इसका द्योतक है। भक्तिभावना उन्हे कुछ विशिष्ट मनस्थितियो मे सासारिक चिन्ताओ से एकदम निश्चिन्त सा बना देती थी–

सुख शेते मास्तव खलु कृपात। पुनरयं,
जगन्नाथ: शश्वत् त्वयि विनिहितदेवयभर:।

"ओ माँ, अब यह जगन्नाथ सब कुछ तुम्हारे ऊपर छोड कर निश्चिन्त सो रहा है।" कभी वे भौतिक असुविधाओ से उद्विग्न होते भी थे तो यह विचार उनके मन को आश्वस्त करता था—

"सन्तापयामि हृदयं धरातले धावं धावं किमहम्।
अस्ति मम शिरसि नन्दकुमार: प्रभु: परम.॥"

"मै क्यो व्यर्थ की मरीचिका के चक्कर मे भटकता हुआ सन्तप्त हो रहा हूँ। मेरे तो नन्दकुमार ही सब कुछ है।"

आदर्श :–

पण्डितराज के सामने लोकोपकारपरायणता तथा सदाशयता का उच्च आदर्श था। निरपेक्ष होकर उपकार करने को वे मनुष्य का सर्वोत्तम गुण मानते थे।[1] उपकार करने वाले का प्रत्युपकार न करना उनकी दृष्टि मे हेय था।[2] सत्य,[3] दान,[4] धैर्य तथा गाम्भीर्य[5] आदि उनकी दृष्टि मे आदर्श गुण थे।

---

१. नापेक्षा न दाक्षिण्य न प्रीतिर्न च संगति.।
तथापि हरते तापं लोकानामुन्नतो जन:॥ भामिनीविलास, प्रास्ताविक० ३७

२. वही, ४५

३. वही, ६३

४. वही, ६४

५. वही, ६८, ६९, ९२।

बौद्धिक व्यक्तित्व

पण्तिराज उन विरले कवियो मे से हैं, जिन्होने काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे चिन्तन की नयी दिशाएं प्रस्तुत को हैं। क्षेमेन्द्र को छोडकर और कोई कवि संस्कृत मे ऐसा नही दिखाई देता जिसका काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा हो। क्षेमेंन्द्र भी इतने वड़े विचारक नही थे, जितने पण्डितराज। वास्तव में पण्डितराज जितने बड़े काव्यचिन्तक हैं, उतने बड़े कवि नही है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे उनका नाम अभिनवगुप्त, आनन्दवर्धन और मम्मट जैसे दिग्गज आचार्यो के साथ ही लिया जा सकता है। 'भारतीय काव्यशास्त्र मे रसगगाधर के महत्व के विषय मे दो बातें नही हो सकती। हमारी पण्डित परम्परा मे उसका नाम एक आतंक-मिश्रित आदर के साथ लिया जाता है। —वस्तुतः आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त काव्यचिन्तन के मूलपक्षो पर प्रकाश डालकर अनेक सत्यो का जितना दर्शन कराते है, आज की समीक्षा-चेतना को आगे बढ़ने की उतनी उत्तेजना नही देते। उन्हे पढ़कर हमारी चेतना अनुभव करती है, हम चिन्तन की इति पर पहुँच गये है, यही कारण है कि लगभग एक सहस्र वर्षो से काव्यशास्त्रीय चिन्तन जहा का तहा पड़ा हुआ है। किन्तु रसगंगाधर सस्कृत मे एक ऐसा अनूठा ग्रंथ है, जो अपने अतीत की समस्त उपलब्धियो को अपने मे बटौर कर आधुनिकतम चिन्तन को नयी दिशाओ की ओर उन्मुख करता हुआ आगे की ओर बढ़ने को प्रेरणा दे सकता है।'[१]

यद्यपि पण्डितराज ने संस्कृत काव्यशास्त्र को कोई मौलिक सिद्धान्त नही दिया, पर उन्होने अपनी स्वतन्त्र चिन्तन से ध्वनिवाद का मान्यताओ की व्याख्या करते हुए उन्हे परिपूर्ण बनाया है। पुराने सिद्धान्त उनके हाथो मे पड़कर एकदम नये प्रतीत होते हैं। सभी स्थलो मे वे पुराने सिद्धान्तो के लिए नयी कसौटिया प्रस्तुत करते है। रससिद्धान्त की दार्शनिक आधारभित्ति उन्होने एकदम बदल दी तथा अभिनवगुप्त के सारे सिद्धान्त का वेदान्तीकरण किया। "जिस व्यवस्था के साथ पण्डितराज ने यह कार्य किया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह परिपूर्ण चिन्तन का फल है, किसी नासमझी का नहो। इससे समूचा विवेचन ही एक मौलिक चमक से भर गया है।"[२]

"काव्यशास्त्र की विभिन्न उपलब्धियो को उन्होने एक जागरूक और उदार समालोचक के नाते उपयोग किया है, वे एक सम्प्रदाय के अनुयायी है, अतः किसी दूसरे

---

१. रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, प्रेमस्वरुपगुप्त, प्रस्तावना, पृ० १

१. वही- पृ० ३४० २. वही, पृ० ३४२

सम्प्रदाय की उपलब्धि को आख खोलकर देखना भी पसन्द न करे, ऐसी साहित्यिक साम्प्रदायिकता उनमे नही। सभी पुरानी मान्यताएं अच्छी ही है, उनमे यह आग्रह भी नही। वे सभी मान्यताएं पुरानी समझकर किनारे रख दी गयी है, बेकार ही है, यह रूढ़ दृष्टि भी उनमे नही ' वे खुली आख से भरत, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त को भी परख सकते है।'' ३

काव्यप्रतिभा

कवि के रूप मे पण्डितराज मे मौलिकता का अभाव है। उनकी सारी की सारी कल्पनाए पिटी पिटाई है और उपमान, प्रतीक, सभी उधार लिये हुए हैं। कही-कही उन्होने पुरानी कल्पनाओ को चमकाने का प्रयास अवश्य किया है, पर वह भी कोई विशेष सराहनीय नही है।[१] उनकी अनेक कल्पनाए भद्दी और अतिशयोक्तिमय भी है।[२]

उनके सौन्दर्यबोध मे भी कोई नवीनता नही। ऐन्द्रियवृत्ति उसमे अत्यधिक है, साथ हो अतिशयोक्ति भी। उनकी दृष्टि कालिदास की भाति व्यापक नही है। वह रह-रह कर कामिनी के शरीर पर ही जाकर टिक जाती है, जिसके सामने उन्हे "नितरा परुषा सरोजमाला, न मृणालानि विचारपेशलानि, यदि कोमलता तवागकानामथ का कथापि पल्लवानाम्—" की प्रतीत होती है।[३] फिर भी वे माघ या श्रीहर्ष की भाति घोर शारीरिकता के पक मे लिपटे कही नजर नही आते। मुगल दरबार मे रहकर उन्होने वस्तुतथ्यो को शिष्टतापूर्ण और वक्रोक्तिमय ढंग से कहना भी सीखा था, इसलिये उनकी शैली मे वक्रता विद्यमान है और भोड़ेपन का अभाव है। पर उनकी सौन्दर्यवृत्ति मे एक उथलापन है, जिसकी सीमा वे तोड़कर गहराई मे नही जा सकते। वे अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि—

> न मनागपि राहुरोधशंका, न कलंकानुगमो न पाण्डुभावः।
> उपचीयत एव कापि शोभा परितो भामिनि ते मुखस्य नित्यम् ॥
>
> —भामिनीविलास, शृंगारविलास,-१

---

३ वही, पृ० १४४

१. द्रष्टव्य-पण्डितराजकाव्यसंग्रह, पृ० ८७ श्लोक १०४।

२. द्रष्टव्य-रसगंगाधर में मध्यमकाव्य का उदाहरण।

३. भामिनीविलास, शृंगार०-२।

उनके इस सतहीपन की आंशिक पूर्ति उनकी भाषाशैली की सफाई, सुघडता तथा अभिव्यक्ति की स्वच्छता और विशदता से आशिक रूप मे हुई है। वास्तव मे कवि के रूप मे उनका एकमात्र वैशिष्ट्य यही है कि उन्होने सस्कृत मे अपनी शैली के द्वारा एक नया निखार उत्पन्न किया है।

पण्डितराज मुगल बादशाहो के दरबार मे रहे थे और वहां के वातावरण का उन पर प्रभाव पड़ा था। मुगल दरबार की चाटुकारिता, मसृणता, बात की सफाई और वक्रता उनमे मिलती है। मुसलमान बादशाहों से सम्पर्क के कारण उन्हे अपनी जाति के लोगो से घृणा मिली, जिसने उन्हे और भी असहिष्णु और उद्धत बना दिया।

उनकी यह असहिष्णुता और औद्धत्य उनकी कविता मे भी जगह-जगह सिर उठता है। पण्डितराज को पढ़ने पर हमे प्रतीति होती है कि वे अपनी असाधारण ऊर्जा को व्यर्थ मे ही खर्च किये दे रहे है।

पडितराज मे जीवन के कुछ क्षणो की अत्यन्त बारीक पकड़ है। मानव जगत् की मधुरतम छवियो को उन्होने जिस अन्तरग अनुभूति के साथ उकेरा है, वह कम ही कवियो मे मिलेगी। पारिवारिक जीवन की यह छवि—

'प्रातस्तराम्प्रणमने विहिते गुरूणामाकर्ण्य वाचममलाम्भव पुत्रिणीति।
नेदीयसि प्रियतमे परमप्रमोदपूर्णादरन्दयितया द्रधिरे दृगन्ताः॥'

या दाम्पत्य जीवन की मधुरता का यह चित्र—

गुरुमध्यगता मया नताङ्गी निहता नीरजकोरकेण मन्दम्।
दरकुण्डलताण्डवन्नतभ्रूलतिकं मामवलोक्य घूर्णिताऽऽसीत्॥

इस प्रकार के चित्रो मे पंडितराज का कवि भाव मे पूर्ण निमग्न होकर प्रकट हाता है। पर इस भूमि पर पंडितराज कम ही टिकपाते हैं। जिस प्रकार अपनी गर्वोक्तियो मे वे अपनी महिमा का तल्लीनता स बखान करते हे, उसी प्रकार अपनी श्रेष्ठ काव्यपक्तियो मे पंडितराज प्रच्छन्न रूप से उपस्थित रह कर पाठक से यह कहते हुए लगते हैं कि-यह उसी पंडितराज को कविता है, 'जिसके अमृतमय रस का स्वयं वाणी की देवी सरस्वती भी अपनी वीणा बजाना छोड कर आस्वादन करती है। यदि तुम इस पर सिर हिला-हिला कर झूम नही उठे तो तुम निरे पशु ही हो।' उनका चोट खाया गर्वोद्धत और

चिड़चिडा मन कविता के मधुर क्षणो में भी शब्दो के अनावश्यक आडम्बर, अनुप्रास और नाद की अतिरिक्त झंकार पैदा करके अपनी उपस्थिति का बोध कराता चलता है। ऐसा ही आहत अहंकार और खीझ भवभूति मे भी थी, पर भवभूति ने कविता के संसार मे उसे पचा कर रूपान्तरित कर दिया, जबकि पंडितराज श्रेष्ठ कवित्व के मूल्य पर संकुचित वैयक्तिकता और अहंकार से चिपके रहे।

पंडितराज जिस युग और परिवेश मे रहे थे, वह संस्कृत कवियो का नही, हिन्दी के रीतिकालीन कवियो-रहीम, बिहारी, देव आदि का युग और परिवेश था। अपने विरोधियो को मुंह-तोड़ जवाब देने की जल्दबाजी मे पंडितराज कई बार इन कवियो की चौकाने वाली पक्तियो को लच्छेदार और तड़तड़ाती हुई संस्कृत मे दुहरा देते हैं। विचार के क्षेत्र मे विरोधीमत का खंडन करने के लिये वे गाली-गलौज के स्तर तक उतर आते हैं, गर्वोक्तियो मे वे बोसवी शती के मुक्केबाज क्लेशियस क्ले की तर्ज में बोलते है और कविता मे भाषा, नाद, उक्तिवैचित्र्य आदि का सहारा लेकर अपने दम्भ और विकार से ग्रस्त मन पर वे उत्कृष्ट कवि की एक झूठी प्रतिमा थोपते हैं, पर यह सत्य है कि कविता के कृत्रिम उपादानो के द्वारा वे स्वयं के अकृत्रिम कवि होने का भ्रम उत्पन्न करने मे सफल रहे हैं।

पंडितराज ने मुगल दरबार के वातावरण को जिया है, पर कवित्व की भूमि पर वे उसे साधारणीकृत रूप देने मे असफल रहे। मुगलकाल के मनचले शोहदो, शाहजादे-शाहजादियो, नौजवानो को ठसक और ठाठ की झलकिया उनमे अच्छी मिल सकती हैं—

> निरुध्य यान्ती तरसा कपोती कूजत्कपोतस्य पुरो ददाने।
> मयि स्मितार्द्रं वदनारविन्दं सा मन्दमन्दं नमयाम्बभूव॥
> भवनं करुणावती विशन्ती गमनाज्ञालवलाभलालसेषु।
> तरुणेषु विलोचनाब्जमालामथ बाला पथि पातयाम्बभूव॥ (भा०वि०)

ऐसे कई स्फुट पद्य पंडितराज में हमे मिल जाते हैं, जिनमे दरबारी वातावरण की छाप है। दरबार की ऐसी छाप उनके समकालीन नीलकण्ठ मे भी है, पर नीलकण्ठ उससे ऊपर भी उठते हैं। दरबार मे रह कर पडितराज को जो संस्कार प्राप्त हुए तथा अपने समय के कठमुल्ला पंडितो, मौलवियो आदि का जो विरोध उन्हे सहना पड़ा, उसके प्रभाव से वे मुक्त न हो सके।

उपसंहार

सामान्य निष्पत्तियां—

संस्कृत के कवियो का व्यक्तित्वपरक अध्ययन ऊपर किया गया है। सहस्राब्दियों के सुदीर्घ अन्तराल में सन्निविष्ट कवियो की इस विशाल परम्परा मे वह क्या है जो इन कवियों को एक दूसरे के सम्बद्ध करता है? परम्परा के प्रति आस्था का भाव सभी कवियों में हम देखते हैं। परम्परा अपने व्यापक सन्दर्भो मे एक जीवन्त वस्तु है, जिसे कवि अपने भीतर की उस चेतना में से उपलब्ध करता है, जो उसे अतीत को नये परिप्रेक्ष्य मे देखने, समझने और व्याख्या करने की दृष्टि देती है। बाल्मीकि, कालिदास जैसे कवि इसी अर्थ में परम्परावादी हैं। उन्होने परम्परा को अपने भीतर से पाया है और उसे जिया भी है। उन्होने अपनी उन्मुक्त कवि-चेतना से परम्परा को जीवन्त रूप में संगृहीत और प्रस्तुत किया है। परम्पराएं और नैतिक मूल्य उन पर थोपे हुए से नह लगते, उनमें कवि के अन्तर्दर्शन से ताजगी आ गयी है।

संस्कृत कवियो की चेतना पौराणिक मिथको, जनश्रुतियो और वीरगाथाओ में अधिक रमती है, क्योकि वे यथार्थ की अपेक्षा आदर्श की ओर अधिक उन्मुख हैं और मिथक, जनश्रुति आदि को किसी भी समकालीन यथार्थ घटना अथवा प्रसंग की अपेक्षा अधिक आसानी से आदर्शपरक बनाया जा सकता है। यही कारण है कि सस्कृत कवियों ने अधिकांशत: रामायण, महाभारत, पुराण आदि से ही कथानक चुने हैं। समसामयिक जीवन के यथार्थ और उसकी छोटी-मोटी विषमताओं से वे कभी विक्षुब्ध नही होते। उनके लिए वर्तमान की घटनाएं क्षणिक और अस्थायी महत्व की हैं, क्योकि वर्तमान अनवरत प्रवहमान सामंजस्यपूर्ण कालधारा का महज एक खंड-मात्र है। वे समय की अनन्तता मे जीते हैं, इसीलिये वे अपने समकालीन मनुष्य समाज के प्रति बेखबर जैसे लगते हैं।

कवि और सांस्कृतिक परिवेश

सस्कृति के उपरिलिखित इस वैशिष्ट्य के कारण, कर्मसिद्धान्त, मोक्ष या निर्वाण ब्रह्म या ईश्वर, आत्मा या जीव, पुनर्जन्म या विभिन्न योनियां, आदि की करिकल्पना विभिन्न सम्प्रदायो मे विभिन्न युगो यत्किचित् परिवर्तित रूप मे प्रचलित रही। संस्कृत के कवियो को इस प्रकार की धारणाएं और परिकल्पनाएं विरासत मे मिली थी और उन्होने उनको सहज भाव से स्वीकार कर लिया। कर्मसिद्धान्त को बुर्जुआवादी या

पाखण्डी पुरोहितो का जनता को ठगने का उपाय कहने वाला या ईश्वर को नकारने वाला कवि संस्कृत में शायद ही कोई हुआ हो। जीवन को सृष्टि के सामंजस्यपूर्ण विकास की एक शृंखला के रूप मे देखने की, उसकी विकृतियो और अभावों को पुनर्जन्म के परिणाम समझ कर सन्तुष्ट बने रहने की प्रवृत्ति भारतीय परम्पराओं के से इन कवियो के भीतर जन्मी थी। आधुनिक युग की मान्यताओ के चश्मे से इसे नहीं समझा जा सकता। कीथ ने कालिदास का मूल्यांकन करते हुए महाकवि पर यह जो आरोप लगाया है कि वे जीवन और नियति की गुरुतर समस्याओ की और दृष्टि डालने में असमर्थ थे, कि ब्राह्मण सस्कृति मे सुदृढ आस्था होने के कारण उनका काव्य-जगत् संकुचित है और अपने इस विश्वास के कारण मनुष्य नियति से परिचालित होता है, जो कि उसके अपने कार्यो से ही निर्मित होती है, इस जगत की विभीषिका और त्रासदी को समझने में तथा मनुष्य की नियति के कारण उसके साथ सहानुभूति रखने मे तथा जगत मे फैले हुए अन्याय को समझने मे असमर्थ थे, अपने संकुचित घेरे से बाहर निकलना उसके लिये सम्भव नही था[1]—योरोपीय समालोचको की दृष्टि से कालिदास पर ही नही, संस्कृत के प्राय सभी: सभी कवियो के लागू होता है। पर यह इन कवियो को समझने की एकागी दृष्टि है। संस्कृत का जीवन कीविभीषिका, दुख और संत्रास को अस्वीकार नही करता, वह उसके बीच जीता है, उसे भोगता है, पर आज के कवि तरह कुंठाग्रस्त नही होता, उस पर आक्रोश प्रकट नही करता वह जीवन की सारी विषमता को सहज भाव से निर्द्वन्द्व होकर स्वीकार कर लेता है। कर्मसिद्धान्त और परलोक मे विश्वास ने उसे जीवन से उदासीन सा बना दिया है। पर यह उदासीनता मानवीय मूल्यों का निषेध नही करती। संस्कृत के कवि में जीवन के मृदुल सवेदनामय पक्षों की सहज स्वीकृति है, यह बात दूसरी है कि हर युग के साथ राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितिया बदलने पर यह प्रवृत्ति कभी कम और कभी अधिक उभर कर सामने आयी हो।

इस देश की संस्कृति मे समन्वय करने की, विभिन्न धार्मिक व दार्शनिक सम्प्रदायो मे अनुस्यूत मौलिक एकता को सदैव दृष्टिबिन्दु मे बनाये रखने की सामर्थ्य सदैव बनी रही। बौद्ध और जैन धर्मों के उदय से ईसा पूर्व की कुछ शताब्दियो में धार्मिक और, सामाजिक क्षेत्रो मे काफी उथपुथल हुई थी, पर आगे चलकर हिन्दू धर्म की व्यापकता मे वे घुलमिल से गये। बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् मध्ययुग तक हिन्दूधर्म मे बदलती हुई परिस्थियो के अनुकूल परिष्कार और उसे जनता के अधिक

1, Sanskrit Drama; A.B. Kaith, P. 190,

निकट लाने की प्रक्रिया चलती रही, इसलिये भास, कालिदास, बाण, माघ, राजशेखर आदि कवियो में ब्राह्मण संस्कृति के बदले हुए तेवर का प्रभाव झलकता है। आगे चलकर बौद्ध धर्म अपनी स्वयं की विकृतियों के कारण कालग्रस्त हो गया और हिन्दूधर्म ने अपने उदार समन्वय की भावना से बुद्ध को विष्णु के अवतारो मे से एक स्थान दिया। हिन्दू कवि भी बुद्ध के उपदेशो से प्रभावित हुए। काश्मीर के शिव स्वामी ने बुद्ध को नायक बनाकर कफ्फिणाभ्युदय महाकाव्य की रचना की तथा क्षेमेन्द्र ने बोधिसत्वावदानकल्पलता जैसे महाकाव्य में बुद्ध का गौरवगान किया और अपने दशावतारचरित मे उनवा मे उनका विष्णु के रूप ये वर्णन किया।

वाल्मीकि के युग तक कवि जीवन की सहजधारा के बीच खुद-ब-खुद पैदा होता था, उसकी कविता अन्तःप्रेरणा से सहजरूप मे फूटती थी। इसके बाद देश के सांस्कृतिक वातावरण ने कुछ और पलटा खाया और कवि स्वयं होने के साथा-साथ अपने को बनाने भी लगा। ग्रामों की स्थिति हम नही जानते, क्योकि ग्रामो से संस्कृत का कवि प्रायः दूर ही रहा है, यदि ग्रामीण अंचल पर संस्कृत मे कुछ साहित्य लिखा भी गया होगा तो वह सुरक्षित नही रह पाया है क्योकि नगरो में राजसंरक्षण मे लिखे जाने वाले साहित्य की सुरक्षा का प्रबन्ध अधिक था, पर नगरो मे सम्पन्न रईसो और सामन्तो तथा राजाओं के बीच रहकर कवि भी उनसे प्रभावित होने लगा। सामन्तो और नागरिको की यह संस्कृति जीवन को सहज अलकृत रूप मे नही देखना चाहती थी, वह उसे ऊपरी सजावट और टीमटाम से मडित रखना चाहती थी। यही से कवियो मे शिष्टजन-सम्मत वाणी-वक्रोक्ति-बात को घुमा फिरा कर कहने की प्रवृत्ति विकसित हुई, जो आगे कवियो में सीमा लांघ गयी। भास, कालिदास और अश्वघोष—ये तीनों कवि नागरिक वातावरण के बीच, सम्पन्नता और सामन्तीय गरिमा के वातावरण में रहे थे, पर इनके व्यक्तित्व मे आर्ष संस्कृति के संस्कार भी अन्तःस्तिमित हे, वे अभी तिरोहित नही हुए। संस्कृत की सतत विकसनशील धाराओ का, दर्शन के विविध सम्प्रदायो का, जीवन की द्वन्दात्मक प्रवृत्तियो का जितना सुन्दर और सार्थक समन्वय एक कवि की दृष्टि से भारतीय साहित्य मे कालिदास ने किया है, उतना और कोई कवि नही कर सका। परस्पर विरोधी सम्प्रदायो मे तालमेल बैठाने की, समंजन करने की भारतीय प्रवृत्ति का कालिदास की कवि चेतना मे जितना सार्थक समुन्मेष हुआ है, उतना और कही नही। कालिदास के कवि का व्यक्तित्व सरलता और सन्तो की बानगी के एक ध्रुव से वक्रता और नागरिक आडम्बर के दूसरे छोर की ओर बढता हुआ बीच की सामंजस्यपूर्ण स्थिति मे आ गया है, जो जीवन के सारे यथार्थ और उससे अछूते आदर्शों, सरलता और वक्रता, सादगी और अलकरण इन सबके बीच तालमेल बैठाती

है। बाद के कवि दूसरे ध्रुव की ओर बढ़ते गये हैं। कवि की प्रतिमा इस देश में बहुत जल्दी तो नहीं, पर युग-परिवर्तन के साथ धीरे धीरे बदलती रही है और वह ग्राम की सादगी या अरण्य की अकृत्रिमता के बीच रहने वाले सन्त कवि से सम्पन्न नागरिक और सामंतवादी कवि में संक्रान्त हो गयी हैं, यद्यपि हर युग में ही इसके अपवाद होते रहे हैं, क्योंकि कवि-प्रतिभा जब किसी का सहारा न लेकर खुद ब खुद विकसित होती है, तो वह परम्पराओ ओर युग प्रवृत्तियो से अन्धाधुन्ध समझौता नही करती। तब कवि पुरानी परम्पराओ को तोडकर नयी स्वस्थ परम्पराओ की स्थापना कर सकता है, नये मानदण्डो और प्रतिमानो को जन्म दे सकता है। जब विवाह संस्था व्यावहारिक जीवन मे विकृतिग्रस्त हो गयी थी, दाम्पत्य महज परम्परा पालन के लिये विवशता मे ही निभाया जाता था, उस युग मे दाम्पत्य और प्रणय का आदर्श उपस्थित करने वाले भवभूति और राजनीतिक कलह, स्वार्थ, सामन्तीय विलास तथा कविता मे पाण्डित्य और वक्रभणिति के युग मे सरल शैली मे सारे युग का कच्चा चिठ्ठा प्रस्तुत करने वाले कल्हण ऐसे ही कवि हुए।

भास से लेकर पण्डितराज तक संस्कृत के कवियो मे दरबारी संस्कृति का प्रभाव बढता ही गया है। इन कवियों मे भवभूति, भर्तृहरि और कल्हण जैसे दो-चार कवि ही दरबारीपन से अछूते हैं। नागरिक संस्कृति मे पलने तथा सामन्ती विलास के वातावरण मे रसिको और विद्वानो की गोष्ठियो मे रहने वाले संस्कृत कवियों के लिये पण्डित और विदग्ध बनना पहली आवश्यकता बन गयी। कविता और पाडित्य नगर के ऐसे सास्कृतिक वातावरण मे एक दूसरे के निकट आते गये और कवि के लिये शास्त्रीय ज्ञान का अधिक से अधिक अर्जन करने तथा कविता मे उसके प्रदर्शन की प्रवृत्ति बढती गयी। तब हर-विजय जैसे ५० सर्गों के भारी भरकम महाकाव्य बिना अन्तः स्फूर्ति के, भाषा, वक्रोक्ति अलंकार और शास्त्रज्ञान का प्रदर्शन करने के लिये ही लिखे जाने लगे। दो कौड़ी के कवि इस वातावरण मे पाडित्यपूर्ण छन्द जोड़कर पुजते थे। जिनके पास थोड़ी-बहुत प्रतिभा थी, वे भी इस कलुषित वातावरण के प्रभाव से उसका समुचित उपयोग न कर सके।

राजा और कवि

रामायण काल से राजाओं का संस्कृत साहित्य के विकास मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपों मे बड़ा योगदान रहा है। रामायण और महाभारत के समय में राजाओ के आश्रय मे चारण काव्य या गाथानाराशंसियो की रचना होती रही। यहाँ एक दो नही बल्कि पचासो ऐसे राजा हुए, जो भाषा साधिकार काव्य रचना करते थे, भले ही कालिदास की टक्कर का कोई कवि उनमे नही हुआ हो, पर द्वितीय श्रेणी के कवि अनेक राजा

हुए। यदि राजा में साहित्यिक अभिरुचि और कलाकारों और विद्वानो को आश्रय देने की की उदारता होती थी; तो कवियो मे उसकी चाटुकारिता करने की प्रवृत्ति स्वतः उत्पन्न हो जाया करती थी। मध्ययुग मे छोटे-छोटे कवियो ने अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति मे असंख्य ऐसे पद्य लिखे, जो अपने अस्थायी महत्व के कारण लुप्तप्राय हो गये, पर इनमें बहुत से काव्यशास्त्र के ग्रन्थो मे उद्धृत हैं। यह बात ध्यान मे रखने की है कि संस्कृत के जिन कवियो में वास्तविक प्रतिभा थी, उन्होने उसका दुरुपयोग किसी भी राजा की प्रशस्ति करने मे नही किया। ऊपर हमने जिन कवियो पर विस्तृत चर्चा की है; उयमें से बाण, विल्हण, राजशेखर, नैषधकार, जिन्होने नवसाहसांकचरितचम्पूः की रचना की थी तथा पंडितराज जगन्नाथ को छोड कर किसी मे इस प्रकार की प्रवृत्ति नही है। वाण के हर्षचरित को महज चाटुकारिता के लिये लिखी गयी कृति नही माना जा सकता। बाणने अपने नायक मे अपनी आकांक्षाओ, आदर्शों और अन्तस्तल की संवेदनाओं को रूपायित किया है, और वह उनके समय का ऐतिहासिक व्यक्तित्व कम और उनकी स्वयं कृति अधिक हो गया है। थोडी बहुत कमोवेशी के साथ वह प्रवृत्ति उन सब कवियों मे मिलती है, जिन्होने अपने समय के किसी जीते जागते व्यक्ति पर लेखनी उठाई। सस्कृत का कवि अपेक्षाकृत अधिक भावप्रवण और अतिशयोक्ति करने वाला रहा है। उसने जहा-जहा ऊर्जस्विता और गुणग्राहिता देखी है, वहा-वहा उसका शिर झुका है। राजशेखर महेन्द्रपाल पर, विल्हण त्रिभुवनमल्लदेव पर और पंडितराज आसफ खां या जहाँगीर पर इसीलिये अनुरक्त हुए थे कि उन्हे इनमे कुछ शाश्वत आदर्शों की प्रतिच्छवि दीख पडी। चाटु-कारिताकरने वाले कवि भी संस्कृत मे असंख्य हुए, पर विशिष्ट से अधिक सामान्य को महत्व देने वाली इस देश की परम्परा मे उन्हे स्थान नहीं मिल सका।

कवि और नागरक

कालिदास से ले कर इन सभी कवियो मे रसिक नागरक की रुचि उत्तरोत्तर हावी होती गयी है। सामन्तीय संस्कृति की समस्त गरिमा, वैभव और विलास को अपने मे समेटे हुए यह नागरक कई शताब्दियों तक कला और साहित्य को प्रभावित करता रहा, संस्कृत के काव्यचिंतन ने भी 'सहृदय' के नाम से उसे कविता का सर्वोच्च निकष प्रमाणित किया, और नगरो मे रहने वाले कवियो ने भी उसकी रुचि को ध्यान मे रख कर काव्य रचना की, क्योंकि काव्य का मूल्यांकन साहित्यिक गोष्ठियो मे पंडित या विदग्ध के रूप मे इसी नागरक के द्वारा होता था। पंडितो की इन गोष्ठियों में काव्य को खण्ड-खण्ड में बांट कर उसके एक एक अंश मे विद्यमान रस या वक्रोक्ति को लेकर उसकी समाशंसा समीक्षा की जाती थी, जिससे कवि को उसकी समग्रता में समझने की दृष्टि विकसित नहो सकी। 'उदिते तु नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च

भारविः' जैसी उक्तियो का प्रचलन, समकालीन समाज द्वारा भवभूति की उपेक्षा या नीलकण्ठ दीक्षित की तुलना में पण्डितों पर पण्डितराज का दबदबा—इनको हम इसी सन्दर्भ में समझ सकते हैं।

कवि और समाज

व्यास और वाल्मीकि-इन दो कवियो मे हम भारतीय समाज की सम्पूर्ण छवि देखते हैं। कालिदास मे भी समाज की प्रतिच्छवि है, पर उसके विस्तार और अन्तःस्पन्दन को महाकवि मूर्त न कर सके। बाद के कवियों का समाज और भी संकुचित होता गया है, पर अपने सामाजिक परिवेश से अछूते वे कभी नही रहे है। भास और कालिदास मे ब्राह्मण-संस्कृति का बदला हुआ तेवर और बौद्ध संस्कृति से उसका द्वंद्व झलकता है। अश्वघोष में यह द्वंद्व और भी दूसरे रूप में प्रकट हुआ है। एक ओर तो अश्वघोष वैदिक युग से चली आती सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संस्थानो में रहे थे, दूसरी ओर बौद्ध आन्दोलन ने उन्हे झकझोरा था। 'अश्वघोष के काव्यो मे दो पक्ष बहुत स्पष्ट भाव से उभरे हैं। संसार में जो कुछ आकर्षक और मोहक है उसका वे सोल्लास वर्णन करते हैं, किन्तु फिर भी वे उससे अभिभूत नही होते, उसे क्षण-भगुर और अस्थिर समझते हैं। दोनो के संघर्ष ने उनकी भाषा में तीव्र प्रवाह ला दिया है।[1]' आगे चल कर भी भारवि में उद्दीप्त क्षात्र तेज का आग्रह, क्षेमेंद्र और दामोदर गुप्त की व्यंग्य चेतना, कल्हण का वैराग्य और निर्लिप्तता—इन सबको हम सामाजिक दबाव, विघटन और उत्थान पतन के सन्दर्भ में ही समझ सकते हैं।[१]

---

१. आलोचना १।४ में प्रकाशित आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के लेख से।

पुस्तक-सूची

संस्कृत काव्य

१—अवदानकल्पलता: क्षेमेन्द्र, (दो भागो मे), पी० एल० वैद्य द्वरा सम्पादित मिथिला विद्यापीठ, १९५९

२—अवन्तिसुन्दरीकथा;, दण्डित त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सारीज -१२७।

३—उत्तररामचरित: भवभूति, सं० जी० के० खट्ट, (अग्रेजी संस्करण) सूरत –१९६५।

४—उत्तररामचरित; सं० रामलला यदुवालसिंह, इलाहाबाद १९६१।

५—उत्तररामचरित: तारणीश झा, इलाहाबाद।

६—ऋग्वेद: खण्ड १-४ वैदिक संशोधन मंडलल, पूना

७—कालिदास ग्रन्थावली, सं० सीताराम चतुर्वेदी, अखिल भारतीय विक्रम परिषद् काशी

८—कर्पूरमजरी: राजशेखर, सं० एन० जी० सुरु,बम्बई १९६०।

९—कर्णसुन्दरी, काव्यमाला–७, १८८८।

१०—कादम्बरी: सं० पी० एल० वैद्य, पूना।

११—काव्यमाला, सारीज २, ४ (चण्डीशतक), ५ (चतुर्बर्गसंग्रह), ६ (दर्पलन), १० (समयमातृ का)।

१२—कितार्जनीयम्: भारवि।

१३—गंगावतरण: नीलकण्ठ दीक्षित, काव्यमाला-७६, १९१६।

१४—गंगालहरी: पण्डितराज जगन्नाथ, सं० वासुदेव शर्मा, निर्णय सागर, १९३०।

१५—चौरपंचाशिका: बिल्हण, ग्रन्थरत्नमाला, गोपाल नारायण जनता, बम्बई।

१६—दशावतारचरित: क्षेमेन्द्र, काव्यमाला गुच्छक-२६, १९३१।

१७—दशकुमारचरित: दंडिन्, सं० एम० आर० वाले, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

१८—देशापदेश और नर्ममाला: क्षेमेन्द्र स० मधुसूदन कौल शास्त्री; काश्मीर शासन १९६३।

१९—नलचरितनाटकम्: नीलकण्ठ दीक्षित, चौखम्भा।

२०—नागानंदम्—हर्षदेव, सं० बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा। १९५६

२१—नीलकण्ठदीक्षितस्यकाव्यानि, श्रीरंगम्, १९११।

२२—नीलकण्ठविजयचम्पू:, सं० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्भा, १९६४।

२३—नैषधीयचरित, चौखम्भा, १९५४।

२४—पण्डितराजकाव्यसंग्रह: सं० आर्येन्दु शर्मा, संस्कृतपरिषद्, उस्मानिया वि० वि०, हैदराबाद।

२५—प्रियदर्शिका: हर्षदेव, सं० एन० जी० सूरु, १९२८।

२६—बालरामायणम्: जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता ।
२७—बालभारतम्—काव्यमाला ।
२८—बिल्हणकाव्यम्—काव्यमाला
२९—बुद्धचरित, अश्वघोष, सं० ई० एच० जास्टन, पंजाब विश्वविद्यालय ।
३०—बुद्धचरितः सं० सूर्यनारायण चौधरी, १९४२।
३१—भासनाटकचक्र—स० सी० आर० देवधर, ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना ।
३२—महाभारत—(मूल १७ खण्ड), पूना ।
३३—महावीरचरितः भवभूति, स० टोडरमल, शोधक—मेक्डानल, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी
३४—महावीरचरितः सं रामचन्द्र मिश्र, चौखम्भा, १९५५
३५—मालतीमाधव—भवभूति, सं० शेषराज शर्मा, चौखम्भा । १९५४
३६—रत्नावलीनाटिकाः हर्षदेव, सं० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्भा । १९५६
३७—राजतरगिणी. सं० रामतेज शास्त्री, पण्डित पुस्तकालय काशी ।
३८—विद्धशालभंजिकाः राजशेखर, जीवानन्द विद्यासागर, सरस्वती प्रेस कलकत्ता ।
३९—विक्रमांकदेवचरितः (३ भाग) सस्कृतसाहित्यरिसर्चकमेटी, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, स० विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज ।
४०—शतकत्रयादिसुभाषितसंग्रह स० दामोधरमंदेव कोसाम्बी, भारतीयविद्याभवन बम्बई ।
४१—शिवलीलार्णवः नीलकन्ठ दीक्षित श्रीरंगम् ।
४२—शिशुपालवधः माघ ।
४३—सौन्दरनन्दः अश्वघोष, स० हरप्रसादशास्त्री, रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल कलकत्ता, १९३९ ।
४४—क्षेमेन्दलघुकाव्यसंग्रह आर्येन्दुशर्शा, संस्कृतपरिषद्, उस्मानिया वि० वि०
45—Oleuvres poetiuos de Nılkantha Diksıla fierre sylvan Fillıogat Instıtule fan ceus Iondologıe, Ponoıchey 1967

संस्कृत काव्यशास्त्र

१—अभिनवभारती : अभिनवगुप्त, गायकवाड ओ० सीरीज, भाग १-४ ।
२—औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र, काव्यमाला—गुच्छक १ ।
३—कविकण्ठाभरण : क्षेमेन्द्र, काव्यमाला, गुच्छक—४ ।
४—काव्यमीमासा : राजशेखर, बिहारराष्ट्रभाषापरिषद् ।
५—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति : वामन ।

६—काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, काव्यमाला, ६० ।
७—काव्यादर्श : दण्डिन् ।
८—काव्यालंकार : भामह ।
९—ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन ।
१०–हिन्दी रसगंगाधर : पुरुषोत्तम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
११–क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि : औचित्यविचारचर्चा का प्रमाणिक संस्करण तथा स्पष्टीकरण : सं० रामपाल, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली ।

आलोचना ग्रन्थ

१—संस्कृतकविजीवितम्–सूर्यनारायण शास्त्री, १९६७, सस्कृतपरिषद्, हैदराबाद ।
२—आचार्य क्षेमेन्द्र : डा० मनोहरलाल गौड, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ ।
३—चम्पूकाव्य का आलोचनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन । छविनाथ त्रिपाठी, चौखम्भा, १९५५ ।
४—कालिदास के सुभाषित : भगवतशरण उपाध्याय, भारतीय ज्ञानपीठ, १९५९ ।
५—नैषधपरिशीलन : चण्डिकाप्रसाद शुक्ला, हिन्दुस्तान स्केडेमी, १९५० ।
६—भारविकाव्य मे अर्थान्तरन्यास, उमेशप्रसाद रस्तोगी, चौखम्भा, १९६५ ।
७—भास की भाषा सम्बन्धी तथा नाटकीय विशेषताए डा० जगदीशचन्द्र, आर्यबुक डिपो बरोलबाग, नई दिल्ली ।
८—महाकवि कालिदास : रमाशकर तिवारी, चौखम्भा, १९६१ ।
९—महाजवि माघ : मनमोहनलाल शर्मा ।
१०–महाकवि भवभूति और उनकी नाट्यकला . अयोध्या प्रसाद सिह, मोतीलाल बनारसी दास, १९७०
११–महाकवि भवभूति : गंगाधर राय चौखम्भा १९६५
१२–माघ की महता : शेषमणि त्रिपाठी, रामनारायण बेनी प्रसाद, इलाहाबाद ।
१३–वेदरहस्व : अरविन्द (तीनभाग) अनु०–अभयदेव, पाण्डिचेरी ।
१४–वैदिक धर्म एव दर्शन - ए० बी० कीथ, अनुवादक-सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसी-दास ।
१५–संस्कृत सुकवि समीक्षा - बल्देव उपाध्याय, चौखम्भा ।
१६–संस्कृत गीतिकाव्य का विकास : परमानन्द शास्त्री, मेरठ ।
१७–संस्कृत कवि दर्शन–भोलाशंकर व्यास, चौखम्भा ।

१८–संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (१९७१) डा० रामजी उपाध्याय
१९–वही-द्वितीय भाग १९७१
२०–मध्यकालीन संस्कृत नाटक-वही १९७४
21—Aśveghoṣa B. C. Law, 1949

22—A new Hisbory of Sanskrit literature. Krishnachaitahya Asia publishing House 1962

23—A Critical strudy of Dandin and His work–D.K. Gupta, Navrang Book sellers and publishers, Indrapuri New Delhi.

24—Bānabhatta–Nita sharma, Munshiram manoherlal, Delhi–, 1967.

25—Bhasa : V. S. Sukthankar.

26—Contribution of Kerala to Sanskrit Literature : K. Kunjunniraja, Madas University, 1958

27—Dāṇḍin anh His Daśakumaracarita ; S.V. Dikshit, Belgaum, 1959.

28—History of classical Sanskrt Literature : S. N. Dasgupta and S. K. De, calcutta; 1948.

29—History of Sanskrit Literature : A. B. Keith.

30—Kalhana : the poet Historian of Kashmir, Dr, Somanatha India Institute of Cultute, Banlore—4.

31—Kālidāsa : Aurobindo, Aurobindo Ashrama, Pondichery.

32—An Interprative study of Kālidāsa, D. Sharma, Calcutta, 1968.

33—Bhāsa : A. S P. Ayyar, Madras, 1957.

34—An Introduction to the study of Mrcchakatika : G. V. Vevasthali, k Keshava Bhikaji Dhavale, Bombay–4, 1948

35—Aspects of Sanskrit Literuture ; S. K. De

36—Jagannatha Pandita V R Ramasvami Sastri, University, Annamlai 1942.

37—Kalidass–A Study : G C. Jhala, Book Depot, Bomby–7

38—Ksemendra Studies, Dr. Suryakata, Oriental Book Agency poona, 1954.

नामानुक्रमणी

अध्यात्मरामायण १०
अथर्ववेद ४
अभिनयदर्पण २६
अभिनवगुप्त २३२
अभिनवभारती ६४
अभिषेक ३४, ३६
अभिज्ञानशाकुन्तल ६०,६१
६८, ७३,७६
अप्पय दीक्षित २७८
अर्थशास्त्र २६,५४
अवन्तिसुन्दरी २१०,२१३
अवन्तिसुन्दरीकथा १४६
अविमारक २७,३६
अश्वघोष ४६,१६
अष्टाध्यायी २६
आरण्यक १०
उपनिषद् ४,८
उपमितिभवप्रपचकथा १५८
ऋग्वेद ४,६
ऋतुसंहार ७४
कनिष्क ४६,४७
कल्हण २६०,७१
कविकर्णपूर २७७
कपिपुत्र ६३
कर्णभार ३४
कामसूत्र ६५
कालिदास ४२, ४३, ५०, ५१
५७ (अश्वघोष से तुल०)
५६, ८८, १४२
किरातर्जुनीय १४२
कुमारसम्भव ६०, ६६, ७१, ७४
कृत्तिवासीयरामायण १०
कादम्बरी ११०,२८
क्षेमेन्द्र २३४,३८
गोविन्द दीक्षित २७७
चित्रकूट १०
च्यवन ६
जयसिंह १०१
जीवगोस्वामी २७७
तत्त्वसारसंग्रह ४१
दण्डी १४२, १६८, १७०,८२
दरिद्रचारुदत्त ३१ ३८, ४२
दशकुमारचरित ६३, १७६-८२
दिव्यावदान ५४
दूतघटोत्कच ३१
नारदसंगीत २६
नाट्यशास्त्र २६, ६४
नीलकण्ठ दीक्षित २७६
पचरात्र ३५, ३६
पंडितराज जगन्नाथ २६७-३०८
प्रतिज्ञायौगंधरायण ३१, ३८, ३६
प्रतिमा (नाटक) २७, ३६, ४०, ४३

प्रभावकचरित १३८
बाण १०५, १८८
बालचरित २७
बिल्हण २४८, ६०
बुद्धचरित ४६, ५६
भर्तृहरि २६२,
भट्टनारायण ६६
भट्टाजी दीक्षित २७७
भवभूति ६६, १०५, १८३
भागवत ६३, २१०
भारवि १४२, ५७
भास २७,४५
भोज १००
मत्स्यकरणगायोग २७
महाभारत १,४,६,२८,५४
महाभाष्य ६४
माघ १०५,१४८,१५७,६७
मालविकाग्निमित्र ६०,६४,७३
मालतीमाधव ६३
मुद्राराक्षस १६८ १७६
मुरारि ६६
मेघदूत ७३,७५
रघुवंश ६०,६१,७३,७५
रामभद्राम्बा २७८
राजशेखर ६६,२१०
राम १२,१६
रामायण १,२८,५४
रूपगास्वामी २७६
यजुर्वेद २८
यशोवर्मन् १०१
वत्सराज १०२
वाजसनेयसंहिता २८
वाल्मीकि १,२६,४५,५७
(अश्वघोष से तुल.)
५६ (कालिदास से तुल.) १४२
विक्रमादित्य (चालुक्य) १०१
विक्रमोर्वशीय ७,६४,७३,७५
विशाखदत्त ६६,१६८,७६
व्यास ४५
शंकराचार्य ६२
शतपथब्राह्मण ५४
शिशुपालवध १५७
श्रीनिवास दीक्षित २७८
श्रीमालपुराण १५६
श्वेताश्वर उप० ५५
समुद्रगुप्त ६४
सोमेश्वर तृतीय १०१
सायण २७७
सौन्दरनंदन ४६, ५०, ५७, ५६
सौमिल्ल ६३
स्वप्नवासवदत्त २८-४१
हर्ष ६६,१२६,१०१
हर्षचरित १०६, १८८